पुजारी

सामाजिक क्रांति पर एक मौलिक उपन्यास

नानकसिंह

पुजारी

एक छोटी-सी अथवा एक बड़ी-सी घटना

अब से प्रायः आध शताब्दी पहले की बात है जब वह घटना घटी, जो छोटी होते हुए भी मेरे लिए इतनी बड़ी सिद्ध हुई कि समय पाकर वह मेरे समूचे जीवन पर छा गई।

गत छः-सात महीने से तो उस घटना की याद नये सिरे से मेरे मानस पर कुछ अधिक ही स्पष्ट रूप में उभरने लगी है, जैसे कल-परसों की ही बात हो। सच तो यह है कि उसी घटना की याद विकसित होते-होते अन्ततः एक बड़ी-सी पुस्तक के रूप मे बदल गई। यही जिसे आज पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर रहा हूं।

उस घटना का बखान करने से पहले, मुझे उसकी पृष्ठभूमि के बारे में कुछ बताना आवश्यक जान पड़ता है।

पेशावर (सरहद्दी सूबा) में मैं बाप-दादा का चलाया हुआ धंधा 'दुकानदारी' करता था। वहीं पर मैंने बाल्यकाल व्यतीत किया और वहीं पर युवावस्था में पदार्पण किया। बीस-बाईस वर्ष का था, जब मैं 'हिन्दू' से 'सिख' बना; जिसका कारण था एक सिख महापुरुष का मुकम्मल गहरा प्रभाव ! इसके अतिरिक्त एक और कारण भी था---मेरे अन्तर में प्रशंसा की भूख। उन दिनों मैं तुकबन्दी करने में मुंह मारने लगा था, और तुकबन्दी के साथ संगीत की ओर खासा झुकाव था। यह उस समय की बात है, जब कला जितनी महंगी थी, प्रसिद्धि उतनी ही सस्ती। फलतः इतने थोड़े-से गुण को लेकर, मैं पांचों सवारों में गिना जाने लगा। यों तो सिख बनने से पहले ही मेरा नाम होने लगा था, पर बाद में जब मुझे और भी आदर मिला तो इसके साथ मेरी वह भूख भी उत्तरोत्तर बढ़ने लगी।

जिन दिनों की बात कर रहा हूं, सूबा सरहद्दी में साम्प्रदायिकता का खूब बोलबाला था---प्रायः वैसी ही हालत थी जैसी आज पंजाब में है। आज ही की तरह सिखों और हिन्दुओं में साम्प्रदायिकता की रस्साकशी होने लगी थी।

और इस पृष्ठभूमि की भी एक पृष्ठभूमि थी, जो बहुत पुरानी होने पर भी मुझे भूली नहीं है, चाहे तब मैं बचपन में था। जितना कुछ देखा नहीं था उसके

बारे में सुन रखा था। अर्थात् वह जमाना जब हिन्दू और सिख, दोनों सम्प्रदाय एक ही तने की दो शाखाएं मानी जाती थीं। दो 'कौमों की थ्योरी' ने अभी जन्म नहीं लिया था। प्रत्येक हिन्दू हिन्दू के अतिरिक्त अपने को सिख भी मानता था—प्रत्येक सिख सिख के अतिरिक्त अपने को हिन्दू भी मानता था। गुरुद्वारों और देव-मन्दिरों में दोनों सम्प्रदायों के लोग मिलकर पूजा-पाठ किया करते थे। धार्मिक त्योहारों के सम्बन्ध में इस बात का निर्णय नहीं किया जा सकता था कि अमुक सिखों का है या अमुक हिन्दुओं का। हिन्दू घरों में ग्रन्थ साहिब का पाठ सुनाई देता था, और सिख घरों में रामायण की कथा हुआ करती थी।

इस प्रकार का ऐक्य न केवल सूबा सरहदी में ही, बल्कि पंजाब, सिन्ध, बिलोचिस्तान और काबुल-कन्धार तक में व्यापक था। पर उससे कुछ ही वर्षों बाद युगों जितना परिवर्तन दिखाई देने लगा, जो बढ़ते-बढ़ते उस ठिकाने जा पहुंचा जिसका मैं ऊपर वर्णन कर चुका हूं। जिन सिखों-हिन्दुओं का परस्पर से चोली-दामन का साथ चला आ रहा था, वही साथ पत्थर और घड़े का सा बन गया—प्रायः आज ही जैसा।

जहां तक मेरी जानकारी का सम्बन्ध है, सिखों और हिन्दुओं, दोनों की मूर्खता के फलस्वरूप ही ऐसा हुआ। यदि और गहराई से देखा जाए तो यह एक तीसरी श्रेणी का कृपा-प्रसाद था—अंग्रेज़ी हुकूमत का, जिसने आरम्भ से ही 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति को अपना रखा था। उन दिनों उसकी यही नीति फलीभूत हो रही थी।

वास्तविकता यह है कि जब से देश में 'आर्यसमाज' और 'सिंह-सभा' आन्दोलन का उत्थान आरम्भ हुआ, तभी से दोनों ओर इस मनमुटाव की नींव पड़ी। यह मानने से तो कोई भी इन्कार नहीं कर सकता कि उपर्युक्त दोनों आन्दोलनों के अन्तर्गत सामाजिक तौर से देश में नई जागृति पैदा हुई। पर इसके साथ ही कुछ ऐसी भूलें भी हुई जिनके परिणामस्वरूप सिख और हिन्दू 'एक' से बदलकर 'दो' हो गए।

जहां तक मैं समझ पाया हूं, इस संघर्ष का सूत्रपात तब से हुआ जब आर्यसमाज के संचालक स्वामी दयानन्द जी सरस्वती-रचित ग्रन्थ 'सत्यार्थ-प्रकाश' में गुरुनानक जी के बारे में कुछ कड़ी आलोचना पाई गई। इससे सिख-सम्प्रदाय में बेचैनी पैदा होने लगी। और वही बेचैनी अन्त में हिन्दू-सिख बंटवारे का

कारण बनी।

यदि दोनों ओर के अगुआ लोग दूरदर्शिता से काम लेते तो मामला सुलझने में कुछ भी देर न लगती। बातचीत द्वारा बड़े-बड़े देशों के झगड़े सुलझ जाते हैं। यह तो बात ही साधारण-सी थी। मेरे कहने का भाव है कि यदि सिख लोग सद्भावना द्वारा आर्यसमाज के नेताओं को अपने उद्‌गारों से सूचित करते तो वे अवश्य ही दूसरे पक्ष की ओर से उनका सम्मान करते हुए उनके प्रस्ताव को मानकर सत्यार्थ-प्रकाश में की वे आपत्तिजनक पंक्तियां बदल देते। पर हुल्लड़-बाजी ने काम बिगाड़ दिया। ऊपर से अंग्रेज प्रभुओं ने आग को हवा दी, जिसका परिणाम हुआ कि दोनों ओर से पहले कीचड़ उछाला जाने लगा, फिर गंदगी। प्रेस और स्टेज द्वारा दोनों सम्प्रदायों के महापुरुषों की शान में बुरे से बुरे शब्दों का प्रयोग होने लगा। इधर हमारे बादशाह सलामत (अंग्रेज) सब कुछ देखते-बूझते हुए भी आंखें मूंदे बैठे थे। उनकी ताजीरात की १४४ धारा, जो तनिक राजसी गंध आने पर गतिमान हो उठती थी, इस बदतमीजी के तूफान को रोकने के लिए टस से मस नहीं हो रही थी।

इस खिचाव में से गुजरते हुए समय ने आगे चलकर एक और करवट ली, जब सिंह-सभा की कोख से 'अकाली आंदोलन' ने जन्म लिया। इस आन्दोलन के संदर्भ में सिखों ने एक ओर स्वतन्त्रता के संग्राम में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेना प्रारंभ किया तो दूसरी ओर ऐतिहासिक गुरुद्वारों का सुधार भी कुछ कम नहीं किया।

पंजाब के गुरुद्वारों को दुराचारी महन्तों, पुजारियों के चंगुल से आज़ाद कराने के बाद अकालियों ने पेशावर (सरहद) की ओर रुख मोड़ा, जहां 'गुरुद्वारा भाई जोगासिंह' नामक एक ऐतिहासिक गुरुद्वारा महन्तों के कब्ज़े में था। उसके फल-स्वरूप साम्प्रदायिकता की आग—जो वहां पहले से ही धुख (सुलग) रही थी—एकदम भड़क उठी। कारण? इस गुरुद्वारे पर सिख और हिन्दू दोनों अपना-अपना अधिकार जतलाने लगे थे। हिन्दुओं का कहना था कि यह गुरुद्वारा वस्तुतः 'जोगन-शाह' नामक एक हिन्दू महात्मा का स्थान है, जिससे हिन्दू ही इसके उत्तराधिकारी हैं, सिख नहीं।

दूसरों का घर जलाकर आग तापने वाले लोग सब जगह पर मौजूद रहते हैं। ऐसे ही कुछ लोगों ने, जिन्हें अंग्रेज के पिट्ठू कहना चाहिए, दोनों पक्षों के लोगों को कुछ इस तरह से भड़काना आरम्भ कर दिया कि देखते ही देखते लोग भभाका

मार उठे ! फलतः अंधेरे-सवेरे हमले होने लगे। सिख मुहल्लों से हिन्दू और हिन्दू मुहल्लों से सिख निकल गए। आज यदि किसी हिन्दू पर हमला होने की खबर सुनने में आती तो कल हिन्दू द्वारा किसी सिख के पीटे जाने की। पर जाने दो इस लम्बी कथा को—मुझे तो उस 'घटना' के बारे में बताना है। तब मैं नया-नया सिख बना था। मज़हब की तबदीली ने मुझमें खूब जोश भर रखा था। जिस महापुरुष के प्रभाव ने मुझे सिख धर्म की ओर आकृष्ट किया था, इन दिनों वह मुझे बुरा जान पड़ने लगा था यहां तक कि मैंने उससे मिलना तक छोड़ दिया। कारण ? वे मुझे और मेरे साथियों को उन कामों से बरजने से नहीं टलते थे जिन कामों में हम लोग उन दिनों भाग ले रहे थे।

'घटना' इस प्रकार घटी कि जाड़े का मौसम था और अन्धेरी रात। बारह-साढ़े बारह का वक्त होगा। ज़ोर की ठंड पड़ रही थी। उस समय मेरे मकान पर—जो सड़क के किनारे था—एक गोष्ठी का कार्यक्रम चल रहा था। हम लोग प्रायः आधा दर्जन युवक थे। गोष्ठी के फलस्वरूप हमें अपने 'दुश्मनों' से प्रतिशोध लेने की कोई योजना बनानी थी।

तभी हमने खिड़की में से देखा, सड़क पर एक हिन्दू चला जा रहा था—बगल में छोटा-सा बिस्तर दबाए, जिससे जान पड़ता था कि गाड़ी से उतरा है और शायद रास्ता भूलकर इधर आ निकला है। नहीं तो भला सिख मुहल्ले में आधी रात के समय हिन्दू का क्या काम ?

सहसा मेरे मकान के सामने आकर वह रुका और हमें आवाज़ देकर किसी बाज़ार का रास्ता पूछने लगा। कदाचित् उसने हम लोगों को बातें करते सुन लिया था, जो भीतर बैठे कर रहे थे। उसे देखते ही हम सब बाहर निकल आए और इससे पहले कि हममें से कोई उसे रास्ता बताता, हम सभी उसपर टूट पड़े, और आन की आन में उसे धराशायी कर दिया। सारा काम इतनी फुर्ती से हुआ कि उस अभागे से चीखते-चिल्लाते भी नहीं बना। तत्पश्चात् हम लोग उसे घसीटकर मकान की पिछली ओर—जहां एक गिरे हुए मकान की दीवारें ही खड़ी थीं—फेंक आए, और साथ में उसका बिस्तर भी। इसके बाद सब कोई अपने-अपने घरों को चले गए। मैं भी अपनी 'वीरता' पर गर्वित होकर भीतर, बिस्तर में जा दुबका।

प्रभात समय किसीकी आवाज़ सुनकर मेरी नींद उचट गई। डर होने

लगा कि कहीं पुलिस तो नहीं आ धमकी है ? पर दरवाज़ा खोलने पर वहाँ पर किसी और ही को खड़ा पाया। आगन्तुक ने घबराई आवाज़ में पुकारा—"नानक-सिंह जी, बाबाजी ने आपको जल्दी बुलाया है। कहा है कि डाक्टर को भी बुला ले आइए, मरहम-पट्टी के सामान सहित।" इतना ही कहकर वह लौट गया।

यह व्यक्ति गुरुद्वारे का सेवादार (चपरासी) था। 'बाबाजी' से उसका मनोरथ वही महापुरुष था जिनकी महानता ने मुझे सिखधर्म में प्रविष्ट करवाया था। वे स्थानिक गुरुद्वारे के ग्रंथी थे।

चाहे गत बहुत दिनों से मैं उनसे नाराज़ था, पर क्या मैं इतना कृतघ्न था कि उनके अनुग्रह को भी भूल जाता, और फिर ऐसे समय पर ? मन ही मन मैं सोचने लगा—क्या बाबाजी कहीं गिर पड़े हैं ? आंधी-पानी का मौसम है, न जाने पाँव फिसल गया हो; चोट अधिक ही आई होगी नहीं तो थोड़ी-बहुत मरहम-पट्टी का ढंग तो वे खुद भी जानते हैं।

गुरुद्वारा निकट ही पड़ता था। कम्बल लपेटकर मैं घर से निकला और डाक्टर को साथ लेकर वहाँ जा पहुँचा।

जाकर जो कुछ मुझे देखने को मिला, आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। वही हिन्दू युवक था, जिसे हम लोग मरा या अधमरा समझकर अब से कुछ घण्टे पहले फेंक आए थे। वह चारपाई पर बेहोश पड़ा था और उसके शरीर पर पट्टियाँ बंधी थीं। निकट ही आग की अंगीठी धधक रही थी। बाबाजी उस युवक पर झुके हुए, जहाँ-तहाँ उसके अंगों पर सेंक कर रहे थे।

मुझे देखते ही वे चिल्लाए—"आया डाक्टर ?"

तब तक डाक्टर—जो मेरे पीछे आ रहा था—आगे बढ़ आया।

उससे आगे की वार्ता साधारण ही है। डाक्टर ने मरहम-पट्टी की, ताकत की दवाई दी (टीके का रिवाज तब नहीं था) और फीस लेकर चलता बना। उसके बाद जो हुआ वह भी कोई महत्त्वपूर्ण नहीं था। कई दिनों तक डाक्टर आया किया, मरहम-पट्टी होती रही। अन्त में वह युवक स्वस्थ होकर स्वयं ही चला गया या उसका कोई सम्बन्धी आकर उसे ले गया, इसकी मुझे याद नहीं है।

साधारणतया इसमें 'घटना' जैसी कोई बात भी नहीं थी, जबकि उन दिनों ऐसा प्रायः चलता ही रहता था। परन्तु जिस बात ने मेरे लिए एक असाधारण घटना बना दिया वह कुछ दूसरी ही थी। बाबाजी अक्सर मुझे बताया करते थे

कि उनकी आंखों में कभी भी आंसू नहीं आए हैं। यहां तक कि जब उनका इकलौता जवान पुत्र मरा था तब भी वे नहीं रोए। और उन्हीं आंखों में से इस समय मैं 'टप-टप' आंसू गिरते देख रहा था।

कैसे उस मार्मिक दृश्य की व्याख्या करूं, जो उस दिन मैंने देखा। मेरे उस अमानुषिक आचरण पर यदि वे फटकार देते, जली-कटी सुना देते, दो-एक चांटे भी मेरे मुंह पर मार देते, फिर भी मैं इतना मर्माहत, इतना पीड़ित न हो उठता, जितना आंसुओं में भीगा हुआ उनका यह वाक्य सुनकर,

"नानकसिंह ! इससे अच्छा होता कि तुम मेरी छाती में गोली मार देते।" और कहते-कहते उनकी अश्रुधारा और भी तेज हो उठी। वही आंखें, जो कई सम्बन्धियों के, यहां तक कि सगे पुत्र के चले जाने पर भी कभी नहीं भीगी थीं, इस समय गंगा-यमुना वहा रही थीं, और वहा रही थीं मेरी दुष्टता पर।

वह दिन गया, यह दिन आया। कभी भी मैं उन आंसुओं को, उस वाक्य को, उस घटना को न भुला सका।

मैं तब भी नानकसिंह था, और अब भी नानकसिंह हूं—पर आज मैं पहला जैसा नहीं रह गया हूं। और इसीके फलस्वरूप, जो वातावरण तब मेरे लिए उत्साह-वर्धक था, आज रक्तशोषक बना हुआ है। आज हिन्दू और सिख के बीच ये दरारें देख-देखकर मेरा हृदय कराह रहा है। मुझे दिखाई दे रहा है जैसे ये 'दरारें' न होकर मेरे पंजाब के पुरुषत्व की वीरता की कब्रें हैं। जिन्हें देख-देखकर मेरे अन्तः-करण में से बार-बार पुकारें उठती हैं—"ओ स्वर्गीय बाबा ! काश ! आज तुम होते और तुम्हारी आंखों में वही अश्रुकण होते, जिनसे पंजाबियों की कलुषित आत्माएं धुल जातीं। अपने भाइयों के विरुद्ध तनी हुई उनकी बांहें, भाइयों के गले में लिपट जातीं।"

पर क्या मेरी ये पुकारें कभी फलीभूत होंगी ? क्या इन्हें सुनकर वह मानव-पुजारी वहां से लौट आएगा, जहां जाकर कभी भी कोई नहीं लौटा ? न सही। पर क्या मैं उन मानव-स्नेही 'बाबाजी' का एक शाब्दिक चित्र भी नहीं अंकित कर सकता ? बस यही था एक प्रश्न, जिसने गत कई महीनों से मेरी नींद हराम किए रखी, और एक मनोनीत चित्र बनाने में मैं जुटा रहा।

कैसा रहा यह चित्र ? इसके बारे में मुझे कुछ नहीं कहना है—किसीसे कुछ नहीं पूछना है। मेरे लिए यदि कोई सन्तोष की बात है तो बस इतनी ही कि जितना

भी समय मैंने इस चित्र-चित्रण में व्यतीत किया, मेरा वह गुरुदेव साकार रूप में मेरे समक्ष बना रहा। यह तो सम्भव है कि शारीरिक रूप-रेखा अथवा क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के तौर से उस महापुरुष में और इस चित्र में कहीं कुछ अन्तर हो, पर मैंने तो इस उपन्यास द्वारा उसकी आत्मा को चित्रित करने का प्रयास किया है—शारीरिक भिन्नता से इसमें क्या होगा।

यदि मेरे पाठक सोचें कि इन पंक्तियों द्वारा मैंने प्रस्तुत उपन्यास की भूमिका लिखी है तो यह उनका भ्रम ही होगा। वास्तव में यह भूमिका-ऊमिका कुछ नहीं है। मात्र एक पृष्ठभूमि है, अथवा स्रोत है उन प्रेरणाओं का, जो विगतप्राय आध शताब्दी से मेरे अन्तर की परतों में दबी पड़ी थी, और एक दिन किसी अनुकूल वातावरण को पाकर पनप उठीं।

प्रीतनगर, —नानकसिंह
जिला अमृतसर

कि उनकी आंखों में कभी भी आंसू नहीं आए हैं। यहां तक कि जब उनका इकलौता जवान पुत्र मरा था तब भी वे नहीं रोए। और उन्हीं आंखों में से इस समय मैं 'टप-टप' आंसू गिरते देख रहा था।

कैसे उस मार्मिक दृश्य की व्याख्या करूं, जो उस दिन मैंने देखा। मेरे उस अमानुषिक आचरण पर यदि वे फटकार देते, जली-कटी सुना देते, दो-एक चांटे भी मेरे मुंह पर मार देते, फिर भी मैं इतना मर्माहत, इतना पीड़ित न हो उठता, जितना आंसुओं में भीगा हुआ उनका यह वाक्य सुनकर,

"नानकसिंह! इससे अच्छा होता कि तुम मेरी छाती में गोली मार देते।" और कहते-कहते उनकी अश्रुधारा और भी तेज़ हो उठी। वही आंखें, जो कई सम्बन्धियों के, यहां तक कि सगे पुत्र के चले जाने पर भी कभी नहीं भीगी थीं, इस समय गंगा-यमुना बहा रही थीं, और बहा रही थीं मेरी दुष्टता पर।

वह दिन गया, यह दिन आया। कभी भी मैं उन आंसुओं को, उस वाक्य को, उस घटना को न भुला सका।

मैं तब भी नानकसिंह था, और अब भी नानकसिंह हूं—पर आज मैं पहला जैसा नहीं रह गया हूं। और इसीके फलस्वरूप, जो वातावरण तब मेरे लिए उत्साह-वर्धक था, आज रक्तशोषक बना हुआ है। आज हिन्दू और सिख के बीच ये दरारें देख-देखकर मेरा हृदय कराह रहा है। मुझे दिखाई दे रहा है जैसे ये 'दरारें' न होकर मेरे पंजाब के पुरुषत्व की वीरता की कब्रें हैं। जिन्हें देख-देखकर मेरे अन्तःकरण में से बार-बार पुकारें उठती हैं—"ओ स्वर्गीय बाबा! काश! आज तुम होते और तुम्हारी आंखों में वही अश्रुकण होते, जिनसे पंजाबियों की कलुषित आत्माएं धुल जातीं। अपने भाइयों के विरुद्ध तनी हुई उनकी बांहें, भाइयों के गले में लिपट जातीं।"

पर क्या मेरी ये पुकारें कभी फलीभूत होंगी? क्या इन्हें सुनकर वह मानव-पुजारी वहां से लौट आएगा, जहां जाकर कभी भी कोई नहीं लौटा? न सही। पर क्या मैं उन मानव-स्नेही 'बाबाजी' का एक शाब्दिक चित्र भी नहीं अंकित कर सकता? बस यही था एक प्रश्न, जिसने गत कई महीनों से मेरी नींद हराम किए रखी, और एक मनोनीत चित्र बनाने में मैं जुटा रहा।

कैसा रहा यह चित्र? इसके बारे में मुझे कुछ नहीं कहना है—किसीसे कुछ नहीं पूछना है। मेरे लिए यदि कोई सन्तोष की बात है तो बस इतनी ही कि जितना

भी समय मैंने इस चित्र-चित्रण में व्यतीत किया, मेरा यह गुरुदेव साकार रूप में मेरे समक्ष बना रहा। यह तो सम्भव है कि शारीरिक रूप-रेखा अथवा क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के तौर से उस महापुरुष में और इस चित्र में कहीं कुछ अन्तर हो, पर मैंने तो इस उपन्यास द्वारा उसकी आत्मा को चित्रित करने का प्रयास किया है—शारीरिक भिन्नता से इसमें क्या होगा।

यदि मेरे पाठक सोचें कि इन पंक्तियों द्वारा मैंने प्रस्तुत उपन्यास की भूमिका लिखी है तो यह उनका भ्रम ही होगा। वास्तव में यह भूमिका-ऊमिका कुछ नहीं है। मात्र एक पृष्ठभूमि है, अथवा स्रोत है उन प्रेरणाओं का, जो विगतप्राय अाध शताब्दी से मेरे अन्तर की धरती में दबी पड़ी थी, और एक दिन किसी अनुकूल वातावरण को पाकर पनप उठी।

प्रीतनगर, —नानकसिंह
जिला अमृतसर

पुजारी

"आज सारा दिन क्या लिखने में ही गुजार देगा बेटा ? सांझ हो गई है और खाना अभी तक…"

सांझ सच ही हो आई थी और चन्दन ने दोपहर का खाना अभी तक नहीं खाया था, इस बीच जितनी बार भी 'गुरो' आई, चन्दन को उसने लिखने में व्यस्त पाया। जितनी बार भी उसने खाना खाने को कहा, चन्दन ने 'अभी आता हूं' कहकर उसे टाल दिया। उसकी मां सोचती रही—'कैसा सिर्री लड़का है जो खाने-पीने तक की भी सुध नहीं है इसे।'

चन्दन ने जब मां से फिर वही सुना तो झुंझलाकर उसने उसे टोका—"क्यों बार-बार तंग करती हो मां ? कह जो दिया कि काम खतम करके आ रहा हूं।" चन्दन की डपट सुनकर गुरो लौटी, जैसे इससे पहले कई बार लौट चुकी थी। सहसा उसकी नजर फर्श पर पड़ी, जहां कितने सारे लिखे हुए कागज़ बिखरे पड़े थे। मानो चन्दन रद्दी करने के लिए ही लिख रहा था।

इस अनोखी लिखाई का कारण पूछने के विचार से गुरो के कदम ठिठक गए, पर डरते-डरते। बेटे को नाराज़ करना उसे सह्य नहीं था।

इधर चन्दन उसी धुन में कागज़ काले किए जा रहा था। उसका ख्याल था कि फटकार सुनकर गुरो चली जाएगी, पर उसे वहीं पाकर वह और भी झल्ला उठा।

गुरो दो पग आगे बढ़ आई, और डरते-डरते बोली—"पर यह लिख क्या रहा है तू, जो खतम होने में ही नहीं आता ?"

चन्दन की खीझ चाहे बढ़ गई, पर पहले की तरह वह उसे प्रकट नहीं कर पाया। कदाचित् मां को बार-बार दुत्कारने से उसे अपने पर कुछ ग्लानि हो आई थी। बोला—"कुछ नहीं मां, एक मज़मून लिख रहा हूं।"

"कितना बड़ा है मज़मून ?" पुत्र को मुलायमी में आते देख मां का साहस बढ़ा—"पर यह तो तू चिट्ठियों वाले कागज़ पर लिख रहा है, मज़मून की कापी तो तेरी दूसरी है न।"

चन्दन का क्रोध फिर से चमक उठा—"मां, तू तो हर बात में बहस करने लग जाती है—तुझे नहीं पता इन बातों का।"

गुरो फिर झेंपी, और उसी झेंप में बोली—"अच्छा, पर खाना तो खा ले बेटा, सवेरे से खाली पेट बैठा है।"

"मैं कहता हूं।" चन्दन बौखला उठा—"कहीं पित्त तो नहीं पड़ जाएंगे। जा, मेरे काम में हर्ज मत कर।"

अब गुरो ने लौट ही जाना ठीक समझा। पर हाय री ममता! पुत्र भूखा हो और मां के दिल को चैन ? बोली—"अभी कितनी देर लगेगी ?"

चन्दन को यह बार-बार का हस्तक्षेप जैसे कचोट रहा था। एक बार तो उसका मन हुआ कि घुटनों पर रखा हुआ लैटर पैड मां के माथे पर पटक दे, पर अपने को वह इतना कर्कश नहीं बना पाया। बोला—"यही बस आध घंटा और लगेगा।"

"तो लालटेन जलाकर रख जाऊं ? अंधेरा हुआ जा रहा है।"

"रख जा।" चन्दन ने वैसे ही कलम चलाते हुए कह दिया।

उससे थोड़ी देर बाद गुरो लालटेन ले आई और उसे तिपाई पर रखकर लौट गई।

चन्दन अपने किसी मित्र को पत्र लिखने में व्यस्त है। पहली बार का लिखा उसे पसन्द नहीं आया था। सम्भवतः अपने अनुमान से कहीं अधिक विस्तृत हो जाने पर पन्द्रह-सोलह पृष्ठ। इसके अतिरिक्त उसे पत्र में एक दूसरी त्रुटि भी खटकी थी। अर्थात् पत्र लिखने का उसका लहजा बहुत कोमल था, डांट-डपट जिसमें नाम को भी नहीं थी। जिस बात ने उसे पत्र फाड़ डालने को सबसे अधिक उकसाया वह यह कि उसने इधर-उधर की बातों में तो इतना कुछ लिख डाला, पर जिस अभिप्राय को लेकर वह लिखने बैठा था उसका इसमें नितांत अभाव था।

वह सोचने लगा—'इतने लम्बे पत्र को क्या वह बिगड़े दिमाग वाला पढ़ेगा भी ? और यदि पढ़ भी लेगा तो क्या मेरे उद्‌गारों को समझ भी पाएगा, जबकि

मैंने इसमें सिरे से ही उसका यशगान शुरू कर दिया है, मानो मैं उससे दया की भिक्षा मांग रहा हूं। क्या मेरे आत्मसम्मान का एकदम दिवाला निकल गया है? क्या मेरा पुरुषत्व एकदम नष्ट हो चुका है? धिक्कार है मुझपर। बेकार है यह माथा-पच्ची—बिल्कुल फिजूल। इस सीमा तक नपुंसक बनने से तो मर जाना ही अच्छा। गरीब सही, दरिद्र सही, पर जवान तो हूं, रगों में पंजाबी खून है। क्यों मैं अपाहिजों की तरह किसीके सामने गिड़गिड़ाऊं, और फिर उस कमीने के सामने, जो कल तक तो मेरी दोस्ती का दम भरता था, मेरी प्रशंसा करते जिसकी जबान नहीं थकती थी, और आज उसने आंखें माथे पर रख ली।'

थोड़ी देर तक चन्दन इसी प्रकार के मनोविकारों की चोटें खाते हुए लहू के घूंट पीता चला गया, तत्पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि पत्र तो उसे अवश्य ही लिखना होगा, पर ऐसे लहजे में, जिसे पढ़कर बच्चू को नानी याद आ जाए। और बिल्कुल संक्षिप्त-सा यही एक-डेढ़ पृष्ठ का—इससे अधिक नहीं।

और तब उसने पहला लिखा सब फाड़-मरोड़कर फेंक दिया और फिर से लिखना प्रारम्भ कर दिया। जैसे ही उसकी कलम ने गति पकड़ी कि फिर वही पहले का सा दौरा पड़ा उसपर। एक पृष्ठ, दो, तीन, चार···। जब पत्र की समाप्ति पर पहुंचकर उसने पृष्ठों की गिनती की तो अपनी मूर्खता पर तिलमिला ही तो उठा—'कहीं आज मेरा दिमाग तो नहीं हिल गया है? क्या यह मैंने एक-डेढ़ सफा लिखा है? पहले की अपेक्षा दुगने हैं यह तो।'

पर अब के उसने इन पृष्ठों के साथ पहला-सा बर्ताव नहीं किया। एक बार, दो बार पढ़ लेने के बाद उसने उन्हें एक लिफाफे में बन्द किया, लिफाफे पर पता लिखा और लिखने के बाद उठ खड़ा हुआ।

बैठे-बैठे उसकी कमर दुखने लगी थी। उसने दो-एक अंगड़ाइयां लीं। आंखों को मलते हुए जब वह बाहर निकला, तो गुरो को उसने खड़े पाया—उसकी प्रतीक्षा में।

रुकने की बजाय जब वह आगे बढ़ चला तो पीछे से गुरो ने पुकारा—"अब कहां चला, अरे खाना···।"

उसने बीच में ही टोक दिया—"चिट्ठी डाकखाने में छोड़कर अभी आया।" और ड्योढ़ी लांघकर वह घर से बाहर निकल गया। गुरो को कहने का मौका ही नहीं हुआ कि डाक तो कभी की निकल चुकी है।

ट्वारे की छुरी से जब पंजाब को बीच में से चीरकर दो टुकड़े कर दिया गया तो सीके अनुसार दोनों सीमाओं के साथ लगनेवाले थोड़े-से इलाके की कांट-छांट इस ढंग से हुई कि पश्चिमी पंजाब के कुछ गांव पूर्वी पंजाब से जोड़ दिए गए, और पूर्वी पंजाब का कुछ इलाका पश्चिमी पंजाब के साथ। इसके अनुरूप लाहौर की तहसील 'कसूर' से जो भाग कटकर ज़िला अमृतसर से मिलाया गया, वह 'सब-तहसील पट्टी' के नाम से घोषित हुआ। इस सब-तहसील के चार थाने बने—पट्टी, वलटोहा, खालड़ा और खेमकरन।

इस इलाके की जमीन का रकबा डेढ़ लाख एकड़ के लगभग है, और इसमें पौने दो सौ गांव हैं। इस प्रकार पाकिस्तान की यह हिन्दू-सिख आबादी बिना किसी स्थान-परिवर्तन के भारतीय राज्य में मिल गई।

इन्हीं सीमावर्ती गांवों में एक छोटा-सा गांव 'भानेके' है, जो थाना वलटोहा से संयुक्त है—वलटोहा गांव से अढ़ाई मील की दूरी पर। यह गांव अमृतसर से पैंतीस मील और तरनतारन से सत्रह मील पर है। यहां की धरती अधिक उपजाऊ नहीं है—ऊंची जगह होने से।

मानेके बहुत-से गांवों में घिरा हुआ है। विशेषतया 'दासूवाल', 'जण्ड' 'जोधसिंहवाला', 'कोटली', 'वरनाल' और 'घरियाला' आदि गांव तो उसके साथ ही लगते हैं।

इसी मानेके गांव में सन्तराम दुकानदार का जन्म हुआ, यहीं पर वह जवा हुआ, ब्याहा गया। उसके कुछेक सम्बन्धी आसपास के गांवों में रहते थे औ वह इलाका पाकिस्तान में चला जाने से वे लोग वहां से भागकर भारत के दूस प्रान्तों में जा बसे। इसलिए सन्तराम का यहां कोई भी नजदीकी रिश्तेदार न रह गया, सिवाय अपनी पत्नी के।

गांव की एक छोटी-सी गली में सन्तराम का घर और दूकान, दोनों जिनका भीतरी भाग सांझा था—आगे दुकान और पीछे घर।

सन्तराम चाहे जीवनपर्यन्त दरिद्र ही रहा, पर मन का राजा था। धनाभ ने उसे कभी भी पीड़ित नहीं किया—संयमी और सन्तोषी स्वभाव, हंसोड़ तबि और ठिगना-सा कद। कबीर के इस दोहे का समर्थक था—'कबिरा खड़ा ब में सबकी मांगे खैर। ना काहू से दोस्ती, ना काहू से बैर।'

पुकारा।

गांव-भर में यह जोड़ी चाहे एकाकी रूप में ही थी, पर अपने पड़ोसी परिवार से इस दम्पति का इतना हेलमेल बढ़ गया था कि जिसे देखते हुए इन्हें अकेले कहना असंगत-सा जान पड़ेगा।

सन्तराम का पड़ोसी नाहरसिंह उसी जैसा एक गरीब किसान था, जो अपनी थोड़-सी जमीन पर कास्त करके निर्वाह करता था। जितना दोनों पड़ोसियों में प्रेम था उससे कहीं बढ़कर दोनों में समानता।

सन्तराम की दुकान में चार-पांच सौ से अधिक पूंजी कभी नहीं हुई, और न ही नाहरसिंह के पास दस-बारह बीघा से अधिक जमीन। फिर भी दोनों परिवार एक-दूसरे का सहयोग पाकर सन्तुष्ट थे। एक को यदि तकड़ी-बाट की कृपा से रूखा-सूखा जुट जाता, तो दूसरे को हल-बैल के अनुग्रह से।

आम तौर से कहा जाता है कि बनिये और जाट की मित्रता ऐसी ही होती है जैसी घड़े और पत्थर की। पर इन दोनों पड़ोसियों को देखने पर इस लोकोक्ति पर से विश्वास उठ जाता है। इनकी मैत्री इलाके-भर में रवाइत बन चुकी थी।

सन्तराम की पत्नी राधा शारीरिक तौर से हृष्ट-पुष्ट तो थी ही, उसके दिल की मजबूती उससे भी कहीं बढ़कर थी। सन्तराम का कद जितना छोटा, इसका उतना ही ऊंचा। मानो बनिये ने जट्टी (किसान औरत) से शादी कर रखी हो।

गांवों के मनचले युवक किसी मूह-माथे की औरत को पाकर हंसी-ठिठोली करने से नहीं चूकते। पर राधा का प्रभाव ही कुछ ऐसा था कि उसके सामने आते ही उन लोगों की मसखरता के पंख झड़ जाते। कुछ तो राधा का रौब ही ऐसा था, और उसके एक पुराना कारनामा भी सब किसीको याद था। कहते हैं कि एक बार जब सन्तराम सौदा खरीदने अमृतसर गया हुआ था तो रात किसी चोर ने उसके घर में सेंध लगाई। राधा घर में अकेली थी। खटका सुनते ही जग गई, पर ऊपरी तौर पर सोई होने का स्वांग बनाए रही। जैसे ही चोर भीतर घुसा कि बिल्ली की तरह छलांग लगाकर वह उसपर टूट पड़ी। चोर ने भरसक यत्न किया, पर राधा के चंगुल से छूटने में वह असफल रहा। कहते हैं कि तब राधा ने उसे सिर लिटाकर उसके दोनों हाथ पलंग के पायों तले दबा दिए, उसके सिर के बालों को कसकर पाटी से बांधा, और खुद पलंग पर चढ़कर मजे से सो गई। दिन चढ़े आराम से उठी और बाहर जाकर पड़ोसियों को लिवा लाई। चोर को [illegible] की जेल हुई थी।

राधा ने कई सन्तानों को जन्म दिया. पर दुर्भाग्यवश कोई बच्चा साल का, कोई डेढ़ का होकर उसकी गोद खाली कर गया।

नाहरसिंह और गुरो भी दुर्भाग्य की रेखा माथे पर लिखवाकर संसार में आए थे। वर्षों पर वर्ष बीतते गए, पर सन्तान के बारे में उनकी पुकार भाग्य के कंजूस भण्डारी ने नहीं सुनी। बेचारे वाहिगुरु से मनाते कि लड़का नहीं तो लड़की का ही मुंह देख पाएं, पर कुछ नहीं पा सके। बहुत दिनों का भूखा जैसे रोटी की बास पाकर ही अंशतः तृप्ति का अनुभव करने लगता है, वैसी ही स्थिति थी दंपति की उनके मित्र-परिवार सन्तराम के घर में जब-जब भी लड़का अथवा लड़की आते उनके मन को एक प्रकार का सन्तोष होता। पर सन्तोष अस्थायी ही बना रहा। सन्तराम के घर में बच्चे पैदा होते और पैदा होने के बाद चले जाते।

किसी चीज़ का अभाव हमें इतना दुःखित नहीं करता, जितना उस अभाव के बारे में किसी दूसरे द्वारा दिया हुआ ताना। गुरो वस्तुतः बांझ थी, और अपने बांझपन को पूर्वजन्म के पापों का फल अथवा किसी गुरु-अवतार का अभिशाप मानते हुए वह इसे मन ही मन सहन कर रही थी—सहन करने की आदी हो चुकी थी। पर जैसे ही वह किसी पड़ौसिन के मुंह से अपने नाम के साथ 'निपूती' विशेषण सुनती तो उसका दिल टुकड़े-टुकड़े हो जाता। दोस्त-दुश्मन तो हर किसीके होते हैं, पर दुश्मन द्वारा जब किसी व्यक्ति की उस नाड़ी को दबाया जाए जो जन्म से ही दुख रही हो तो इसकी जो प्रतिक्रिया होती है वही बेचारी गुरो को झेलनी पड़ती। जब कभी उसकी कोई पड़ौसिन ऐसी बात कह देती तो उसके हार्दिक कष्ट की सीमा न रहती।

जिन पड़ौसियों को ऐसी बुरी बातें करने की लत पड़ गई थी—गुरो को पीड़ा पहुंचाने पर जिन्हें आनन्द मिलता था वे और आगे बढ़ने लगे। जब कभी एकान्त में राधा से उनकी बात चलती तो वे किसी न किसी ढंग से उसके कानों में इस प्रकार की बातें भरने लग जातीं :

"देख बहना, तेरे भले की बात कहती हूं, बुरा मत मानना। तेरी गोद में जो फल नहीं टिकते हैं तो क्यों ? उसी निपूती की वजह से। सो उसकी परछाईं से ज़रा बचकर रहाकर, नहीं तो जन्म-भर के लिए उसी जैसी होकर रह जाएगी—समझीं···"

राधा पर इस शिक्षा का यदि कुछ असर होता तो यही कि वह न केवल शिक्षा-

दासियों को पटवार वाली बहिन पर जाकर गुरो के सामने भी इसका बखान करती—साथ में उन कलमुहियों के पीहर-नाहर को सौ-सौ गालियाँ सुनाए चली जाती जिन्होंने ऐसी बुरी बातें कहकर उसकी बड़ी बहन (गुरो) का अपमान किया होता। गुरो ही तो इस गाँव में एकमात्र उसकी अपनी थी, फिर कैसे वह सहन कर पाती उसके विरुद्ध ऐसी बातों को। सुनकर गुरो का मन डिगने लग जाता। उसे किसी पल तब इस बात का विश्वास होने लगता कि सच ही उसी की परछाईं पड़ने से राधा के बच्चे मर जाया करते हैं।

जब कभी इस प्रकार की बातों से गुरो की मानसिक पीड़ा चरमसीमा तक जा पहुँचती तो वह आव देखती न ताव, और भागी-भागी गुरुद्वारा में जा पहुँचती और माथा झुकाकर—दिल को चीरकर गुरु महाराज के चरणों में प्रार्थनाएं करने लग जाती—"हे अन्तर्यामी! मेरी कोख में फल पड़ना यदि तूने नहीं लिखा है तो न सही। पर मेरे कारण क्या तू राधा की कोख भी खाली रखेगा? मैं अपने लिए कुछ नहीं मांगूगी मेरे दाता, पर उस बेचारी पर तो दया कर।"

एक बार जब गुरो को पता चला कि राधा फिर से गर्भवती है तो अपनी इसी प्रार्थना को लेकर वह निरन्तर दोनों वक्त गुरुद्वारा जाने लगी। तत्पश्चात् जिस दिन राधा ने एक मुन्ने को जन्म दिया तब से तो गुरो न केवल गुरुद्वारे जाकर ही, बल्कि चलते-फिरते—सोते-जागते यही मनाने लगी—"हे पतित-पावन! अब के जो तूने उपकार किया ही है तो मुन्ने का साया अच्छा करना, जो मैं पड़ोसियों की कचोटों से बच जाऊं।" प्रार्थनाओं के साथ-साथ गुरो एक दूसरी बात भी बार-बार सोचने लगी जाती—'अगर इस बार भी वही हुआ, तो मैं गले में पत्थर बांधकर कुएं में छलांग लगा दूंगी।'

प्रकृति के कारखाने में क्या कुछ गढ़ा और क्या कुछ तोड़ा जाता है, इसे समझने की शक्ति किसमें है? जिस बच्चे की चिरंजीविता के लिए प्रभु के चरणों में विनय करते करते गुरो ने माथा घिसा डाला था, कौन सोच सकता था कि एक दिन उसी मुन्ने की मां का कर्तव्य स्वयं गुरो को पूरा करना होगा।

राधा को प्रसूतिगृह में ही मृत्यु ने आ दबोचा। वह जिस समय अंतिम सांसें ले रही थी तो गुरो उसके खाट पर माथा टिकाए सिसकियां भर रही थी। तभी राधा ने क्षीण स्वर में उसे पुकारा—"बहना, मुन्ने को ले ले।" तब वैसे ही आंसू बहाते हुए गुरो ने मुन्ने को उठा लिया।

खून गाढ़ा और पराये का पतला होता है।' उन्हें चन्दन क्या मिला जैसे त्रिलोकी का राज्य पा गए। चन्दन था भी तो 'चांद' सरीखा। किस प्रकार उसे दुश्मन-दूती की नजरों से सुरक्षित रखें, यही चिन्ता हर समय उन दोनों पर सवार रहती। कभी जो किसी दिन चन्दन का माथा गर्म पाते तो दोनों के होश उड़ने लगते। सारा संसार और संसार का सारा वैभव मानो चन्दन के रूप में सिमटकर उनके घर में आ टिका हो।

चन्दन जैसे-जैसे बड़ा होता गया दम्पति की आकांक्षाएं और बड़ी और विस्तृत होती चली गईं—"हमें अपने चन्दन को बारह—बारह नहीं, चौदह—चौदह नहीं, सोलह जामतें पढ़ाना है, हमारा चन्दन 'डिवटी' बनेगा, कलट्टर बनेगा, बलिश्टर बनेगा।"

छठा समाप्त करके चन्दन ने जब सातवें वर्ष में पांव रखा तो उसे स्कूल बिठलाने का प्रश्न पैदा हुआ। पर जैसे ही स्कूल का प्रसंग छिड़ा कि गुरो का दिल डूबने लगा। गांव में ही प्राइमरी स्कूल था—चन्दन को कहीं दूर भेजने का प्रश्न नहीं था, पर सात वर्ष का चन्दन उसके लिए नन्हा-मुन्ना ही था। और इतनी छोटी उम्र में वह उसे अलग करने का साहस कहां से लाए।

गुरो ने बहुत आना-कानी की, ढंग-ढंग से उसने पति को समझाया—"चन्दन के बापू, भला अभी यह स्कूल जाने लायक है? कैसे बेचारा दिन-दिन-भर वहां भेड़ों-बकरियों की तरह बन्द रखा जाएगा?" पर नाहरसिंह के कानों में जो सन्तराम के शब्द गूंज रहे थे, उसका क्या करे। हर रोज दोनों में इसी बात पर खटपट हो जाती। जब भी नाहरसिंह स्कूल का नाम लेता, गुरो मोटे-मोटे टिसुए बहाने लग जाती। और इसके फलस्वरूप चन्दन की पढ़ाई का समय पिछड़ता ही चला जा रहा था।

अन्ततः नवां वर्ष लग जाने पर कहीं चन्दन को स्कूल भेजने का मुहूर्त निकल पाया, सो भी बड़ी कठिनाई से।

उसे दाखिल करवाने के बाद गुरो प्रति सप्ताह छोटे मास्टर के घर पर जा पहुंचती और कुछ न कुछ लेकर ही। कभी मक्का के हरे-हरे भुट्टे, कभी दस-बीस गन्ने और कभी सेर-दो सेर गुड़-शक्कर। यह सब इसलिए कि छोटा मास्टर कहीं भूलकर भी उसके चन्दन पर छड़ी या चांटे का प्रयोग न कर बैठे।

'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' की लोकोक्ति ठीक चन्दन पर घटती थी। स्कूल मे प्रविष्ट होने के बाद द्रुतगति से उसका शरीर और मस्तिष्क विकास करने लगा। पढने-लिखने की उसकी लगन को देखकर दूसरे छात्र ईर्ष्या करते। साथ ही चन्दन की रुचि जब गाने की ओर बढने लगी, फिर तो वह समूचे स्कूल के लिए उपयोगी माना जाने लगा। प्राइमरी की पढ़ाई समाप्त होते न होते वह सब मास्टरों की प्रशसा का केन्द्र बन गया।

फिर घर मे एक नया प्रसग चला—चन्दन को बड़े (हाई) स्कूल भेजने का, जो वहां से अढाई मील की दूरी पर, बलटोहा कस्बे में था। यों तो गुरो प्रसन्न थी कि उसके लाड़ले ने प्रारम्भिक पढ़ाई में मार्के का काम किया है, पर जैसे ही वह 'अढ़ाई मील' की समस्या सामने आई कि उसका दिल डूबने लगा। उसका चन्दन क्या इतना सस्ता है जो कच्ची सड़क पर प्रतिदिन पाच मील का सफर करे? तिसपर दूसरी परेशानी पैदा हो गई खर्च की। छोटी कक्षाओ मे तो यह काम कठिन नहीं था, पर बड़े स्कूल में भेजने पर तो कितना ही कुछ करना होगा—दाखला, मासिक फीस, पुस्तकें, कापियां और दूसरा कितना ही कुछ। फिर अपने गांव की बात और थी, चाहे जैसे भी कपडे पहनकर और नगे पाव ही चन्दन चला जाता था। पर दूसरे गाव और इतने बड़े स्कूल मे जाने के लिए तो ढग का कुर्ता, पाजामा, कोट और पैरों में जूता भी चाहिए। और इधर घर की हालत इतनी पतली कि दाल-रोटी ही कठिनाई से चल पाती थी। सन्तराम जो थोड़ा-घना असासा छोड़ गया था उससे तो उसके क्रिया-कर्म का ही काम निपट पाया था या बाद में चन्दन के मुण्डन-सस्कार का। ऊपर से चन्दन के लालन-पालन ने कुछ कर्ज भी चढा दिया था।

चाहे कुछ भी हो, चन्दन की पढाई तो किसी भी कीमत पर रोकी नही जा सकती थी। छोटे-मोटे खर्च के लिए तो कुछ न कुछ प्रबन्ध हो ही गया। पर वह दूसरी 'ढाई मील' वाली समस्या ज्यो की त्यो बनी रही, जो साइकिल के बिना सुलझाई नही जा सकती थी, और साइकिल के लिए चाहिए थे दो मुट्ठी रुपये, सो कहा से आएं।

चन्दन—जो हाईस्कूल जाने को बहुत उत्सुक था—बार-बार गुरो से कहता—"मां, क्या तूने मुझे अपाहिज समझ रखा है? क्या मेरे जैसे दूसरे लड़के वहां पैदल नही जाया करते?" पर गुरो का धीरज नही बधता।

अन्ततः चन्दन की ही विजय हुई। उसने कह-सुनकर मां-बाप को इसपर सहमत कर ही लिया। तब एक शुभ दिन गांव के ब्राह्मण द्वारा शुभ मुहूर्त निकलवाया गया, और चन्दन हाई स्कूल में प्रविष्ट हुआ।

पहले दो-चार दिन गुरो के मन को कष्ट हुआ, जब थके-मांदे चन्दन को वह धूल में लिपटे लौटते देखती, पर शनैः-शनैः वह इसे सहन करने लगी। न कैसे करती? जबकि चन्दन को डिबटी बनाने के स्वप्न उसे किसी भी करवट चैन नहीं लेने दे रहे थे।

घर में 'पंजो' नाम की एक भैंस थी, जिसके ब्याने में थोड़े ही दिन बाकी थे। गुरो सोचा करती—'थोड़े ही दिनों की तो बात है। फिर तो मैं दूध-मक्खन द्वारा चन्दन को इतना तगड़ा कर दूंगी कि पांच छोड़ दस मील चलने पर भी न थकेगा।'

घर के पशुओं से घरवालों का मोह कम नहीं होता। विशेषतः जिन पशुओं को अपने हाथों पालकर जवान किया गया हो उनके साथ तो बच्चा जैसा स्नेह पैदा हो जाता है। पंजो शक्ल-सूरत में गांव की सब भैंसों को पीछे छोड़ती थी। भूरा रंग, चारों पैर सफेद, माथे पर फूल, बिल्ली आंखें, कुंडे सींग और लम्बी पूंछ।

पंजो की मां का नाम बुद्धां था। उसका यह नामकरण इसलिए हुआ कि वह बुध के दिन जन्मी थी। और उसकी मां ने भी इसी घर में जन्म लिया था। इस प्रकार यह पौधा फलते-फलते जब पंजो तक पहुंचा तो नाहरसिंह के पास एक मात्र यही रह गई और वह भी कटिया के रूप में। पंजो की मां तब बिकी जब नाहरसिंह की बहन की शादी हुई। पंजो की नानी को भी एक बनिया महाशय ले गए, जब नाहरसिंह की अपनी शादी होने वाली थी। ले-देकर यही पंजो उसके पास बची रह गई। पशु केवल चारे से ही नहीं, स्वामी के प्यार को पाकर भी बढ़ते हैं। कदाचित् इसी कारण पंजो इतनी जल्दी जवान हो गई थी।

हाई स्कूल के वातावरण में जाकर चन्दन के व्यक्तित्व ने और शरीर ने खूब हुलारा खाया। उसने पाया कि उसके गांव का स्कूल तो भेड़ों का बाड़ा ही था। यहां सब कुछ मर्यादित रूप में उसे दिखाई दिया। पढ़ाई और पढ़ाई के अतिरिक्त खेल-कूद, प्रार्थना इत्यादि सभी कुछ पूरे अनुशासन के साथ होते, जिसे देख-देखकर उसके कपाट खुलने लगे।

स्कूल सिख सम्प्रदाय द्वारा संचालित था—खालसा हाईस्कूल। प्रातः क्लासें

लगने से पहले प्रार्थना का समय होता, जिसके अन्तर्गत शब्द-कीर्तन और अन्त में अर्दास (प्रार्थना) होती। धार्मिक त्योहारों पर भाषण इत्यादि का कार्यक्रम भी धूमधाम से चलता था।

चन्दन के गले में लोच तो थी ही, साथ में गाने का लहजा भी अच्छा था, जिससे धार्मिक अध्यापक 'ज्ञानी जी' से उसकी खूब पटती। सुपात्र देखकर ज्ञानी जी हारमोनियम द्वारा उसे थोड़ी-बहुत राग-विद्या भी सिखलाने लगे।

इस प्रकार थोड़े ही समय में चन्दन की धाक-सी जमने लगी। पर इतने पर भी उसे कभी-कभी आत्महीनता का आभास खटकने लग जाता। वह बड़े लड़कों से कुछ कतराने-सा लगा। साहूकारों, ज़मींदारों के लड़के, जो छात्रावास में रहते थे, उसे उपेक्षा की नज़रों से ताका करते। उन लोगों की हर बात में रोब टपकता था। घरों से उन्हें खुला पैसा आता और खूब उदारता से खर्च किया करते। किसीका नया सूट सिलकर आ रहा है तो किसीके घरवाले फैंसी बूटों का जोड़ा भेज रहे हैं। छुट्टी के दिन वे लोग सिनेमा देखने को अमृतसर या तरनतारन चले जाते। वे अपने-अपने ऐश्वर्य की बढ़-चढ़कर डींगें हांकते—"हमारे घर में इतनी भैंसें और इतनी गाएं हैं···गत वर्ष हम लोगों ने नया मकान बनाया···पिता जी मुझे आई० सी० एस० कराकर इंग्लैंड भेजने को कहते हैं···"इत्यादि। चन्दन उनकी तुलना में अपने को ऐसा पाता जैसे हंसों की पंक्ति में कौआ। विशेषतया अपने तुच्छ पहरावे को देख-देखकर तो कभी-कभी वह धरती में गड़-सा जाता और सोचता—'काश! मेरे पास भी इस तरह का एकाध सूट होता—मेरे पैरों में भी इतने बढ़िया बूट होते।'

स्कूल के बोर्डिंग हाउस में अधिक गिनती सिखों की थी, जो ठाटों, फिक्सरों और फिफ्टियों के प्रयोग से खूब बन-सवरकर निकलते। सिखों के अतिरिक्त जो थोड़े-से हिन्दू लड़के थे वे भी अप-टू-डेट बाबू बने हुए। तब गांव के फूहड़ नाई द्वारा कराई बेढंगी हजामत, बीच में लम्बी चोटी और सिर पर आठ गज की मोटी मलमल का पग्गड़ उसे कचोटने लगता।

कुछ भी हो—चाहे कितना ही वह उन सरदार और साहब लोगों की तुलना में अपने को तुच्छ पाता हो, पर एक बात का उसे सन्तोष था कि साधारण छात्र उसका आदर करते थे। अपनी बुद्धि की तीक्ष्णता और गले के माधुर्य के कारण वह अध्यापकों की नज़रों में तो ऊंचा उठ ही गया था। इसी बूते पर तो वह अपनी

अन्ततः चन्दन की ही विजय हुई। उसने कह-सुनकर मां-बाप को इसपर सहमत कर ही लिया। तब एक शुभ दिन गांव के ब्राह्मण द्वारा शुभ मुहूर्त निकलवाया गया, और चन्दन हाई स्कूल में प्रविष्ट हुआ।

पहले दो-चार दिन गुरो के मन को कष्ट हुआ, जब थके-मांदे चन्दन को वह धूल में लिपटे लौटते देखती, पर शनैः-शनैः वह इसे सहन करने लगी। न कैसे करती ? जबकि चन्दन को डिवटी बनाने के स्वप्न उसे किसी भी करवट चैन नहीं लेने दे रहे थे।

घर में 'पंजो' नाम की एक भैंस थी, जिसके व्याने में थोड़े ही दिन बाकी थे। गुरो सोचा करती—'थोड़े ही दिनों की तो बात है। फिर तो मैं दूध-मक्खन द्वारा चन्दन को इतना तगड़ा कर दूंगी कि पांच छोड़ दस मील चलने पर भी न थकेगा।'

घर के पशुओं से घरवालों का मोह कम नहीं होता। विशेषतः जिन पशुओं को अपने हाथों पालकर जवान किया गया हो उनके साथ तो बच्चा जैसा स्नेह पैदा हो जाता है। पंजो शक्ल-सूरत में गांव की सब भैंसों को पीछे छोड़ती थी। भूरा रंग, चारों पैर सफेद, माथे पर फूल, बिल्ली आंखें, कुंडे सींग और लम्बी पूंछ।

पंजो की मां का नाम बुद्धां था। उसका यह नामकरण इसलिए हुआ कि वह बुध के दिन जन्मी थी। और उसकी मां ने भी इसी घर में जन्म लिया था। इस प्रकार यह पौधा फलते-फलते जब पंजो तक पहुंचा तो नाहरसिंह के पास एक मात्र यही रह गई और वह भी कटिया के रूप में। पंजो की मां तब बिकी जब नाहरसिंह की बहन की शादी हुई। पंजो की नानी को भी एक बनिया महाशय ले गए, जब नाहरसिंह की अपनी शादी होने वाली थी। ले-देकर यही पंजो उसके पास बची रह गई। पशु केवल चारे से ही नहीं, स्वामी के प्यार को पाकर भी बढ़ते हैं। कदाचित् इसी कारण पंजो इतनी जल्दी जवान हो गई थी।

हाई स्कूल के वातावरण में जाकर चन्दन के व्यक्तित्व ने और शरीर ने खूब हुलारा खाया। उसने पाया कि उसके गांव का स्कूल तो भेड़ों का वाड़ा ही था। यहां सब कुछ मर्यादित रूप में उसे दिखाई दिया। पढ़ाई और पढ़ाई के अतिरिक्त खेल-कूद, प्रार्थना इत्यादि सभी कुछ पूरे अनुशासन के साथ होते, जिसे देख-देखकर उसके कपाट खुलने लगे।

स्कूल सिख सम्प्रदाय द्वारा संचालित था—खालसा हाईस्कूल। प्रातः क्लासें

क्लास का मानीटर समझा जाने लगा। जिन मोटी बुद्धि वाले छात्रों को उसकी सहायता की दरकार होती, उन्हें वह सहर्ष सवाल इत्यादि समझा दिया करता।

साहस बढ़ने-भर की देर थी कि चन्दन कहां से कहां जा पहुंचा। विशेषतया ज्ञानी जी का कृपा-पात्र बन जाने से जहां उसने शब्द-कीर्तन करने का ढंग सीख लिया वहां भाषण देने में भी दखल देने लगा। जब-जब भी स्कूल में फंक्शन की कोई योजना बनती ज्ञानी जी चन्दन का छोटा-मोटा आइटम उसमें रख देते। स्टेज पर जाकर वह इतने सुलझे ढंग से बोलता कि हेडमास्टर भी उसका लोहा मान जाता। पर इतना होने पर भी बड़ी क्लासों और बड़े घरानों के लड़कों का बर्ताव उसके साथ अच्छा नहीं हो पाया। पहले यदि वे लोग उसकी उपेक्षा करते तो अब ईर्ष्या भी करने लगे। जब-जब भी चन्दन को फंक्शन में कोई 'आइटम' दिया जाता, वे लोग खुसर-फुसर करने लग जाते—"शक्ल न सूरत, और बन्दर की मूरत'''घर से रटकर ले आता होगा, और'''लहू लगाकर शहीदों में नाम कर लेंगे।"

इधर चन्दन पढ़ाई के मैदान में छलांगें लगाता बढ़े जा रहा था और उधर नाहरसिंह की आर्थिक स्थिति दिनों-दिन पतली हुए जा रही थी। पहले उसका ख्याल था कि केवल फीस और किताबों का ही बोझा उसे उठाना पड़ेगा, पर यहां तो छप्पन तरह के खर्च उसके सिर पर आ पड़े। आज ड्राइंग-बाक्स चाहिए, आज अमुक फंकशन के लिए चंदा, गेम की फीस, बिजली के पंखे का खर्च और न जाने क्या-क्या। पर नाहरसिंह ने साहस नहीं त्यागा। कभी-कभी जो घबराने भी लगता तो गुरो यह कहकर उसे प्रोत्साहित करती;

"दिल छोटा मत कर चन्दन के बापू! लड़का सब धोने धो देगा[1], गुरु महाराज की कृपा से।"

भैंस ब्याई, जिसने अपनी ही जैसी एक कटिया दी। दूध कम था। दोनों वक्त का मिलाकर पांच सेर, पर मठा जैसा गाढ़ा। बहुत कहा नाहरसिंह ने—चन्दन ने भी कम आग्रह नहीं किया कि एक वक्त का दूध बेचा जाए, पर गुरो कब मानने वाली थी! उसे तो चन्दन को चन्दन का बिरवा बनाना था।

समय बीतता गया और समय के साथ-साथ चन्दन की पढ़ाई भी चलती गई। नाहरसिंह और गुरो का कल्पित स्वर्ग निकटतर आ रहा था। खुला दूध

१. सब कसर पूरी कर देगा।

मक्खन मिलने से चन्दन का शरीर खूब पुष्ट होने लगा, जिससे अब पांच मील चलना तो उसकी बाएं टांग का काम था।

आठवीं पास करके जब वह नवीं में प्रविष्ट हुआ तब तक वह एक प्रकार से स्कूल का नायक बन चुका था। हॉकी, फुटबाल इत्यादि खेलों में उसे लीडर माना जाने लगा। संगीत में दक्ष और भाषण देने में सुघड़।

इधर घर की हालत इतनी गिर चुकी थी कि चन्दन और उसके अभिभावकों को इसकी चिन्ता दीमक बनकर चाटने लगी। फिर भी वे लोग इसी आशा पर सब कठिनाइयों से जूझते चले जा रहे थे कि अब तो केवल दो ही वर्ष बाकी रह गए हैं उनका भाग्य खुलने में।

५

किशोर जब युवावस्था की देहरी पर पांव रखता है तो एक नये संसार से उसका परिचय होता है, जिसके अन्तर्गत नई-नई उमगें और भावनाएं उसके अन्तर में जाग उठती हैं। नई मित्रताएं उसे आकृष्ट करती हैं। उसे अपने जीवन-मार्ग पर कई अनदेखे-अनजाने मोड़ दिखाई देने लगते हैं, जिनके बारे में वह कभी-कभी यही निश्चय नहीं कर पाता कि उसे किस मोड़ की ओर अग्रसर होना है। उस समय उसके अन्तर को कई प्रकार की आकांक्षाएं गुदगुदाने लगती हैं—अच्छी भी, बुरी भी। उसे अपने में कई प्रकार के अभाव भी खटकने लगते हैं, जिनकी पूर्ति के लिए अथवा प्रस्तुत मोड़ों में से किसी एक की ओर मुड़ने के लिए उसे किसी सहायक की आवश्यकता अनुभव होती है। मित्र के रूप में, पत्नी के रूप में, गुरु के रूप में अथवा ऐसे व्यक्ति के रूप में जिसमें एक साथ सभी कुछ हो—मित्र भी, पत्नी भी, गुरु भी।

नवीं कक्षा में पहुंचने पर चन्दन सम्भवतः उसी स्थिति में था। तब तक वह सत्रहवां पार करके अठारहवें में पदार्पण कर चुका था। पर देखने में बीस-बाईस का जान पड़ता था।

यों तो अब तक स्कूल के बहुत-से छात्रों के साथ उसकी मित्रता स्थापित हो चुकी थी, पर जिसे शत-प्रतिशत मित्र कहा जाता है—जिसके साथ रोटी का ग्रास और पानी का घूंट तक साझा हो—ऐसे किसी मित्र की प्राप्ति उसे अभी तक नहीं

हो पाई थी। ऐसे ही किसी मित्र की अब उसे आवश्यकता थी अथवा जिसका अभाव उसे खटका करता था। और संयोगवश एक दिन अनायास ही उसे वह मिल गया।

लड़का अभी-अभी चन्दन की कक्षा में प्रविष्ट हुआ था। पर नया होने पर भी स्कूल के कई छात्र उसे अथवा उसके बारे में बहुत कुछ जानते थे। इसी कस्बा 'वलटोहा' का रहने वाला था वह।

नाम था ब्रिजेन्द्र अर्थात् सरदार ब्रिजेन्द्रसिंह। आधे नाम से उसे इसलिए पुकारा जाता क्योंकि वह छात्र था। या यूं कहिए कि पूरे नाम से इस कारण नहीं पुकारा जाता कि वह मास्टर नहीं था। उम्र को देखते हुए यदि कोई उसे भूल से अध्यापक भी समझ ले तो इसमें शायद उसका अधिक दोष न माना जाए। कद ठिगना-सा, और तोंद अच्छी-खासी थी। उसे देखकर चन्दन को विशेष प्रकार से खुशी हुई। पहले उसका ख्याल था कि क्लास में वही सबसे बड़ी उम्र का है, पर अब जो उसने अपने से भी बड़ी उम्र के उस युवक को नवीं क्लास में पाया तो उसे सन्तोष हुआ।

इस नये छात्र को देखकर बड़ी क्लासों के विद्यार्थी आकृष्ट तो हुए ही, साथ में खुसुर-फुसुर भी आरम्भ हो गई उनमें।

ब्रिजेन्द्र के पिता सरदार शमशेरसिंह ने इस गांव को छोड़कर लाहौर में फर्नीचर का कारखाना खोल लिया था। पुराना खिलाड़ी होने से अंग्रेज अफसरों से उसकी पटती थी, और उन्हींकी कृपा से उसे सरकारी दफ्तरों में फर्नीचर सप्लाई करने के भरपूर आर्डर मिल जाते, जिससे कारखाने का काम ज़ोर-शोर से चलने लगा। फिर देश का बंटवारा हो जाने के बाद शमशेरसिंह की पहली-सी शान-शौकत नहीं रह गई, जबकि दूसरे लोगों की तरह उसे भी लाहौर छोड़ना पड़ा। यही अच्छा हुआ कि बंटवारे के अन्तर्गत उसके गांव को लाहौर ज़िले से काटकर अमृतसर से मिला दिया गया। लाहौर से अमृतसर पहुंचकर उसने कारोबार तो वही फर्नीचर का आरम्भ किया, पर अंग्रेज जा चुके थे, जिसके फलस्वरूप पहले जैसी मौज अब नहीं रह गई। यों भी अमृतसर में इस उद्योग में 'कम्पटीशन' चलता था। तिसपर यह स्थान करतारपुर से—जो पंजाब-भर में फर्नीचर का सबसे बड़ा केन्द्र माना जाता है—निकटतम होने से उसका पैर जम नहीं पाया।

फलतः कुछ ही समय में वह इस धंधे से ऊबकर किसी दूसरे व्यापार की टोह में लग गया।

आरम्भ से ही अस्वस्थ रहने के कारण शमशेरसिंह के शरीर का चरखा प्रायः उखड़ा-पुखड़ा ही चला आ रहा था, पर भगवान ने बुद्धि अच्छी प्रदान की थी, जिसके बूते पर दूर की कौड़ी फेंकने की उसमें पर्याप्त क्षमता थी। और इसीकी कृपा से उसने एक उपजाऊ धंधा ढूंढ निकाला।

काम चाहे खतरे वाला था, और बदनाम भी, पर शमशेरसिंह उन भावुक लोगों में नहीं था जो इससे डरकर कुबेर के वरदान को ठुकरा देता।

बटवारे के बाद पंजाब की लगभग सारी इण्डस्ट्री भारत में आ गई थी, विशेषतया कपड़े की, जिससे पाकिस्तान वालों के लिए कपड़े की किल्लत पैदा हो गई। खास तौर से फाइन माल—बोसकी, ट्विल, बारीक मलमल और बढ़िया लट्ठे का तो वहां पर अकाल ही पड़ गया। इनका मूल्य बढ़ते-बढ़ते दुगुने, तिगुने पर जा पहुंचा। और इसीसे सीमावर्ती तस्करों की किस्मत का सितारा चमक उठा।

शमशेरसिंह ने जैसे ही देखा कि इस व्यापार में पड़कर दोनों सीमाओं पर बसने वाले लोग वारे-न्यारे करने लगे हैं तो उसने भी इसी ओर रुख किया। सौभाग्यवश उसका गांव था सीमा के सिरे पर, और यहां उसकी जमीन के अतिरिक्त एक पुरानी हवेली भी थी, जिससे उसे और भी सहायता मिली। दूसरी सुविधा उसके लिए यह थी कि जितने भी निकटवर्ती गांव पाकिस्तान में चले गए थे उनमें रहने वालों से उसका पुराना हेल-मेल चला आ रहा था। विशेष तौर से 'महसरा', 'शेखपुरा', 'पत्तकलां', 'पतलूही', 'बल्लावाला' आदि गांवों से।

बलटोहा के तीनों ओर पाकिस्तानी गांव फैले हुए थे और चौथी दिशा में भारत के। जिससे दोनों ओर की सरहदी पिकटें पास-पास थीं। अर्थात् 'कलस' के मुकाबले में 'तरगे', 'कालिया' के निकट 'पमवी' और 'हट्टी' के सामने 'बंहगला' की पिकटें, जिनकी दूरी दो फर्लांग से लेकर डेढ़ मील से अधिक कहीं नहीं थी।

दूरदर्शी शमशेरसिंह इस बात से अनजान नहीं था कि स्मगलिंग का धंधा तब तक सफलता से चल नहीं सकता जब तक सरहद के निकटतम रहकर काम न किया जाए; जबकि दूर से आने-जाने पर कस्टम वालों की नजरों से बचे रहना सरल नहीं होता। इसीसे उसने बलटोहा वाली अपनी हवेली की मरम्मत करवाई। फिर पत्नी और साले को वहां भेज दिया। इसका कारण उसने यह प्रकट किया

कि ज़मीन की पैदावार को मुजारे ही डकार जाते हैं। और इधर बेकारी ने भी उसका नाकों दम कर रखा है।

शमशेरसिंह की धर्मपत्नी सरदारनी मानकौर वास्तविक 'सरदारनी' थी। उम्र पचास के आसपास होगी, पर भड़कीले पहरावे के कारण वह बुढ़िया कम और जवान अधिक दिखाई देती थी। स्वास्थ्य के तौर पर वह अपने पति जैसी मरि-यल न होकर हृष्ट-पुष्ट और चुस्त-चालाक थी। बातचीत करने की कला में प्रवीण और थोड़ा-घना पढ़ी-लिखी भी। इन्हीं गुणों के कारण वह अपने पति की न केवल सहायक बल्कि दायां बाज़ू बन गई। कारोबारी मामले में चाहे कितनी ही कोई समस्या उपस्थित हो, वह अपने चातुर्य से पति की चिन्ता दूर कर देती। यहां तक कि जब किसी बड़े आफीसर या किसी कौंसिलर इत्यादि से मिलने की आवश्यकता आ पड़ती तो सरदारनी अपनी कार में सवार होकर उन लोगों के बंगले पर जा पहुंचती, और वहां से प्रायः सफल होकर ही लौटा करती।

सरदारनी मानकौर का भाई था बेलासिंह, जो किसी समय फौज में सिपाही रह चुका था। वही अपनी बहन के सब कारोबारी मामलों का भेदी था। प्रकट तौर से चाहे उसके जिम्मे चौकीदारी का काम था, पर वास्तव में था वह अपनी बहन का असिस्टेंट। 'चौकीदारी' का काम तो उसने लोगों की आंखों में धूल झोंकने को अपना रखा था। उसके कन्धे पर यदि बन्दूक रहती तो कान में पेंसिल। उसकी बैल्ट में जितने कारतूस रहते उनसे कहीं अधिक मात्रा में उसकी नोटबुक में कारोबारी रहस्यों की सूचियां रहतीं। वेतन के नाम पर वह सत्तर रुपये पाता, पर इतनी-सी रकम यदि वह किसी भिखारी-मंगते को दे डाले तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं थी।

बेलासिंह का कद छः फुट दो इंच है, पर भांग, अफीम का पुराना आदी होने से वह इतना रुग्ण हो गया है कि बन्दूक-भर को उठा-रख पाना ही उसके लिए कम मुसीबत नहीं रहती। चलते समय शरीर का ऊपरी भाग आगे की ओर झूलता और निचला पीछे को। उसकी आंखें प्रायः अधमिटी हालत में रहती हैं, फिर नज़र उसकी कम तेज़ नहीं हैं। वैसे भागने-दौड़ने में होशियार है। मोटर एक गैलन तेल से जितना चलती है, बेलासिंह की टांगें एक गिलास भांग से उससे कम नहीं चलती होंगी। स्नान करने की उसे आदत नहीं है। जब कभी कोई मित्र इसके बारे में उसे पूछे तो उत्तर में कहा करता है—"जन्म लेने पर हमें दाई ने

नहलाया था, मरने पर भाई (आचार्य) नहलाएगा।"

पत्नी और साले की सहायता से शमशेरसिंह का धंधा जल्दी ही चल निकला और उसकी तिजोरी भरती चली गई। इधर से जो फाइन माल खच्चरों पर लादकर पाकिस्तान भेजा जाता वही कुछ दिनों बाद करेंसी नोटों के रूप में बदलकर लौट आता। इसका कुछ भाग सरदारनी अपनी पार्टी के सदस्यों में बांटकर शेष को खुद संभाल लेती। पूरी को-आपरेटिव सोसायटी जैसा ढंग चलता था, जिसमें साझीदारों के अतिरिक्त कई कर्मचारी भी थे। प्रतिमास खूब मोटी-मोटी रकमें प्राप्त होतीं। पर इतने पर भी यदि वह उसी फर्नीचर के धंधे को गले बांधे बैठा था तो इसलिए कि किसीको उसपर किसी प्रकार का सन्देह न होने पाए।

एक लम्बे समय तक यह धंधा जोर-शोर से चलता रहा, पर बाद में जब पाकिस्तान सरकार ने भी कपड़े के कारखाने खोलने आरम्भ कर दिए और दूसरी ओर तस्कर व्यापार पर कड़ी निगरानी होने लगी तो सरदार शमशेरसिंह के काम में भी शिथिलता आने लगी। अन्ततः जब इसमें लाभ कम और खतरा अधिक दिखाई देने लगा तो सरदार-दम्पति द्वारा को-आपरेटिव सोसायटी को सूचित कर दिया गया कि फिलहाल इसे बन्द कर दिया जाता है। पर इसे बहुत दिनों तक बन्द नहीं रहना पड़ा, जब उसके बाद शीघ्र ही एक बार फिर उन लोगों के लिए कुबेर के द्वार खुल गए। अर्थात् बजाजी का स्थान सोने ने ले लिया। अपेक्षाकृत यह काम अधिक उपजाऊ था। इसमें प्रति तोला पन्द्रह-बीस रुपये की बचत हो जाती थी, और बजाजी की तरह इसे पहुंचाने के लिए न तो खच्चरों की आवश्यकता थी न ही गधों की। मुट्ठी का माल ही तो था। साधारण से ट्रक या सूटकेस में लाखों रुपये की चीज़ समा सकती थी। अतः शमशेरसिंह अमृतसर में बैठे तार हिलाए जाता, और सीमा पर उसकी आज्ञा का पालन किया जाता। पाकिस्तान से पसेरियों सोना आता और अमृतसर में हाथों-हाथ बिक जाता।

इसी बीच में शमशेरसिंह के भेजे में खुजली-सी होने लगी कि लाखों रुपये का कारोबार मैंने उस भंगड़ बेलासिंह के हाथों में दे रखा है। भले ही सरदारनी वहां पर मौजूद है, पर है तो आखिर औरत ही, क्या जाने कब भाई के किसी चकमे में आ जाए। इसके सिवा अपने बेटे के बारे में भी वह कम चिन्तित नहीं था, जो गत चार वर्षों से उत्तरोत्तर फेल हुए चला आ रहा था, और अन्त में पढ़ाई से मुंह फेरकर आवारा युवकों की संगत में घूमने लग गया था।

ऐसे तो वह न जाने कितना डकार जाता होगा।

ब्रिजेन्द्र को यह उपदेश अच्छा नहीं लगा, पर मां का रोब ही कुछ ऐसा था कि ब्रिजेन्द्र को छोड़, ब्रिजेन्द्र का बाप भी जिसके सामने थरथर कांपता था। ऊपरी तौर से उसने कह-सुनकर मां को चाहे सन्तुष्ट किया, पर चन्दन के स्वभाव को वह खूब परख चुका था। उसे डर था कि फीस का नाम सुनते ही वह सटपटा उठेगा। ऐसा भी सम्भव था कि आवेश में आकर चन्दन उसके हाथ से ही निकल जाए। यदि ऐसा हो गया तो उसकी यह आशा कभी भी फलीभूत नहीं हो पाएगी, जिसकी चन्दन ने उसे गारण्टी दे रखी थी—पास होने की। अतः उसने फीस-वीस के बारे में उसे कुछ नहीं कहा।

७

चन्दन अब पहले जैसा चन्दन नहीं रह गया। अपने धनी-मानी मित्र के सम्पर्क में आने के बाद उसके रंग-ढंग में, चाल-ढाल में बहुत अन्तर आने लगा। वह जब मित्र की बांह में बांह डाले स्कूल के अहाते में प्रविष्ट होता कि छोटे-बड़े सबकी नजरें उसकी ओर उठ जातीं—सब कोई जानते थे कि एक बड़े रईस के बेटे से उसकी दोस्ती है। यों तो पहले से ही चन्दन का रोब कुछ कम नहीं था, पर अब तो सोने में सुगन्ध भर गई। चन्दन का लम्बा-तगड़ा शरीर अब अच्छे-खासे सूट में सुशोभित रहता। पैरों में बूट और सिर पर से आठ गज की वह पगड़ी नदारद। अब वह दूसरे हिन्दू छात्रों की तरह अंग्रेजी ढंग से बाल कटवाने लगा था। पर इतने पर भी यदि कोई बात उसे कभी-कभी परेशान कर देती तो उन लड़कों की उसके प्रति उपेक्षा जो पहले उसे मानते थे—उसके पीछे लगभग चला करते थे, और अब आंख तक नहीं मिलाते थे।

वस्तुतः चन्दन का स्वभाव अब इतना बदल चुका था कि पहले की सी कोई भी बात उसमें दिखाई न देती थी। उसमें पहले की सी नम्रता और सहृदयता नाम को भी नहीं रह गई थी। मानो अपने मित्र की अकड़-फूं का पचास प्रतिशत भाग उसे प्राप्त हो गया हो। उसे अब बहुत-से लड़के बुरे जान पड़ने लगे थे—

खलने लगा था।

ननमुटाव यहां तक बढ़ा कि तैश में आकर वह

गया। जिन्हें मार भी पड़ी और जख्म भी आए, वे मुंह जोड़-जोड़कर कहने लगे—"बड़े आदमी का लड़का है न, तभी तो पक्षपात से काम लिया गया—अच्छा, देख लेंगे।"

फिर तो गुटबन्दी का क्रम चलने लगा। एक ग्रुप के लीडर थे चन्दन और ब्रिजेन्द्र, दूसरे का था एक आई० सी० एस० का लड़का और ठेकेदार का भतीजा मनजीतसिंह।

चन्दन यदि पहली स्थिति में होता तो सम्भव था कि आई० सी० एस० एवं ठेकेदार के लड़के के सामने हथियार डाल देता, पर अब तो उसका पीछा भारी था। ब्रिजेन्द्र के पापा जी क्या किसी आई० सी० एस० या ठेकेदार से कम थे? ऐसे लोग तो उसके पनीहार हैं। फिर उसका मित्र क्यों झुके किसीके सामने! अतः दोनों ने ललकारकर कह दिया—"जिसने पांच-तीन की, उसे हम थाने पहुंचाकर दम लेंगे।"

पर उधर भी तो जमींदारों के लड़के थे, उन्हें भी तो अपने साधनों पर गर्व था। इस धमकी के उत्तर में उन्होंने चन्दन को कह दिया—"अरे जा बड़े नवाब के बेटे! अभी कल ही तो बदन पर चिथड़े लटकाए फिरता था! गधे ने शेर की खाल पहन ली तो क्या वह गधा नहीं रहा?"

बात का कहीं बतंगड़ न बन जाए, इसे भांपते हुए ब्रिजेन्द्र चन्दन को खींचकर घर की ओर ले चला यह कहते हुए—"दफा कर यार, ऐसे कमीनों को। हमारी पोज़ीशन क्या 'ऐलाउ' करती है जो इन्हें मुंह लगाएं? एक-एक से अगर बदला न लूं तो मैं अपने बाप का नहीं।"

सम्भवतः मामला और भी बिगड़ जाता यदि वार्षिक टेस्ट का समय न आ पहुंचता। सब कोई अपनी तैयारी में जुट गए और बात अंशतः ठंडी पड़ गई।

नवीं के इम्तिहान में चन्दन खासी पोजीशन में पास हुआ, और ब्रिजेन्द्र भी लकड़ी के साथ लोहे की तरह लगकर तैरने में सफल हुआ। चन्दन को अपने से भी कहीं अधिक खुशी ब्रिजेन्द्र के पास होने की थी।

फिर दोनों मित्र साथ-साथ दसवीं में दाखिल हुए। चन्दन की योग्यता का सिक्का चाहे सब मानते थे, पर पहले की तरह वह अब छात्रों की नज़रों में ऊंचा नहीं रह गया। चन्दन में प्रतिशोध के भाव भरे चले जा रहे थे। अब जिस-तिसके

साथ साँग फंसा लेने में उसे मजा आता, विशेषतया अपने मित्र विजेन्द्र के पक्ष में होकर। स्कूल में कभी-कभार कोई न कोई टंटा खड़ा हो ही जाया करता।

फिर एक ऐसी घटना घटी जिसने 'चन्दनराम' को अनायास ही 'चन्दनसिंह' बना दिया। शब्द-कीर्तन करने में वह दक्ष था और उससे भी बढ़कर संबचर देने में। सदा की भांति अब के भी गुरु नानकदेव जी का जन्मदिवस धूमधाम से मनाया गया, जिसके अन्तर्गत अच्छा गाने-बोलने वाले छात्रों को पुरस्कार दिए गए। चन्दन ने दोनों इनाम जीते—गाने का भी और संबचर का भी। फलतः जहां चन्दन का उत्साह बढ़ा वहां उसके विरोधी दल में एक बार फिर विरोध की आग भभकने लगी। वे इस बात को उछालने लगे कि पुरस्कार-वितरकों ने पक्षपात से काम लिया है। फिर आग पर जिस घटना ने तेल छिड़का वह भी कुछ कम महत्व की नहीं थी। धार्मिक टीचर की बदली हो गई थी। जब तक उनके स्थान पर दूसरा टीचर न आ जाए तब तक के लिए सवेरे की प्रार्थना इत्यादि का प्रबन्ध चन्दन को सौंप दिया गया। इस अस्थायी असामी के लिए दो-तीन और छात्र भी आशा लगाए बैठे थे, पर उन्हें सफलता नहीं मिली। इसपर सहसा विरोधी पार्टी को एक ऐसा अस्त्र मिल गया जिसके प्रयोग से चन्दन का वह पद छीना जा सकता था। अर्थात् चन्दन हिन्दू है। और हिन्दू को सिखों के धार्मिक ग्रुप का लीडर नहीं बनाया जा सकता। इस बात को लेकर विरोधी पक्ष ने स्पष्ट घोषणा कर दी कि चाहे खून की नदियां ही क्यों न बह जाएं वे ऐसा अन्याय कदापि न होने देंगे। तब देखते ही देखते यह मसला साम्प्रदायिक रूप धारण कर गया, और आन की आन में झगड़े की सीमा तक जा पहुंचा।

चन्दन का पक्ष वस्तुतः कमजोर था और उसकी पार्टी भी अल्प संख्या में थी। पर यहां तो जिन्दगी-मौत का सवाल था। चन्दन ने तुरन्त एलान कर दिया कि—"यदि इसी बात पर उसे पदच्युत किया जाना है तो वह सिख बनने को तैयार है।"

फिर क्या था! चन्दन के विरोधी भी उसके पक्ष में हो गए। धर्म का मामला जो था। अब चन्दन के मार्ग में से न केवल सब रुकावटें दूर हो गईं, बल्कि साथ और उसकी सराहना भी होने लगी। मानो चन्दन की यह विजय ... की विजय थी अथवा सम्पूर्ण हिन्दू कौम की पराजय।

८

कहना नहीं होगा कि 'चन्दन एण्ड को' की यह बहुत बड़ी विजय थी। पर इसकी प्रतिक्रिया अच्छी नहीं हुई। स्कूल-भर में साम्प्रदायिकता की रस्साकशी होने लगी। हिन्दू छात्रों की गिनती चाहे कम थी, पर चन्दन के सिख बन जाने के बाद यह चर्चा पूरे ज़ोर से चलने लगी कि स्कूल के एक हिन्दू विद्यार्थी को ज़बरदस्ती सिख बना लिया गया है, जो फैलते-फैलते दूर तक जा पहुंची, जिसके फलस्वरूप कई हिन्दुओं ने अपने लड़कों को स्कूल से उठा लिया। चाहे चन्दन-ग्रुप की ओर से कम सफाई नहीं दी गई कि वह अपनी खुशी से सिख बना है, और उसके पालक मां-बाप भी सिख हैं, पर मज़हब के जनूनी लोगों ने बहुत दिनों तक वातावरण को विषमय बनाए रखा। अन्ततः कुछ समझदार व्यक्तियों के बीच-बचाव करने पर मामला कुछ ठंडा पड़ा। पर उसके बाद भी वातावरण में किसी न किसी बात की आड़ में तब तक उथल-पुथल होती ही रही जब तक कि मैट्रिक की परीक्षा का समय निकट नहीं आ पहुंचा।

मैट्रिक की क्लास को विदाई देने के लिए प्रतिवर्ष फंक्शन हुआ करता था, अब के भी हुआ। बिछुड़ते समय हम छोटे-मोटे वैर-विरोध भूल जाया करते हैं। चन्दन के साथ जिन लड़कों की अभी तक खारबाज़ी चली आ रही थी इस मौके पर उनमें से अधिक के मन साफ हो चुके थे, पर ब्रिजेन्द्र के बारे में वही घृणा पाई जाती थी। सब किसीको यही विश्वास था कि चन्दन स्वाभाविक तौर से बुरा नहीं है, उसे जो बिगाड़ा है तो इसी ठिगने ने।

विदाई का समारोह आरम्भ हुआ। हैडमास्टर महोदय ने सदा की भांति भावपूर्ण भाषण दिया। विशेषतः चन्दन के बारे में बोलते हुए तो उनका गला रुंध गया और आंखें सजल हो उठीं।

हैडमास्टर के वक्तव्य के बाद अपनी क्लास की ओर से आभार प्रकट करने को चन्दन खड़ा हुआ। कुछ तो वैसे ही वह स्टेज पर बोलने में कुशल था, तिसपर समय ही कुछ ऐसा था कि हाल में सन्नाटा छा गया जब उसने अपने हैडमास्टर और दूसरे टीचरों के प्रति नपे-तुले शब्दों में आभार प्रकट किया। इसे सुनकर उसके विरोधी भी प्रभावित होने से नहीं बचे। कोई-कोई कहते सुने गए—"भाई, चन्दन है तो खरा सोना, मगर इसका सत्यानाश कर दिया इस नाटे ने।"

समाप्ति पर मैट्रिक वालों के गले में हार डाले जाने लगे। किसीके गले में

चार, किसीके छः पड़े। पर चन्दन की गर्दन कानों तक पट गई। सबसे कम—केवल एक ही हार जो दिखाई दे रहा था तो ब्रिजेन्द्र के गले में, जो नियमानुसार हैड-मास्टर द्वारा दूसरे छात्रों के साथ उसे भी पहनाया गया।

चन्दन की खुशी की आज कोई सीमा नहीं थी। विशेष तौर से हैडमास्टर द्वारा कहे हुए इन वाक्यों ने उसे नशा-सा चढ़ा दिया—"...और मैं विश्वास से कह सकता हूं कि यह नौजवान निकट भविष्य में सितारा बनकर हमारे आकाश में चमकने वाला है।"

प्रेममय आलिंगनों और मैत्रीपूर्ण हाथ-मिलौनियों के बाद फंक्शन की समाप्ति हुई। सदा की भांति आज भी चन्दन और ब्रिजेन्द्र हाथ में हाथ डाले स्कूल के अहाते से निकले। आज इन दोनों की मानसिक दशा में बहुत बड़ा अन्तर था। चन्दन यदि उत्साह और खुशी में झूम रहा था, तो ब्रिजेन्द्र का मन डिगूं-डिगूं कर रहा था। जितनी बार भी उसका ध्यान चन्दन की फूलों में छुपी हुई गर्दन की ओर जाता, डाह की लपट उसके सीने से उठकर सिर की ओर बढ़ने लग जाती। फंक्शन के अन्तर्गत भी उसकी यही स्थिति बनी रही थी, जबकि वहां सब किसीकी जबान पर चन्दन का ही नाम था—पर किसीने उसकी श्लाघा में एक शब्द तक नहीं कहा था।

घर के निकट पहुंचकर एक बार फिर उसने ईर्ष्या-भरी नजरों से चन्दन की ओर ताका। मन ही मन सोचने लगा—'कितना ओछा है यह जो दस-पांच हार पहनकर और तारीफों के दो-चार वाक्य सुनकर फूला नहीं समा रहा है, जैसे खुदा की खुदाई पा गया हो।'

अन्ततः जब इसे सहन कर पाना उसके लिए दूभर हो उठा तो घर में प्रविष्ट होने से पहले वह चन्दन से बोला—"यार, इन्हें हमें उतार देना चाहिए—आउट आव् ऐटीकेट जान पड़ता है।" और कहते-कहते उसने अपने गले से हार निकाल-कर कोट की जेब में ठूंस लिया।

चन्दन को बात अच्छी ही लगी। उसने भी गर्दन खाली कर दी, पर झोली-भर फूलों को जेब में डालना उसके लिए कठिन था—हाथों में ही थामे रहा। ब्रिजेन्द्र से जब यह भी सहन न हो सका तो उसने जेब से रूमाल निकाला और चन्दन से हार थामकर उसमें बांधने लगा। कुछ तो फूलों की बहुतायत और कुछ रूमाल छोटा, उसमें समा पाते तो कैसे। और जो नंगे रह जाएंगे तो इसका फल होगा

कि घर में घुसते ही सब लोगों की नज़र उनपर पड़ेगी । पर इन्हें छुपाने का भी तो उसके पास कोई साधन नहीं था। अतः घर में घुसते ही चन्दन की आंख बचाकर उसने उन्हें कहां डाल दिया, चन्दन नहीं जान पाया ।

९

हाई स्कूल का कोर्स समाप्त करने के बाद विद्यार्थियों को अपना मन और शरीर हल्का-फुल्का जान पड़ने लगता है । तब उनके वर्तमान और भविष्य की सीमाएं इतनी निकट आ जाती हैं कि वे एक ही छलांग लगाकर इधर से उधर जा पहुंचने को बेकरार हो उठते हैं। जिन्हें कालेज जॉइन करना होता है वे फर्स्ट ईयर के स्वप्न लेने लगते हैं, और जिन्हें कमाने की मशीन बनना होता है वे प्रायः दैनिक पत्रों के 'वाण्टेड' शीर्षक कालमों में आंखें गड़ाने लगते हैं।

चन्दन को इन विषयों पर चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं थी, जबकि ब्रिजेन्द्र उसे आश्वासन दिला चुका था कि परीक्षा के समाप्त होते ही वह अपने पापा जी की सिफारिश से उसे कोई अच्छी नौकरी दिलवा देगा।

उधर इम्तिहान की तैयारी के लिए छुट्टियां हुई, इधर ब्रिजेन्द्र ने अमृतसर जाने की तैयारी आरम्भ की। पुराने मित्रों की ओर से उसे पत्र पर पत्र चले आ रहे थे, और वह वादे पर वादे किए जा रहा था। इम्तिहान का सेंटर भी तो अमृतसर ही था। उसने सोचा—क्यों न वहीं जाकर तैयारी की जाए।

चन्दन की इच्छा थी कि छुट्टियां अपने गांव में रहकर व्यतीत करे पर ब्रिजेन्द्र था कि क्षण-भर के लिए भी उसकी जुदाई को सहन नहीं कर पाता। फिर क्या चन्दन इतना कठोर था जो अपने कृपालु मित्र की याचना को ठुकरा देता ? अतः यही निश्चय हुआ कि दोनों साथ-साथ अमृतर जाएंगे, और वहीं पर इम्तिहान की तैयारी होगी । इम्तिहान तो साथ-साथ देना ही था उन्हें।

घर में बहुत दिनों से चन्दन की प्रतीक्षा हो रही थी । केवल घर में ही नहीं, गांव-भर में। चन्दन के बारे में वहां कई प्रकार की बातें चलने लगी थीं । कोई कहता कि वलटोहा वाले सरदार ने उसे दत्तक पुत्र बना लिया है तो कोई कहता कि सरदार के लड़के ने चन्दन से पगड़ी[1] बदली है। इसके अतिरिक्त कहा जा रहा

१. पंजाब में पगड़ी बदलने का अर्थ है जीवन-भर के लिए प्रगाढ़ मित्रता का प्रण।

था कि बलटोहा वाले सरदार की सिफ़ारिश से चन्दन को कोई बड़ी नौकरी मिलने वाली है। इनमें कुछ तो अफ़वाहें थी और कुछ गुरो और नाहरसिंह द्वारा सुनी हुई बातों का पुट।

ब्रिजेन्द्र के साथ अमृतसर चलने का वादा करके चन्दन एकाध दिन के लिए गांव लौट आया। वहां पहुंचने पर घर वालों द्वारा तो उसका सम्मान होना ही था, बाहर वालों ने भी इसमें कुछ उठा नही रखा। वह अब 'चन्दन' के स्थान पर 'चन्दनसिंह' कहकर पुकारा जाने लगा। कोई-कोई तो उसके सम्बोधन में एक विशेषण भी जोड़ देता 'सरदार चन्दनसिंह'। सिख बन जाने पर उसका रोब भी तो सरदारों से कुछ कम नही था। शारीरिक गठन और रंग-रूप में तो वह पहले ही कम रोबीला नही था, इसपर जब से उसे अपने मित्र के यहां रहकर खुला खाने-पीने को मिलने लगा तो उसपर आश्चर्यजनक कांति आने लगी। और इस सबके होते हुए भी यदि उसकी सरदारी में कुछ कमी रह गई थी तो वह उस सूट और बूटों के जोड़े ने पूरी कर दी जो ब्रिजेन्द्र द्वारा प्राप्त हुए थे; दोनों चीजें चाहे सैकिंड हैण्ड थी।

चन्दन के इतनी जल्दी लौट जाने की बात पर गुरो के मन को कष्ट हो रहा था। उसकी पंजो आज ही कल में बिआने वाली थी, जिसका दूध-घी वह बेटे को अपने सामने बैठालकर खिलाने-पिलाने की प्रतीक्षा में थी। पर चन्दन क्या इस साधारण-सी बात पर रुक सकता था? और दूध-घी की तो उसके मित्र के घर में भी कमी नही थी। उसने ये सब बातें गुरो को कह सुनाईं।

इतना सब सुन लेने पर भी गुरो के मन में जब धीरज नही बधा तो चन्दन ने बात चलाई—"तू तो मां, नाहक घबराने लगी। क्या तू नही चाहती कि तेरा बेटा कुछ करके दिखलाए? इम्तिहान होते ही जब चार-पांच सौ की नौकरी लेकर लौटूंगा तो तेरा तन-मन खिल उठेगा। फिर भी अगर तुझे यह सब नही चाहिए तो जाने दे—नही जाऊंगा।"

गुरो का रोम-रोम पुलकित हो उठा। ऊपर से नाहरसिंह ने उसे डांट बताई—"पगली! शुक्र कर जो हमारे भाग खुलने लगे हैं। और अमृतसर क्या काबुल-कंधार है? आवाज़ लगाई वहां पहुंचती है।"

गुरो प्रायः स्वीकारात्मक स्वर में बोली—"सो क्या मैं नही जानती हूं चन्दन के बापू। पर क्या करूं, बहुत छोटा दिल है मेरा। अच्छा, कोई बात नहीं—सह

लूंगी जैसे भी बन पड़ेगा।" अन्ततः दोनों ने पुत्र को विदा किया, फिर भी गुरो के आग्रह पर चन्दन को एक की बजाय दो दिन घर में रहना ही पड़ा। पर उसे जान पड़ने लगा जैसे दो महीने गुज़ारकर लौट रहा है। ब्रिजेन्द्र से ऐसा ही कुछ उसका प्रेम बढ़ गया था। गांव के मित्रों और बड़े-बूढ़ों ने भी लौटते समय उसे शुभ-कामनाएं और आशीर्वाद प्रदान किए।

यों तो ब्रिजेन्द्र इससे पहले भी कई बार चन्दन को अमृतसर ले जा चुका था, पर तब बात और थी—एकाध दिन के लिए गए और लौट आए—किसीने देखा किसीने न देखा। पर अब के तो चन्दन को एक महीने के लगभग उसके पास टिकना है। मिलकर पढ़ना है, मिलकर घूमना है। तब उसके दोस्त, मित्र—जो बहुत बड़े मां-बापों के बेटे हैं, चन्दन को देखकर क्या कहेंगे! कितना अच्छा हो अगर वहां जाकर वह उसे दो-एक अच्छे सूट और कुछ दूसरे कपड़े सिलवा दे! पर इसके लिए तो उसे भाबो जी की स्वीकृति चाहिए थी। वही तो घर की सर्वेसर्वा हैं। अमृतसर में रहते हुए ब्रिजेन्द्र को पैसे की कमी नहीं रहती थी। कई ढंगों से वह बाप की आंखों में धूल झोंककर वसूल कर लिया करता था। पर जब से वह गांव आ टिका है उसे प्रायः मां के ही आश्रय पर रहना पड़ा, और मां का स्वभाव था मक्खीचूस, फिर करे तो क्या करे।

रात सोने से पहले ब्रिजेन्द्र ने मां के सामने जब यही प्रसंग चलाया तो वह चट बोली—मानो पहले से ही तैयार है—"पहले क्या कम कपड़े दे रखे हैं तूने उसे?"

ब्रिजेन्द्र पहले तो तनिक दुबका, फिर साहस बटोरकर बोला—"आप ही तो कहती हैं भाबो जी, कि गर्ज़ के वक्त गधे को भी बाप कहना पड़ता है। अगर वह मेरी मदद न करता तो क्या मैं पास हो पाता? और अभी तो बहुत बाकी है भाबो जी। दसवीं की तैयारी करना कुछ मजाक नहीं है। उसे जो साथ ले जा रहा हूं तो इसलिए नहीं कि उसकी जुदाई में घुला जा रहा हूं। बल्कि अपना ही मतलब निकालने को। और फिर वहां जाकर पोज़ीशन का भी तो सवाल रखना है। लोग क्या कहेंगे कि यह ऊदबिलाव ब्रिजेन्द्र का दोस्त है?"

देर तक भाबो जी सोचती रहीं। फिर बोलीं—"पर तुझे किसने कहा कि दोस्त कहकर उसे दूसरों से जान-पहचान करा। कह देना कि मेरा ट्यूटर या क्लर्क है।"

"ऐसा नहीं हो सकता भाबो जी। वह बड़ा सनकी तबियत का है। अगर उसे

पता चल जाए कि मैं उसे नौकर के तौर पर रखे हुए हूँ तो पड़ोसन भी नहीं टिकेगा।"

बात कुछ-कुछ जंचने लगी माजी को, पर ऐसी नहीं कि वे त्रिवेन्द्र का प्रस्ताव मानने को तैयार हो जाएं। बोलीं—"तो ऐसा कर कि यहां जो तेरे बोसियों पुराने सूट-बूट पड़े हैं, दे देना, ठीक-ठाक कराकर।"

त्रिवेन्द्र हंस दिया—"माजी तो भावो जी, अजीब बात कहती हैं। कहां मेरा कद और कहां उसका।"

"यह तो ठीक है, पर क्या दर्जी को देकर उन्हें ठीक नहीं करवाया जा सकता है?"

अब त्रिवेन्द्र के पास कोई दलील नहीं थी जिसके द्वारा मां की बात को काट सके। उसने सोचा—बात किसी हद तक ठीक भी तो थी, भावो जी की। कहावत है कि जितना सांप लम्बा उतना कच्छू चौड़ा। सयाना दर्जी यदि चौड़ाई में से कपड़ा काटकर उसे लम्बाई बढ़ाने में लगा देगा तो काम चल ही जाएगा। और जो इस तरह से काम चल सकता है तो क्यों फिजूल में सौ डेढ़ सौ का चूना लगाया जाए। और यदि इसमें सफलता न मिली—दर्जी ने न माना तो फिर वही ढंग ठीक रहेगा—कबाड़ी की दुकान से सेकिंड हैंड सूट खरीदना, जैसे इससे पहले एक बार खरीदा था। इसी बात पर मां-बेटे में समझौता हुआ।

और अगले दिन चन्दन के लौट आने पर दोनों मित्र अमृतसर जा पहुंचे।

१०

कोठी चाहे चन्दन के लिए नई नहीं थी—पहले भी कई बार देख चुका था, पर उसके प्रत्येक भाग को अच्छी तरह देखने का सौभाग्य उसे अब ही प्राप्त हुआ। सभी कुछ उसके लिए महान और अद्वितीय था। हर चीज उसकी आंखों को चौंधियाने वाली थी। गैरेज में जगमगाती हुई स्लेटी रंग की दो कारें, जिनके बारे में त्रिवेन्द्र उसे बता चुका था कि पंजाब-भर में इस मॉडल की दो तीन ही कारें होंगी। उसका मन नाच-नाच उठता यह अनुभव करते हुए कि एक महीना या इससे अधिक समय के लिए उसे इस आनन्दपुरी में निवास करना है, और फिर इष्ट मित्र के रूप में।

दूसरे दिन जब अपने मित्र-सहित कार में बैठकर वह सैर को निकला तो रास्ते में मीठी-मीठी, प्यारी-प्यारी बातों का क्रम चलने लगा :

"चन्दन ! एक बात पूछं ? सच-सच बताना ।"

"बताओ, मैंने तुमसे कभी झूठ नहीं बोला है ?"

"बात यह है कि दोस्त के मुंह पर उसकी तारीफ करना निन्दा के बराबर होता है। सच कहता हूं, अगर तुम्हारा साथ न पा जाता तो किसे उम्मीद थी यूनिवर्सिटी हाल की दहलीज पर पांव रखने की। सात जन्म में भी तेरे अहसान नहीं भूल सकता।"

"अरे यार।" चन्दन ने घुड़की बताई—"क्या बार-बार वही फिजूल की बातें करने लग जाते हो ? क्या मैंने एक मित्र से बढ़कर कुछ किया है जो तुम हर वक्त इसी बात को रटते रहते हो ?"

"मुझे तुम्हारी दोस्ती पर गर्व है चन्दन। अपने जाने तुमने मुझपर एहसान न किया हो, पर सच कहता हूं, यह सब तुम्हारी ही मेहनत का नतीजा है। सो मेरी रूह को उसी दिन इत्मीनान होगा जिस दिन मैं इसका कुछ बदला चुका पाऊंगा।"

'बदला' शब्द सुनकर चन्दन के मन में मीठी-मीठी गुदगुदी होने लगी। वह आनन्दविभोर होकर बोला—"कैसा बदला ?"

"चाहे जैसा भी समझो, पर मुझे साफ-साफ बताओ चन्दन, कि मैं तुम्हारे किस काम आ सकता हूं ? छुपाना मत, तुम्हें मेरी सौगंध है।"

चन्दन अपने मित्र को आज सब दिनों से बढ़कर कृपालु पा रहा था—मानो जान तक छिड़कने को तैयार है। वैसे तो इससे पहले भी बातों-बातों में व्रिजेन्द्र उसे इस प्रकार के आश्वासन दिला चुका था, पर आज तो वह कुछ ऐसे मूड में था—संभवतः यह सुरापान का ही परिणाम हो—कि जैसे कुबेर के ख़ज़ाने की चाबियां हाथ में लिए बैठा हो, और केवल चन्दन के लिए। चन्दन को अब से पहले ऐसा मौका कम ही मिला था जब वह दिल खोलकर उसके सामने घर-द्वार की समस्याओं का बखान कर सके। इस अवसर से लाभ उठाने के विचार से वह बोला—"व्रिजेन्द्र, यह गलत होगा अगर मैं तुम्हारे सामने डींग हांकूं कि मुझे तुम्हारी सहायता की जरूरत नहीं है। पहले अगर बढ़ा-चढ़ाकर बातें करता रहा तो इसलिए कि मेरी गरीबी पर कहीं तुम्हें नफरत न होने लगे, या तुम यह न सोचो

कि शायद मैं अपनी मेहनत का मुआवज़ा मांगना चाहता हूं। वरना…"

"पागल!" मित्र ने टोका—"तुमने मुझे ऐसा ओछा समझ रखा है? हां, बता अपने मन की बात।"

चन्दन अब के खुलकर बोला—"तुम्हारे घर पर वाहिगुरु की बड़ी कृपा है ब्रिजेन्द्र, और मैं जानता हूं कि पारस से छू जाने पर लोहा भी सोना बन जाता है—पापा जी की आख के इशारे से ही मेरे जैसों की किस्मत बदलने में देर नहीं लगती है। सो अगर मेरे दिल की बात कहलवाना चाहता है तो वह बस इतनी है कि मेरे लिए जल्दी से जल्दी सेर-भर अनाज का प्रबन्ध हो जाए—इससे ज्यादा मैं कुछ नहीं चाहता।" और फिर उसने अपने आर्थिक संकटों का बखान करते हुए कहा—"तुम्हें कैसे बताऊं ब्रिजेन्द्र, हमारे घर की हालत बहुत खराब है। यही समझ लो कि मौत के दिन पूरे कर रहे हैं। बहुत साध थी मन में कि हाई एजूकेशन पाकर किसी पोज़ीशन पर पहुंच पाऊं! पर यह क्या मेरे मां-बाप के बस का रोग था, जबकि मुझे मैट्रिक तक पहुंचाने तक ही उन लोगों का कचूमर निकल गया है।"

सुनकर मानो ब्रिजेन्द्र सहानुभूति के रंग में रंग गया—"मेरे भाई, तुम्हें बीसियों बार कह चुका कि इस बात की तुम रत्ती-भर फिक्र मत करो। पर तुम हो कि बार-बार वही पिसे को पीसे चले जा रहे हो। भला यह भी कोई मददों में मदद है?—यह तो पापा जी के बाएं हाथ का काम है। मेरे पूछने का मतलब यह है कि कोई बड़ा-सा काम बता।"

"बड़ा-सा?" चन्दन ने जिज्ञासा प्रकट की।

"हां, मेरा मतलब है कि अगर गांव में तुम लोगों को किसी किस्म की असुविधा हो—किसीसे वैर-विरोध हो—कोई तुम लोगों को परेशान करता हो तो उसे मैं फौरन सीधा करवा सकता हूं—पापा जी की पहुंच दूर तक है—सब-इन्स्पेक्टर से लेकर एस० पी० तक सब उनकी मुट्ठी में हैं।"

"नहीं भाई, हमारा कोई दुश्मन नहीं है, और अगर कोई सबसे बड़ा दुश्मन है तो यही गरीबी। जिस दिन इससे पीछा छुड़वा दोगे उस दिन समझूंगा कि तुमने हमें नरक से निकालकर स्वर्ग में पहुंचा दिया। जिस दिन हमारे सिर पर से कर्ज़ का बोझ उतर जाएगा, समझेंगे कि गंगा नहाए।"

"कर्ज़? कितना है कर्ज़ तुम लोगों पर?"

"थोड़ा नहीं है व्रिजेन्द्र" एक लम्बा निःश्वास लेते हुए चन्दन बोला—"एक हज़ार के करीब।"

"कुल एक हज़ार ?"

"हां भाई, चूज़े के लिए उकाब ही भेड़िये के बराबर होता है।"

"तो मुझे तुमपर हज़ार-हज़ार अफसोस है चन्दन, जो इतनी-सी बात के लिए अपना और घर के लोगों का खून सुखाता रहा और कभी एक बार भी मुझसे ज़िक्र न किया। इसका तो यही मतलब ठहरा कि तुम अभी तक मुझे बेगाना समझे हुए हो। लानत है मेरे जीने को, अगर मेरे होते हुए तुम लोग···।"

चन्दन ने उसे टोक दिया—"क्या बताऊं मित्र, स्वभाव ही कुछ ऐसा है, नहीं तो तुमसे बढ़कर कौन है इस दुनिया में मेरा।"

व्रिजेन्द्र को चुप देखकर उसने पूछा—"क्या सोच रहे हो ?"

"यही सोच रहा हूं।" वह बोला—"कि यहां से लौटते ही हजार का चैक पापा जी से लेकर तेरी जेब में डाल दूं, पर वही तुम्हारे स्वभाव से डर लगता है कि कहीं यह न समझने लगो कि व्रिजेन्द्र मुझपर अहसान कर रहा है। सो मैं सोचता हूं कि कोई ऐसा ढंग हो जिससे तुम्हें मेरा अहसानमन्द भी न होना पड़े और काम भी चल जाए।"

इससे पहले कि चन्दन ढंग के बारे में पूछता, व्रिजेन्द्र बोल उठा—"तो फिर यही ठीक रहेगा, जिससे तेरे आत्मसम्मान पर भी चोट न आए, और काम भी चल जाए। यानी मेरा मतलब है कि इम्तिहान का रिज़ल्ट निकलते ही तुम चार-पांच सौ की सर्विस पर लग जाओ। फिर तो तुम्हारी दो ही महीने की तनख्वाह में क़र्ज़-वर्ज़ का मामला खतम हो जाएगा।"

सुनकर चन्दन की नस-नस में खुशी की लहर दौड़ गई। उसके भावावेश की यह हालत थी कि उत्तर में कुछ भी उससे बोलते नहीं बना।

बातों में वे इतने खोए थे कि किसीको भी पता नहीं चला जो कार कहां से कहां जाकर रुक गई है। शोफर—जो एक सिख युवक था—कभी से बाहर निकलकर खड़ा उनके उतरने की प्रतीक्षा कर रहा था। व्रिजेन्द्र को याद हो आया कि आज उनका प्रोग्राम नहर की सैर का था, गाड़ी नहर की पटरी पर खड़ी थी।

दोनों इस समय बातों के जिस रस में विभोर थे वह उनके लिए हजार सैरों

से बढ़कर थी।

"वापस चलो।" व्रिजेन्द्र ने शोफर को हुक्म दिया। और गाड़ी पुल पर पहुंचकर लौट पड़ी।

कोठी पहुंचने पर दोनों गाड़ी से बाहर निकले, और बातों ही बातों में व्रिजेन्द्र उसे अपने कमरे में ले चला। भीतर पहुंचते ही सामने वाली मेज की ओर संकेत करते हुए उसने चन्दन से कहा—"अच्छा, पहले वह सूट पहनकर देखो तो जरा, फिर खाना खाकर पिक्चर देखने चलेंगे।"

चन्दन ने देखा, मेज पर एक ड्राइक्लीन किया सूट रखा था, जिसके पास ताजा पालिश किए बूटों का जोड़ा भी था। वह कुछ झेंपते हुए बोला—"पर अभी तो मेरे कपड़े मैले नहीं हुए हैं।"

"अरे भाई," व्रिजेन्द्र शिक्षकों जैसे लहजे में बोला—"अब हम लोग गांव में नहीं, शहर में रह रहे हैं, और जल्दी ही हमें यूनिवर्सिटी हाल में जाना शुरू करना है, जिससे पहनावे का ख्याल तो रखना ही पड़ेगा। मेरे कहने का कहीं कुछ गलत मतलब न समझ लेना।"

चन्दन को आनाकानी करते देख वह फिर बोला—"देखता क्या है दोस्त, क्या यह कपड़े किसी और के हैं? हां, मैंने कहा, सूट को पहनकर जरा देख लो। अगर फिटिंग में कुछ फर्क होगा तो टेलर को बुलाकर ठीक करा लिया जाएगा।"

चन्दन कठपुतली की तरह मित्र की आज्ञा का पालन करने लगा। सूट इतने बढ़िया कपड़े का था, जैसा आज से पहले चन्दन ने कभी देखा तक नहीं था। पर जैसे ही उसने उसे पहना कि कोट और पैंट दोनों ही मानो उसे मुंह चिढ़ाने लगे—लम्बाई आधी और चौड़ाई दुगुनी थी। पर बूटों में किसी न किसी तरह उसके पैर घुस ही गए और वह भी पंजे सुकेड़कर।

"उतार दो।" व्रिजेन्द्र ने तनिक लजाकर कहा—"टेलर को बुलवाता हूं। और हां, बूट तो फिट बैठे हैं न?"

"जी हां।" चन्दन ने पुष्टि कर दी, चाहे उसके पैरों की उंगलियां अभी से दर्द करने लगी थीं।

तत्पश्चात् खाना खाते समय दोनों में जो वार्तालाप आरम्भ हुआ तो न जाने किस-किस मोड़ से मुड़ते हुए फिर पढ़ाई-लिखाई के प्रसंग पर आ टिका। व्रिजेन्द्र इस ढंग से बातें करने लगा मानो मैट्रिक की नदी पार करने से पहले नाव की देख-

भाल कर रहा हो।

उत्तर में चन्दन बोला—"ब्रिजेन्द्र, इसकी तुम्हें बिलकुल फिक्र नहीं करनी चाहिए। जैसे नवीं पास कर ली है वैसे ही यह मोर्चा भी सर हुआ ही समझो।"

"नवीं की बात और थी चन्दन। कुछ तो तुम्हारी मदद ने और कुछ पापा जी की सिफारिश ने काम बना दिया। पर अब तो सिर्फ मेहनत का ही आसरा है।"

"इसकी ज़िम्मेदारी मेरी है दोस्त। अगर तुम्हें पास न करा सका तो मेरे जीने पर हज़ार लानत। वैसे इतना तो मैं भी महसूस करता हूं कि तुम्हारा हाफिज़ा तनिक कमज़ोर है—बार-बार रटाए हुए सबक को भी अक्सर भूल जाते हो। पर कोई बात नहीं, आज से मैं तुम्हें दुगुना वक्त दूंगा।"

यही बात ब्रिजेन्द्र उसके मुंह से निकलवाना चाहता था, जिसे सुनकर वह अपनी चतुरता पर गर्वित हो उठा।

अब चन्दन दिन को दिन देखता न रात को रात। जब भी देखो वह ब्रिजेन्द्र के सिर पर सवार है और तोते की तरह उसे रटाए चला जा रहा है। कभी-कभी वह क्रुद्ध भी हो उठता, जब गैस पेपरों के सवालों के जवाब बार-बार रटने पर भी ब्रिजेन्द्र उन्हें गलत लिख डालता। अपने क्रोध को वह भीतर ही भीतर कड़ए घूंट की तरह पी जाता। बार-बार समझाए हुए सवालों को फिर से समझाने लग जाता।

अन्ततः इम्तिहान का दिन आ पहुंचा। जब ये दोनों कार में बैठकर चले तब भी पठन-पाठन का क्रम जारी था, और यह तब तक जारी रहा जब तक हाल में प्रविष्ट होकर दोनों अपनी-अपनी सीटों पर नहीं जम गए।

पहला पेपर हुआ, फिर दूसरा, तीसरा, चौथा। जब-जब भी पेपर समाप्त करके दोनों हाल से आते कि चन्दन उसपर प्रश्नों की बौछार शुरू कर देता—क्या लिखा···कैसे लिखा इत्यादि। और उत्तर में ब्रिजेन्द्र जितना कुछ उसे बताता, इससे उसे कभी तो अंशतः ढाढ़स बंधती, कभी नहीं।

अन्ततः परीक्षा की वैतरणी पार हुई।

११

कुछ तो अपने स्वर्गीय मित्र सन्तराम की अन्तिम अभिलाषा पूरी करने के विचार

से, कुछ अपने अन्धकारमय भविष्य को प्रकाशमान करने को, और सबसे बढ़कर वात्सल्य की प्रबलता से नाहरसिंह ने चन्दन को पढ़ाई कराने में एड़ी-चोटी का जोर लगा दिया—गले तक दरिद्रता के दलदल में डूबा होने पर भी अपने कर्तव्य की पालना से उसने मुंह नहीं मोड़ा। यहां तक कि गुरो का छाप-छल्ला भी उसने बेच डाला। इतने पर भी जब काम नहीं चला तो उसे खेत का एक टुकड़ा गिरवी रखना पड़ा।

प्रश्न यदि केवल पढ़ाई का ही होता तो शायद यहां तक नौबत न आती, पर दुर्भाग्यवश उत्तरोत्तर दो वर्ष उसकी फसल नष्ट हो गई—एक बार तुषारापात से, दूसरी बार टिड्डीदल की कृपा से। जिन लोगों के पास कुछ जोड़ा-बचा था वे तो किसी न किसी प्रकार इन मुसीबतों से भिड़ गए, पर बेचारे नाहरसिंह का तो वही हाल था कि 'न बासी बचे न कुत्ता खाए।' और ऊपर से पढ़ाई का खर्चा। उसने दो-एक बार फीस माफ कराने के लिए स्कूल में अर्जी दी, पर सफल नहीं हुआ। शायद हो ही जाता यदि चन्दन द्वारा ही इसमें बाधा न पड़ गई होती, जिसने सब किसीके सामने यही डींग हांक रखी थी कि उन लोगों की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी है। फलतः जैसे-जैसे चन्दन की पढ़ाई आगे बढ़ती गई, कर्ज की गठरी भारी होती चली गई। और पढ़ाई समाप्त होने में जब साल-डेढ़ साल बाकी रह गया तो इधर नाहरसिंह का साहस छूटने लगा। कुछ तो खेत छोटा हो जाने से आय कम होती, ऊपर से महगाई दिनों-दिन गला घोंटे जा रही थी। साहस टिके तो कैसे? इस बीच में गांव के साहूकार से जो एक आना प्रति रुपया मासिक ब्याज पर कर्ज ले रखा था उसकी मात्रा भी बढ़े जा रही थी।

अन्त में यदि कुछ बच पाया तो मरियल-से बैलों की जोड़ी और वही 'पंजो' नामधारिणी भैंस। बैलों को बेचने का तो प्रश्न ही नहीं पैदा हो सकता था, इन्हींकी कृपा से तो चार पंसेरी अनाज जुटने की आशा थी। अन्ततः ले-देकर नाहरसिंह की नज़र पंजो पर जा टिकी।

भर पेट चारा न मिलने से चाहे वह दुबली हो गई थी, पर थी बढ़िया बूटे का फल। सब कोई जानते थे कि भैंस को यदि भर पेट खाने को मिलने लगे तो बियाने पर उसका दूध दुगुना हो सकता है, इसीसे उसपर बहुतों की आंख थी। जैसे ही घर में नाहरसिंह द्वारा उसे बेचने की बात चलाई जाती कि गुरो मोटे-मोटे आंसू गिराते हुए यहां तक कह जाती—"कहे देती हूं चन्दन के बापू, कि मुझे

तो भले ही बेच डाल, पर पंजो को बेचने की बात मुंह से मत निकालना, नहीं तो कुए मेंछलांग लग दूंगी।"

नाहरसिंह के सीने में भी तो पत्थर का दिल नहीं था। पर परिस्थितियों ने इन लोगों को जहां पर पहुंचा दिया था उसे देखते हुए दो में से एक बात तो उन्हें करनी होगी—या चन्दन को स्कूल से उठा लिया जाए, या भैंस का बखेड़ा खतम किया जाए। पर जब दोनों ही बातें एक-सी असम्भव दिखाई दीं तो यही तय पाया कि साहूकार सीतलराम की मिन्नत-समाजत करके कुछ और रुपये का प्रवन्ध किया जाए। और उनका पुरुषार्थ सफल हुआ जब सीतलराम की उदारता से उन्हें सौ रुपये मिल गए।

इसी बीच में भगवान ने दम्पति की पुकार सुन ली, जब चन्दन को बलटोहा वाले सरदार की मित्रता का सौभाग्य प्राप्त हुआ, और उससे थोड़े दिनों बाद चन्दन उन्हीं लोगों के यहां जा टिका। नाहरसिंह-दम्पति के सिर से चन्दन की पढ़ाई और खुराक का बोझ तो उतरा ही, साथ में लड़के के उज्ज्वल भविष्य की आशा भी बंध गई। अब उन्हें क्या चाहिए था! इधर कुछ दिनों से जो सीतलराम ब्याज के लिए उनके घर पर आ धमकता था, अब उसने भी सूरत दिखानी छोड़ दी। कदाचित् वह भी सुन चुका था कि नाहरसिंह के भाग्य का सितारा चमकने वाला है।

बनिया लोगों की तिजोरी जैसे-जैसे भरती है उसी क्रम से उनका दिल संकीर्ण होता जाता है। सीतलराम उन्हीं लोगों में था। पहले तो इस आशा पर—जैसा कि उसने सुन रखा था—मशटोवाचो बना रहा कि बलटोहा वाले सरदारों का कृपा-पात्रना हरसिंह का लड़का नोटों के पुलिंदे लेकर अब भी आया, तब भी आया। पर जब इसका कोई लक्षण उसको दृष्टिगोचर नहीं हुआ, तो बेचारे का दिल डिगने लगा और फिर तकाजों पर नौबत आ गई। हर बार नाहरसिंह उसे आश्वासन दिलाता—"शाह जी, अब तो चार ही दिन की बात है। उधर लड़के ने दसवीं पास की इधर अवसर (आफीसर) लगा।" पर इतनी लम्बी प्रतीक्षा करने की सकत कहां थी सीतलराम में। फिर भी ज्यों-त्यों करके उसने किसी प्रकार कुछ समय व्यतीत किया ही। और जब उसे पता चला कि दसवीं की परीक्षा समाप्त हो चुकी है, फिर तो नींद हराम हो उठी उसकी। पहले यदि दिन में एक बार नाहरसिंह के घर जाता था तो फिर दो-दो बार जाने लगा। विशेषतया

जब से नाहरसिंह की भैंस पर उसकी नजर पड़ी, जो शीघ्र ही बियाने वाली थी, तब से वह और भी अधीर हो उठा। अब धीर सब्र करना उसके बस का रोग नहीं रहा। अब तकाजे बढ़ने के साथ-साथ सीतलराम की जबान में भी कड़वाहट आने लगी। एक दिन तो उसने नाहरसिंह को यहां तक कह दिया—"नाहरसिंह, अब तो भैया, दाढ़ी से मूछें बढ़ चली हैं। सो या तो रकम का इन्तजाम होना चाहिए, नहीं तो मुझे कचहरी चढ़ना पड़ेगा। फिर मुझे बुराई मत देना।"

'दो दिन और', 'चार दिन और', 'बस साहजी, सिर्फ एक-आध दिन और', यही कहते-कहते नाहरसिंह ने कुछ दिन और गुजार दिए। उसे आशा थी कि चन्दन शायद अभी आ निकले। उसे विश्वास था कि वह खाली हाथों नहीं लौटेगा। उसे नौकरी मिलने में भले ही कुछ दिन लग जाएं पर कुछ न कुछ रकम तो साथ में लाएगा ही, जबकि चलते समय उसने ऐसा ही वायदा किया था।

और फिर एक दिन जो सीतलराम आया तो—'मानसगध-मानसगंध' करते हुए। नाहरसिंह ने हाथ-पाव जोड़े, मिन्नत-खुशामद की, पर चिकने घड़े पर नाहरसिंह की आंखों के पानी ने कुछ भी असर नहीं किया। हो-हल्ला सुनकर दो-चार पड़ोसी भी आ जुटे। सबने 'साहजी' का कोप कम करने का भरसक यत्न किया, पर व्यर्थ।

सीतलराम की वाणी आम तौर से उसके नाम के अनुरूप ही रहती है, पर किसी असामी के डूबने का खतरा पैदा हो जाने से वह एकदम कर्कश हो उठती है। चिल्ला-चिल्लाकर सीतलराम की रगें फूलने लग गईं। मिन्नतें करते-करते नाहरसिंह हार गया, पड़ोसियों ने भी बीच-बचाव करने में कुछ उठा नहीं रखा। पर शाहजी नहीं ढले। अन्त में जो थोड़ी-घनी दया आई तो एक ही शर्त पर कि नाहरसिंह भैंस को उनके हवाले कर दे।

भैंस की बात सुनते ही गुरो मरणासन्न-सी हो उठी। नाहरसिंह के शब्दों में भी थोड़ी-सी तलखी आ गई—"साहजी, भैंस तो मैं जीते जी देने का नहीं, चाहे जान ही चली जाए।"

अब जो सीतलराम पर क्रोध का भूत सवार हुआ तो यहां तक कह गया—"अरे तू भैंस को रोता है, मैं अगर तेरी रसोई में करछुल तक भी रहने दूं तो अपने बाप का नहीं, किसी भंगी-चमार······"

भंगी और चमार आधा उसके मुंह में और आधा बाहर लटका रह गया

ध्यान ड्योढ़ी की ओर मुड़ा। दरवाजे में चन्दन खड़ा था, जिसका डील-
ओर पहरावा देखकर सब हक्का-बक्का रह गए। टुकर-टुकर चलती हुई
लराम की जबान जैसे दांतों के बीच फंसकर पिस गई।
जैसे ही गुरो की नज़र उसपर पड़ी कि उड़ते हुए वह ड्योढ़ी की ओर लपकी
चन्दन को उसने अंक में भर लिया। गुरो के बाद नाहरसिंह की बारी आई।
चन्दन का ध्यान न तो गुरो की ओर था न ही नाहरसिंह की ओर। उसकी
ों, जिनमें क्रोध के डोरे उभर आए थे, सीतलराम पर इस तरह टिकी थी जैसे
 लील ही जाने को हों।

चन्दन आगे बढ़ आया, हाथ में लटकाया हुआ चमड़े का सूटकेस उसने बेपरवाही
एक ओर ठेल दिया, और कड़ककर बोला—"क्या बात है साहजी, क्यों इतने
लाल में आ रहे हैं?"

सीतलराम को मानो किसीने कीचड़ में धंसा दिया। दो पग पीछे हटते हुए
तुतलाती-सी आवाज में बोला—"अं, कुछ नहीं सरदारजी। बा···बात तो मामूली-
सी है। आप जानते हैं कि देने-लेने के मामले में···।"

"बन्द करो यह किचकिच," चन्दन ने उसे टोक दिया, "यह पैसे लेने का
मामला है या इज्ज़त लेने का? किसने तुम्हें हक दिया है इस तरह किसीको
बेआबरू करने का? बताओ मुझे।"

सीतलराम को सट्टा-पट्टा भूल गया जब उसने चन्दन को आस्तीनें चढ़ाते
पाया। तभी चन्दन की एक और कड़कड़ाहट उसे सुनने को मिली, "कितनी रकम
है तुम्हारी, बताओ।"

"रकम?" जैसे शव में सांस चलने लगे—"रकम तो सरदार जी, कुछ ज़्यादा
नहीं—कुल सात सौ बावन रुपये हैं।"

"इसमें असल कितना है और ब्याज कितना?"

"असल?···असल है···अं···" उसे मिनमिनाते देखकर गुरो बोल उठी—
"कुल तीन सौ ही तो लिया हमने साहजी—दो सौ पहले और सौ फिर, यही न?"

सुनकर आग-सी लग उठी चन्दन को, बोला—"गोया तीन सौ असल, औ
साढ़े चार सौ ब्याज? किस दर से लगाया है यह ब्याज? बताओ तो।"

"इकन्नी रुपया।" सीतलराम के स्थान पर नाहरसिंह बोल उठा—"अं
सूद दर सूद, सो अलग से।"

"क्यों रे बनिये की पूछ।" चन्दन जैसे उसे खाने को दौड़ा—"किस कानून ने तुझे इतना ब्याज लगाने की इजाज़त दी है, क्या मैं पूछ सकता हूं ?"

घिघियाते हुए सीतलराम बोला—"अं—यह तो सरदार जी, गरज़ के सौदे हैं। पूछ लो न अपने बाप से, मैंने क्या जोरी-ओरी दिए थे ? दस दफे दुकान पर आया, हज़ार मिन्नतें…।"

"चुप रहो।" चन्दन ने फटकार बताई—"इस बात का फैसला कानून को करना होगा कि ब्याज सवा छः रुपये सैंकड़ा होना चाहिए या दस आने सैंकड़ा।" और फिर उसने उपस्थित लोगों को सम्बोधित किया—"देख रहे हैं न आप लोग यह सब ? आपको अदालत में जाकर गवाही देनी होगी इसकी।"

बात इससे आगे नहीं बढ़ पाई, जब पड़ौसियों ने पावनेदार को यह कहते हुए खदेड़ दिया—"अब जाओ साहजी। बात बढ़ाना अक्लमंदी नहीं है। तुम्हारी रकम डूबेगी नहीं।"

और सीतलराम अकलमंदी से काम लेते हुए वहां से टल गया।

१२

खुशी के मारे नाहरसिंह के पाव सीधे नहीं पड़ रहे थे, गुरो के आंसुओं में से उल्लास फूट पड़ा जब चन्दन को उसने पूरे ठाठ में पाया। कितना खिल उठा था चन्दन का रूप ! कितनी लुनाई आ गई थी उसके अंगों पर, मानो कोई राजकुमार हो ! चूम-चूमकर गुरो ने उसका मुंह-माथा भिगो दिया। थोड़ी देर पहले जिस आंगन को साहूकार के हंगामे ने मातम की सराय बना रखा था वही घर जगमगाने लगा चन्दन के आगमन से। पड़ोसी लोग मन ही मन चन्दन के बारे में कई प्रकार के अनुमान करने लग गए। गांव-भर में चन्दन की बातें होने लगीं, क्या सचमुच ही चन्दन अफसरी पा गया है ? किस महकमे में लगा होगा—कितनी तनखाह होगी ? इत्यादि। इधर दम्पति के मन में भी इसी प्रकार के प्रश्न उठते चले गए, साथ-साथ इसके जानने की तीव्रता भी बढ़ती गई। कब पड़ोसी लोग विदा हों और कब चन्दन के मुंह से इसका ब्योरा सुनने को मिले; बड़ी कठिनाई से धड़कते दिलों से वे इसकी प्रतीक्षा करने लगे। अन्त में जब चन्दन से कुशल-क्षेम पूछने के बाद सब कोई चले गए तो इन्होंने चैन की सांस ली।

कोट-पेंट को उतार खूंटी पर टांगते हुए चन्दन ने उड़ती-उड़ती नज़रों से घर के हुलिए को जांचा। सब ओर सब चीज़ों पर दरिद्रता की छाप थी, मानो भिखारियों का घर हो। कहीं भी कुछ अच्छा उसे नहीं दिखा। यों तो यह सब उसके लिए नया-अनदेखा नहीं था, पर वह जिस नई दुनिया में इतना समय व्यतीत करके लौट रहा है, वह सब तो नया ही था। और उसी नयेपन के प्रभाव ने उसे भी मानो कुछ नया-सा—कुछ अपरिचित-सा बना दिया था।

देखादेखी के साथ-साथ वह पूछताछ भी किए जा रहा था—"कैसी हो मां? बड़ा कमज़ोर हो गया बापू, कुछ बीमार रहा क्या?..." बारी-बारी से दोनों यथा-योग्य उत्तर देते चले गए। पर जो बात चन्दन के मुंह से सबसे पहले निकलनी चाहिए थी वह अभी तक उन्हें सुनने को नहीं मिली, जिसकी वे सांस रोके प्रतीक्षा कर रहे थे। पूछने का साहस भी तो किसीको नहीं हो पाया। क्या वे इतने ओछे हैं? क्या सोचेगा लड़का कि थकावट भी नहीं दूर करने पाया, जलपान भी नहीं हुआ, और सबसे पहले अपना ही राग अलापने लग गए?

थकावट दूर हुई, जलपान हुआ, घर-द्वार की, पास-पड़ोस की बस्ती के बारे में बहुतेरी बातें होती चली गईं, पर इस सबके अन्तर्गत चन्दन ने भूल से भी ऐसा कोई वाक्य नहीं कहा जिसमें लेशमात्र भी नौकरी का आभास उन्हें मिल पाता। मामला क्या है आखिर? बीच-बीच में पति-पत्नी आंखों ही आंखों द्वारा एक-दूसरे को उकसाते।

अन्ततः जब गुरो का धीरज चरम सीमा तक जा पहुंचा तो उसने मन कड़ा करके पूछने का निश्चय कर ही लिया।

प्रसंग चल रहा था इम्तिहान के बारे में। चन्दन सुना रहा था कि उसके तो सब पेपर खूब अच्छे हो गए, जिससे उसे अच्छी पोज़ीशन में पास होने की पूरी आशा है, पर बेचारे ब्रिजेन्द्र के दो-एक पेपर ज़रा ढीले रहे। इसी बीच में गुरो ने कहा—"वाहिगुरु करे, बेचारा पास हो जाए, पहले भी तो कई बार फेल हो चुका है। अच्छा तो चन्दन, वह जो काम-काज के बारे में बताया था तूने, उसका भी कुछ हुआ?"

चन्दन को जैसे यह बात भूल ही गई हो। बोला—"काम-काज? हां, वह तो हुआ ही समझ मां। नतीजा निकलने-भर की देर है, फिर तो नौकरी मिलने में कुछ भी देर नहीं लगेगी। ब्रिजेन्द्र के पापा जी ने खुद मुझे कहा कि तू नौकरी की

ज़रा भी चिन्ता मत कर चन्दन। उधर नतीजा निकला, इधर नौकरी

सुनकर दोनों ने भगवान को धन्यवाद दिया—दोनों की आंखों में गई। गुरो ने दूसरी बात पूछी—"कितनी तनखाह लग जाएगी भला तै मे चन्दन ?"

"चार-पांच सौ से कम क्या होगी मां, व्रिजेन्द्र के पापा जी ने तो इ ज्यादा की उम्मीद दिलवाई है, पर इतनी तो कही नही गई है।"

गुरो का माथा झुक गयागुरु महाराज के चरणो मे। नाहरसिंह खुशी से ग हो उठा।

औरतों का स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि खुशी की बात उनके पेट में पचा न करती। गुरो तो और भी भावुक थी, फिर इतनी बड़ी खुशी को पचा पाती कैसे। जैसे ही पड़ोसियों से उसका साक्षात् हुआ कि भावावेश मे आकर वह उन कुछ से कुछ बताते चली गई। अतिशयोक्ति की मात्रा को यहां तक बढ़ाकर वि स्वतः ही उसके मुह से निकल गया—"मेरे चन्दन को पांच सौ की नौकरी मिल गई है, और जल्दी ही बढ़कर दुगुनी हो जाएगी।"

अब क्या था। गाव के वातावरण में सब ओर यही गूजने लगा—"नाहर सिंह के लड़के को पांच सौ की नौकरी मिल गई।" कोई कहता 'कलट्टर' लगा है तो कोई 'डिब्टी' बताता। किसीके ख्याल में नौकरी 'टम्परेली' है तो किसीको विश्वास था कि 'परमानद' (परमानेंट) है।

ग्रामीण लोगों की न्यूज एजेंसी मे यही विलक्षणता रहती है कि एक बार जो प्रसंग चले फिर नये से नया रग बदलता चला जाता है। नाहरसिंह के लडके की नौकरी अब मात्र नौकरी ही नही रह गई, उसके साथ और भी कितना ही कुछ संयुक्त सुनाई देने लगा। किसी-किसीके मुह से तो यह भी सुना जाने लगा कि 'अम्बरसर' मे चन्दन को सरकारी बंगला मिला है और साथ मे मोटरगाड़ी भी। सम्भवतः गाव के किसी व्यक्ति ने चन्दन को वहा व्रिजेन्द्र की कार मे घूमते देख लिया होगा। ये बातें उन्हें असम्भव भी तो नहीं जान पड़ी, जबकि पहले से ही सब कोई जानते थे कि वलटोहा वाले सरदार घराने से चन्दन का सम्पर्क स्थापित हो चुका है।

अब घर के तीनों व्यक्ति बड़ी बेसब्री से नतीजे की प्रतीक्षा करने लगे। प्रतीक्षा चन्दन के पास होने की ही नही थी। उसका पास होना तो निश्चित ही था।

स्वर्ग संसार की प्रतीक्षा थी जो नतीजे की आड़ में छुपा हुआ था।

अब के चन्दन का मित्र-समुदाय खासा विस्तार कर गया। सब कोई गर्मजोशी से उसे मिलते, अपने-अपने घरों में ले जाकर उसकी भरपूर आवभगत करते। उसकी खुशामदें होतीं अपने-अपने स्वार्थ को लेकर। और चन्दन सब किसीको आश्वासन दिलाए चला जाता—किसीको नौकरी दिलवाने का, किसीके बाप के लिए ठेका दिलवाने का और किसीके मामू के लिए शहर में एक अच्छी-सी दुकान किराये पर दिलवा देने का।

पीने-पिलाने की आदत चन्दन ने ब्रिजेन्द्र द्वारा पहले ही सीख ली थी, अब गांव के युवकों ने उसे और भी बढ़ावा दिया। अन्तर केवल इतना पड़ा कि शहर में यदि उसकी मेहमानी 'व्हिस्की' द्वारा की जाती थी तो यहां 'रुड़ी मार्का' (घर की निकाली हुई शराब) से। इस प्रकार चन्दन के दिन बड़ी मौज में कट रहे थे। घर में उसके लिए काम-धन्धा तो कोई था नहीं। मित्रमंडली की महफिलें जमने लगीं। कभी किसीकी दावत मिलती तो कभी किसीकी। मित्र लोग उसकी सुघड़ता-भरी बातें और विद्वत्तापूर्ण लैक्चर खूब ध्यान से सुनते। कभी-कभी जब राग-संगीत का रंग जमता तो चन्दन के फड़फड़ाते हुए गीत सुनकर मंडली उसपर सौ जान से न्योछावर हो जाती।

मानवीय मन का ऐसा ही स्वभाव है कि वह अनजानी-अनदेखी चीज़ों की ओर अधिक आकृष्ट रहता है। ऐसी ही अनजानी अथवा अप्राप्य चीज़ की ओर चन्दन का ध्यान कभी-कभी खिंच जाता विशेषतः जब वह नशे की हालत में होता।

आरम्भ में वह नहीं समझ पाया था कि फूलों की बास या चांद की चांदनी जैसी सूक्ष्म चीज़ भी स्थूल बनकर मनुष्य के मर्मस्थल को कभी छू सकती है। तब उसके लिए यह एक साधारण-सी घटना थी, बल्कि घटना नहीं, एक साधारण-सा झटका जो इधर लगा उधर मिटा। पर इतने थोड़े समय में ही वह घटना अथवा झटका उसकी स्मृतियों का केन्द्र बन जाएगा, ऐसा कभी उसने सोचा तक नहीं था।

बात उन दिनों की है जब इम्तिहान की तैयारी हो रही थी। कोठी में पहुंचने के दूसरे या तीसरे दिन जब रात में ब्रिजेन्द्र को पढ़ाकर वह अपने कमरे में लौटा तो सहसा उसके कान में किसी गीत की आवाज़ पड़ी—कभी एक कंठ द्वारा तो कभी दो द्वारा। एक कंठ सुमधुर और दूसरा तनिक भद्दा। उसे लगा जैसे किसीको संगीत सिखलाया जा रहा है। बात चाहे उसके लिए ऐसी महत्त्व की नहीं थी—न

वह कुछ अधिक प्रभावित ही हुआ, पर एक जिज्ञासा-सी उसके अन्तर में उपज आई—'कौन सिखला रहा है—कौन सीख रहा है ?'

उसमे दो-तीन दिन पश्चात् जब वह प्रातः उठा तो
स्वर है। बाद में उसे
कक्षा में पढ़ती है, स
करती है।
युवती प्रतिदिन आया

हरजीत उसकी देखी-भाली थी—अपने भाई की तरह मोटे नक्शों और भद्दे शरीर की। रंग-रूप भी ऐसा-वैसा ही था, और आवाज़ पुरुषों जैसी। पर हरजीत की वह उस्तानी कौन है—कैसी होगी, जिसके गले में इतनी लोच है—यही एक प्रश्न कभी-कभी चन्दन के मन मे बरबस उठा करता।

और फिर चन्दन की यह जिज्ञासा भी मिटी, जब एक शाम उसने उस युवती को हरजीत के कमरे से निकलते देखा। सत्रह-अठारह से अधिक की नहीं थी। इकहरा बदन, ढालू कन्धे, रंग गोरा। उसकी काली चमकीली आंखें कुछ इस प्रकार थीं, मानो चीनी की प्लेट मे दो मोटे जामुन रखे हों।

चन्दन को युवती की जिस बात ने अधिक आकर्षित किया वह थी उसकी सुराही-नुमा मानो फूलदान जैसी गर्दन। उसके समूचे व्यक्तित्व मे ईरानी कालीन जैसी लचक और जंगली गुलाब जैसी सादगी थी।

उसके बाद जितनी बार भी वह युवती आते-जाते उसे दिखाई दी—जब-जब भी उसके होंठों पर उसकी नजर पड़ी, वह कुछ न कुछ गुनगुनाती हुई ही उसे दिखी। चाहे चन्दन की एक जिज्ञासा मिटी—उसे देखने की, पर दूसरी कभी भी न मिटाई—उसे जानने की। न ही कभी उसके बारे में पूछ-ताछ करने का उसे साहस हुआ। यदि कुछ जान पाया, तो मात्र इतना ही कि संगीत-कला में वह प्रवीण है। सो इस कारण कि हरजीत का कमरा निकट ही था, जिससे सुनने मे उसे असुविधा न होती। वह खुद भी तो संगीत-कला की थोड़ी-घनी जानकारी रखता था। उससे अधिक जानने की इच्छा उसे ज्यों की त्यों बनी रही, जिसकी पूर्ति के यदि कोई रुकावट थी तो बड़ी मावो जी (ब्रिजेन्द्र की दादी)। अपनी बहू उसका भी घर मे प्रभुत्व था। विशेषतः जब से छोटी मावो जी गांव में रहने लगीं।

उम्र में कई औरतों का स्वभाव झक्की हो जाता है।

का झक्कीपन तो 'सनक' की हालत तक जा पहुंचा था। घर के लोग उससे दवते थे। अपनी पौत्री पर वह किसी पुरुष की परछाईं तक नहीं पड़ने देती थी। क्या मजाल जो किसी भी समय हरजीत उसकी आंखों से ओझल हो जाए। यहां तक कि उस्तानी के भी देवता कूच कर जाते जब वह वड़ी भावो जी को देख लेती। यही कारण था कि चन्दन की वह जिज्ञासा अन्त तक जिज्ञासा ही वनी रही।

इधर जव से चन्दन के सिर से इम्तिहान का वोझ उतरा और जव से उसे अपने ग्रामीण मित्रों के साथ मिलकर पीने-खाने का स्वच्छंद रूप में अवसर मिला तव से वह जिज्ञासा फिर उसके अन्तर में फैलाव करने लगी, और पहले की अपेक्षा अधिक जोर से।

१३

व्रिजेन्द्र ने चैन की सांस ली जव कोर्सों की माथापच्ची से उसका पीछा छूटा। गत दो वर्ष वेचारे ने वड़ी मुसीवत से गांव में गुजारे थे। एक तो यों ही उसे ग्रामीण जीवन से घृणा थी, दूसरे, अपने नागरिक मित्रों की जुदाई उसे किसी भी कीमत पर सह्य नहीं थी। तीसरी जो सवसे वड़ी वाधा उसके सामने रहती, वह था उसका मामू, जिसके भद्दे वर्ताव से उसका नाकों दम रहता था। तभी तो वलटोहा से निकलते समय उसने मन ही मन प्रभु से प्रार्थना की थी कि वह उसे फिर वहां कभी न लाए।

सरदार शमशेरसिंह को इस वात का सन्तोप था कि गांव जाकर लड़का पढ़ाई की ओर ध्यान देने लगा है और शहर के लफंगे दोस्तों से भी उसका साथ एक प्रकार से छूट गया है। साथ ही वहां रहकर वह अपने गुप्त धंधे में भी कुछ न कुछ हाथ वंटाने लगा है, पर एक वात की उसे चिन्ता थी कि वहां व्रिजेन्द्र की अपने मामू से खटपट रहने लगी है।

वेलासिंह जवानी की उम्र में फौजी सिपाही रह चुका था, और वही फौजी स्वभाव उसका अव तक वना हुआ था। अर्थात् अपने से छोटे पर रोव कसो, और अपने से वड़ों का लोहा मानो। वहन वड़ी थी, जिसका लोहा मानना वह अपना कर्तव्य समझता था। पर क्या वह इस छोकरे से भी दवकर रहे, जो वात-वात में उसे टोका-टाकी करता रहता था? इतना ही नहीं, वल्कि व्रिजेन्द्र उससे

मसखरी करने से भी बाज़ नही आता था। घर में सब कोई बेलासिंह क… जी' कहकर पुकारते थे, पर इस मुंहफट लड़के का क्या करे जो 'मंगड़ मामू'… उसका अपमान करने से नही चूकता था। जैसे ही बेलासिंह शाम को कुई… का प्रयोग करने बैठता कि ब्रिजेन्द्र आते-जाते कोई न कोई व्यंग्य उसपर… देता। परिणामस्वरूप मामू-भानजे का सम्बन्ध कंस और कृष्ण सरीखा रहने ल…

ब्रिजेन्द्र अपने मामू के मंगड़पन पर ही नाराज़ नही था, बल्कि उसकी ना… जगी का सबसे बड़ा कारण दूसरा था। खुला खाने-खर्चने की आरम्भ से उस… आदत थी, पर जब से वह गांव आया तब से पैसे-टके के बारे मे उसका हाथ त… रहने लगा, जबकि उसकी आंखो के सामने हजारो के वारे-न्यारे हुआ करते… भाबो जी पर तो उसका बस नहीं था, जो आमदनी का एक-एक पैसा अपनी अंट… मे बांधे जाती थीं, पर यह मंगड़ मामू कौन होता है जो किसी भी रकम मे उसे… हेरा-फेरी नही करने देता? यही सबसे बड़ा बुगज़ था ब्रिजेन्द्र को।

अमृतसर जाकर उसने मामू के बारे में अपने पापा जी के खूब कान भरे—वह… चोर है, उठाईगीर है, वह भाबो जी की आंखो में धूल झोंककर अपना ही घर भरे जा रहा है इत्यादि। जिसके उत्तर मे शमशेरसिंह ने उसे प्यार से समझाया—"तुम ठीक कहते हो बेटा, मैं भी इसे समझता हूं। नही तो वह जो पिछले साल उसने अपने गांव मे नया मकान बनवाया है, क्या अपने बाप के यहां से रुपया लाकर? पर फिर भी आदमी काम का है। और बाहर के किसी आदमी पर इतना बड़ा भरोसा करने का भी तो ज़माना नही है…"

वह तो हुआ, पर बेचारे ब्रिजेन्द्र को फिर से गांव जाने की जो बात कह दी …गई, उससे कैसे पीछा छूटता? शमशेरसिंह ने बहुत मीठे शब्दों मे समझाना शुरू …किया:

"एक तो वहां तेरी भाबो जी अकेली हैं, दूसरे मैं चाहता हूं कि पढ़ाई से जो …के छुट्टी मिल गई है तो अब वहां रहकर तू अपने कामकाजी मामलों का अच्छी …ह से भेद पा ले। फिर हमें उस मगड़ की जरूरत नही रहेगी…"

और इस उपदेश के परिणामस्वरूप बेचारे ब्रिजेन्द्र को फिर से गांव जाने को …होना पड़ा। यही निश्चय हुआ कि इम्तिहान समाप्त होते ही वह गांव लौट …ा। पर इम्तिहान का काम निपटा ही था कि एक ऐसी गड़बड़ पैदा हो …सने उसका गांव जाना स्थगित कर दिया।

का झक्कीपन तो 'सनक' की हालत तक जा पहुंचा था। घर के लोग उससे दबते थे। अपनी पौत्री पर वह किसी पुरुष की परछाईं तक नहीं पड़ने देती थी। क्या मजाल जो किसी भी समय हरजीत उसकी आंखों से ओझल हो जाए। यहां तक कि उस्तानी के भी देवता कूच कर जाते जब वह बड़ी भावो जी को देख लेती। यही कारण था कि चन्दन की वह जिज्ञासा अन्त तक जिज्ञासा ही बनी रही।

इधर जब से चन्दन के सिर से इम्तिहान का बोझ उतरा और जब से उसे अपने ग्रामीण मित्रों के साथ मिलकर पीने-खाने का स्वच्छंद रूप में अवसर मिला तब से वह जिज्ञासा फिर उसके अन्तर में फैलाव करने लगी, और पहले की अपेक्षा अधिक जोर से।

१३

ब्रिजेन्द्र ने चैन की सांस ली जब कोर्सों की माथापच्ची से उसका पीछा छूटा। गत दो वर्ष बेचारे ने बड़ी मुसीबत से गांव में गुजारे थे। एक तो यों ही उसे ग्रामीण जीवन से घृणा थी, दूसरे, अपने नागरिक मित्रों की जुदाई उसे किसी भी कीमत पर सह्य नहीं थी। तीसरी जो सबसे बड़ी बाधा उसके सामने रहती, वह था उसका मामू, जिसके भद्दे बर्ताव से उसका नाकों दम रहता था। तभी तो बलटोहा से निकलते समय उसने मन ही मन प्रभु से प्रार्थना की थी कि वह उसे फिर वहां कभी न लाए।

सरदार शमशेरसिंह को इस बात का सन्तोष था कि गांव जाकर लड़का पढ़ाई की ओर ध्यान देने लगा है और शहर के लफंगे दोस्तों से भी उसका साथ एक प्रकार से छूट गया है। साथ ही वहां रहकर वह अपने गुप्त धंधे में भी कुछ न कुछ हाथ बंटाने लगा है, पर एक बात की उसे चिन्ता थी कि वहां ब्रिजेन्द्र की अपने मामू से खटपट रहने लगी है।

वेलासिंह जवानी की उम्र में फौजी सिपाही रह चुका था, और वही फौजी स्वभाव उसका अब तक बना हुआ था। अर्थात् अपने से छोटे पर रोब कसो, और अपने से बड़ों का लोहा मानो। बहन बड़ी थी, जिसका लोहा मानना वह अपना कर्तव्य समझता था। पर क्या वह इस छोकरे से भी दबकर रहे, जो व बात में उसे टोका-टाकी करता रहता था? इतना ही नहीं, बल्कि ब्रिजेन्द्र

मसखरी करने से भी बाज नही आता था। घर में सब कोई बेलासिह को जी' कहकर पुकारते थे, पर इस मुंहफट लड़के का क्या करे जो 'भंगड मामू' क उसका अपमान करने से नहीं चूकता था। जैसे ही बेलासिह शाम को कुडी- का प्रयोग करने बैठता कि ब्रिजेन्द्र आते-जाते कोई न कोई व्यंग उसपर देता। परिणामस्वरूप मामू-भानजे का सम्बन्ध कंस और कृष्ण सरीखा रहने लग

ब्रिजेन्द्र अपने मामू के भगड़पन पर ही नाराज नहीं था, बल्कि उसकी नार जगी का सबसे बड़ा कारण दूसरा था। खुला खाने-खर्चने की आरम्भ से उसकी आदत थी, पर जब से वह गाव आया तब से पैसे-टके के बारे मे उसका हाथ तग रहने लगा, जबकि उसकी आंखो के सामने हजारो के वारे-न्यारे हुआ करते। भाबो जी पर तो उसका बस नही था, जो आमदनी का एक-एक पैसा अपनी अटी मे बांधे जाती थीं, पर यह भगड़ मामू कौन होता है जो किसी भी रकम मे उसे हेरा-फेरी नही करने देता ? यही सबसे बड़ा बुगज था ब्रिजेन्द्र को।

अमृतसर जाकर उसने मामू के बारे मे अपने पापा जी के खूब कान भरे—वह चोर है, उठाईगीर है, वह भाबो जी की आंखो में धूल झोककर अपना ही घर भरे जा रहा है इत्यादि। जिसके उत्तर में शमशेरसिह ने उसे प्यार से समझाया—"तुम ठीक कहते हो बेटा, मैं भी इसे समझता हूं। नही तो वह जो पिछले साल उसने अपने गाव मे नया मकान बनवाया है, क्या अपने बाप के यहा से रुपया लाकर ? पर फिर भी आदमी काम का है। और बाहर के किसी आदमी पर इतना बड़ा भरोसा करने का भी तो जमाना नही है..."

वह तो हुआ, पर बेचारे ब्रिजेन्द्र को फिर से गांव जाने की जो बात कह दी ई, उससे कैसे पीछा छूटता ? शमशेरसिह ने बहुत मीठे शब्दों में समझाना शुरू या :

"एक तो वहां तेरी भाबो जी अकेली हैं, दूसरे मैं चाहता हूं कि पढ़ाई मे जो छुट्टी मिल गई है तो अब वहा रहकर तू अपने कामकाजी मामलों का अच्छी से भेद पा ले। फिर हमें उस भंगड की जरूरत नही रहेगी..."

और इस उपदेश के परिणामस्वरूप बेचारे ब्रिजेन्द्र को फिर से गांव जाने को होना पड़ा। यही निश्चय हुआ कि इम्तिहान समाप्त होते ही वह गांव लौट । पर इम्तिहान का काम निपटा ही था कि एक ऐसी गड़बड़ पैदा हो ने उसका गांव जाना स्थगित कर दिया।

इन दिनों सोने की स्मगलिंग इतनी बढ़ गई थी कि भारतीय हकूमत के लिए भारी चिन्ता पैदा हो गई, फलतः पकड़-पकड़ाई का इतने जोर से चक्र चलने लगा कि थोड़े ही दिनों में सीमान्त चोरों से पंजाब की जेलें भर गईं। बड़े-बड़े खुर्राट भी कानून के शिकंजे से बच नहीं पाए।

शमशेरसिंह भी तो इस अफरा-तफरी से बेखबर नहीं था। उसने बिजली जैसी फुर्ती से अपने बिजनेस का फैलाव समेट लिया। वलटोहा से अपनी श्रीमती को बुलवा लिया। जहां-जहां भी इस व्यापार के चिह्न-चक्र थे, सब मिटा डाले।

अपनी ओर से चाहे उसने हर प्रकार की सुरक्षा का प्रबन्ध कर लिया, पर इतने पर भी वह कस्टम वालों की आंखों में धूल झोंकने में सफल नहीं हो पाया। फलतः अनेक रोगों से ग्रस्त उसके शरीर को एक दिन हवालात की कोठरी में बन्द होना पड़ा।

इतने मान-प्रतिष्ठा वाले व्यक्ति का पकड़ा जाना साधारण बात नहीं थी। इसपर मुसीबत यह कि उसकी 'को-ऑपरेटिव' संस्था के कुछ और सदस्य भी पुलिस के चंगुल में फंस गए थे। यहां तक कि बेचारा भंगड़ मामू भी नहीं बचा।

अमृतसर की अदालतों में इन दिनों अधिक मुकदमे स्मगलिंग के ही चल रहे थे। कचहरियों में खूब गहमा-गहमी थी। वकीलों और मुंशियों-अर्दलियों की पांचों घी में थीं।

पति की गिरफ्तारी के बाद उनकी सरदारिनी टिककर बैठने वाली नहीं थी। सवेरे से लेकर रात तक उसकी कार चक्कर पर चक्कर काटा करती।

इस्माइली सम्प्रदाय के बानी सर आगाखां के बारे में कहा जाता है कि मुरीदों ने उसकी एक सालगिरह पर उसे सोने की ईंटों से तोला था। शमशेरसिंह का इस प्रकार से तुलादान तो कभी नहीं हुआ, पर सरदारनी मानकौर ने यहां तक निश्चय कर रखा था कि पति को जेल से बचाने के लिए चाहे उसे आगाखां के मुरीदों का ही अनुसरण करना पड़े, वह इससे दरेग नहीं करेगी। और अन्त में उसका पुरुषार्थ सफल हुआ जब 'तुलादान' की कृपा से उसके पति को बाइज़्ज़त बरी कर दिया गया। बाकी रहे उसके दूसरे साथी। असम्भव नहीं था कि वे भी अपने स्वामी की तरह कानून के चंगुल से मुक्ति पा जाते यदि उनके पास भी तुलादान की क्षमता होती। फलतः किसीको साल की, किसीको दो साल की ठुक गई। बेचारे भंगड़ मामू भी नहीं बचे—उन्हें भी ३६५ दिनों के लिए कारावास में

लगेंगी, और उत्तर में वह हर प्रकार की सेवा-सहायता करने का वचन देगा। पर हुआ सब इसके विपरीत। जैसे ही दोनों का साक्षात् हुआ कि भावो जी के थोड़े-से वाक्यों ने ही वातचीत का मार्ग बन्द कर दिया। वे उस समय बड़ी घबराहट में थीं। और उसी घबराहट में बोलीं—"कह छोकरे, कैसे आया—क्या काम है?"

बड़ा दिल तोड़ने वाला प्रश्न था यह जो भावो जी ने उससे किया। वह तो आया था सहानुभूति से भरा दिल लेकर और अपने मित्र-परिवार की सहायता करने को। वह डरते-डरते इतना ही कह पाया—"भावो जी, बताइए, मैं आपके किस काम···।" और भावो जी ने बीच में ही उसे रोक दिया—"यह छोकरों का काम नहीं है।" और इतना ही कहकर वे वहां से हट गईं।

गांव लौट आने के बाद चन्दन ने कई दिन परेशानी में व्यतीत किए। कुछ तो मित्र-परिवार पर विपदा पड़ने से और कुछ भावो जी के दुर्व्यवहार के कारण। पर दूसरा असर अधिक नहीं टिक पाया। उसने सोचा मां ही तो है, और फिर दुख की हालत में। अगर कड़ी बात कह दी तो कौन बड़ी बात है। मुझे अपने मित्र की मित्रता को देखना है या उसकी मां के वर्ताव को। शनैः-शनैः उसकी तबियत बह-हने लगी अपनी ग्रामीण मित्र-मंडली की कृपा से।

चाहे वह जानता था कि ब्रिजेन्द्र अण्डर-ग्राउंड है, फिर भी उसने एक लम्बा पत्र लिखकर उसे भेजा। जिसका उत्तर न आने पर एक और, और फिर एक और लिखा। पर उत्तर उसे किसीका भी नहीं आया।

कुछ दिनों बाद उसे सूचना मिली कि ब्रिजेन्द्र के पापा जी को पुलिस ने छोड़ दिया है, और ब्रिजेन्द्र भी घर में आ गया है। उसकी इच्छा हुई कि एक बार फिर अमृतसर चला जाए। पर पहले जिस प्रकार कमर तुड़वाकर लौटा था, उसे याद करते हुए वह जाने का साहस नहीं कर पाया।

मैट्रिक का नतीजा निकला। चन्दन ने फर्स्ट डिवीजन ली, और ब्रिजेन्द्र फेल। तत्पश्चात् उसने उसे एक और पत्र लिखा, पापा जी के बरी होने के बारे में, साथ ही उसने पहले पत्रों का उल्लेख करते हुए उत्तर न मिलने का उलाहना भी दे डाला। पर कई दिन बीत जाने पर भी जब उत्तर नहीं आया तो उसने सोचा—'क्या हर्ज है अगर चला जाऊं।' गुरो और माहरसिंह ने भी उसे यही सलाह दी। पर जैसे ही उसे भावो जी द्वारा हुए अनादर का ख्याल आता कि वह दुविधा में पड़ जाता। सोचता—'इससे तो यही अच्छा है कि एक और पत्र लिखूं, जिसमें लिख दूंगा कि

ब्रिजेन्द्र द्वारा उसे प्रदान किए हुए कपड़े शनैः-शनैः अपना रंग बदले जा रहे थे जो पहले से ही पुराने थे। न तो उन्हें धुलाने और न ही प्रेस कराने की ओर चन्दन का ध्यान था, जिससे उनकी यह हालत थी कि कहीं से टांके टूट रहे हैं तो कहीं से झोल पड़ रहा है। बूटों की हालत इससे भी बढ़कर थी। तंग होने के कारण उनके सोल और एड़ियां उखड़ गई थीं, जिन्हें गांव के मोची ने ऐसे बेहूदा ढंग से मरम्मत किया कि न तीन में रहे न तेरह में।

महीनों पर महीने बीतते चले गए। चन्दन ने और भी कई पत्र लिखे, पर उत्तर को न आना था न आया। बड़ी कलबल होती उसके मन में। ब्रिजेन्द्र के प्रति अब उसे घृणा होने लगी; साथ ही अपने मां-बाप पर भी, जो हर समय अमृतसर जाने के लिए उसे उकसाते रहते थे। अन्त में चन्दन ने सौ की एक बात उन्हें कह दी कि "जब तक उधर से चिट्ठी नहीं आएगी तब तक जाने का नाम नहीं लूंगा।" पत्र लिखने से वह अब भी नहीं चूकता। जब भी क्रोध में अधीर हो उठता तो लिखने बैठ जाता। फिर जो भी उसके मन में आता, निःसंकोच लिखे चला जाता। मानो काग़ज़ के टुकड़ों पर अपना दिल चीर-चीरकर उंडेलने लगता। पर कुछ भी तो परिणाम नहीं हुआ इसका।

अन्त में जब उसे पूरे तौर से विश्वास हो गया कि इन तिलहन में तेल नहीं है तो उसने कागज़ काले करने का यह क्रम बन्द कर दिया। फिर भी कभी-कभार वही इच्छा उसे उकसाने लगती—एक बार वहां जाकर ब्रिजेन्द्र से मिलने की। साथ ही यह भी सोचता—'अरे, तू इतना बेग़ैरत क्यों हो गया? अगर वह दौलत के नशे में इतना चूर है कि दो अंगुल कागज़ तक भेजने का रवादार नहीं, तो दफा कर ऐसे कमीने को।'

१५

किसानों के लिए 'वर्षा' शब्द बहुत ही प्यारा और आशाजनक होता है, पर गत वर्ष (सन् १९५५) की बाढ़ों ने इस शब्द को उन लोगों के लिए भयपूर्ण बना दिया था। इस बार जब फिर वही बरसात का मौसम आ पहुंचा तो सब किसीके दिल बैठने लगे। जैसे-जैसे वर्षा जोर पकड़ती गई, किसानों की आंखों में मृत्यु की परछाइयां नाचने लगीं। सब किसीको यही डर मारे जा रहा था कि न जाने अब

के भी वही हालत हो जाए

बाढ़ों के खतरे से तो इस वार पंजाब सुरक्षित ही रहा, पर वर्षा के सा
दो-तीन वार तुषारापात हुआ उसने फ़सलों को नष्ट करने मे कुछ भी उठा
रखा। विशेष रूप में धान की फसल को तो इसने जड़मूल से ही उखाड़कर
दिया, जिससे एक वार फिर वही हाहाकार मच गया। जिन-जिन गांवों की फ
अधिक बरबाद हुई वहा के किसान मिलकर लगान की माफी और तकावी
लिए अर्जियां देने लगे।

बड़े ज़मीदारों पर इसका अधिक प्रभाव नही पड़ा। एक तो वे लोग ट्रैक्टर
द्वारा खेती करने लगे थे, जिससे गहरी सीकाई होती, दूसरे, उन्हें बलैती खाद सुलभ
थी। फलतः उनके खेतों को तुषारापात ने अधिक हानि नही पहुंचाई। पर जिन
खेतों को हल-बैल की ही टेक थी, और जिनमे खाद का भी प्रायः अभाव ही था,
उनका सफाया ही हो गया।

दूसरी पैदा हो गई चारे की किल्लत, और इसका असर भी छोटे किसानों
पर ही पड़ा। ट्रैक्टर तब खुराक (तेल) मांगते हैं जब काम पर लगे हों। पर पशुओं
को तो हर हालत मे चारा चाहिए, काम करते हो चाहे खूटे पर बधे हो।

नाहरसिंह के पास ले-देकर वही मरियल बैलो की जोड़ी थी और या थी
पावनेदारों की लम्पट नज़रों से बचाकर रखी हुई पजो, जो चारे के अभाव से कम
दूध देने लगी थी, पर दूसरी भैंसो की तुलना मे अब भी अच्छा ही देती थी।
नाहरसिंह न तो बैलों का पेट भर पाता न ही पजो का। शेष रहा तीन पेटों के
लिए रूखा-सूखा रोटी का टुकड़ा, यही उसके लिए सबसे बड़ी जटिलता थी। यों
वह अभी उस उम्र मे नहीं पहुचा था जिसे बुढ़ापा कहा जाए, पचास वर्ष की उम्र
पजाबी किसानों को कौन बूढा कह सकता है! पर जिन कष्टों से उसे गत कई
ओं से जूझना पड़ रहा था उसके कारण समय से पहले ही उसे बुढापे ने ग्रस लिया।
गे-पीछे, दाएं-बाएं, सब ओर उसे अधेरा ही अधेरा, निराशा ही निराशा दिखाई
। खेत मे जाता तो धान के मरे और अधमरे पौधे देखकर रुआसा हो जाता।
के उभरे हुए हाड़ देखता तो उसके कलेजे मे टीसें उठने लगती। भैंस के दूध
ती जा रही कमी की चिन्ता अलग से उसका खून चूसने लगी। इसी दूध के
पर—जो उसने बेचना आरम्भ कर रखा था—तो परिवार को और रोटी
होती थी।

कभी-कभी जब नाहरसिंह की नजर खूंटी पर टंगे हुए चन्दन के कोट-पेंट पर जा पड़ती—जिन्हें अब चन्दन ने पहनना छोड़ दिया था—तो एक निःश्वास के साथ वह सोचता—'लड़का कितनी आशाएं भरकर लाया था इनकी जेबों में—कहां गई ये सब आशाएं ?'

चन्दन अपने घर की हालत से अनजान नहीं था। क्या वह नहीं देख रहा था कि उसके अभिभावक चिन्ताओं के वेलने में पिले जा रहे हैं ? क्या उन लोगों के मुरझाए चेहरे, खाली-खाली आंखें और लम्बे-लम्बे सांस उससे छुपे हुए थे ?

चन्दन को अब न तो घर के लोगों पर क्रोध होता न ही ब्रिजेन्द्र की निष्ठुरता पर। क्रोध और घृणा यदि उसे होती तो अपने पर, और वह अपने ही बोझ तले दबता चला जा रहा था। पहले तो अपना गम गलत करने का उसके पास इलाज था—मित्रों से गपशप और सुरा की आराधना, पर अब न तो मित्र लोग ही उससे आंख मिलाने के रवादार थे न ही उसे शराब की प्राप्ति होती। यदि कहीं से दो घूंट पा भी जाता, तो पीने पर नशा नाम को भी नहीं होता।

'कब तक चलेगा इस तरह से ?' चन्दन बहुत दिनों से यही प्रश्न बार-बार अपने से किए चला आ रहा था। वह कचीची खा-खाकर अपने पर कुढ़ने लगता—'अरे कलमुंहे, कब तक इस तरह से बेग़ैरतों की ज़िन्दगी जीता रहेगा ? दुनिया-भर के लोग अपने-अपने धन्धों में लगे हैं—कोई भी तो बेकार नहीं दिखाई देता। क्या तेरे लिए ही दुनिया में कोई काम नहीं बचा है ? बस, तुझे कुछ न कुछ करना ही होगा—ज़रूर करना होगा—चाहे कुछ भी—चाहे कैसा भी काम।'

और चन्दन किसी भी प्रकार के काम की खोज में भाग-दौड़ करने लगा। इसी बीच उसने एक दिन नाहरसिंह से भी कह दिया—"बापू, तुम्हारी भी तो कई जगह पर जान-पहचान है। क्या तुम नहीं कुछ कर सकते ? क्या जाने तुम्हारी ही कोशिश से मुझे कोई काम मिल जाए।"

नाहरसिंह जितना कर सकता था करने में उसने कुछ भी उठा नहीं रखा। पर मियां की दौड़ मस्जिद तक ही होती है। अधिक से अधिक गांव के नम्बरदार अथवा पंचायत के सरपंच तक या फिर पटवारी तक। और उन सबकी हाज़िरी भरने पर भी जब उसे कहीं से कुछ आश्वासन नहीं मिला तो और कहां जाए।

सहसा एक दिन सवेरे चन्दन ने नाहरसिंह से कहा—"बापू, मैं ज़रा तरन-तारन जा रहा हूं।"

थोड़ी देर तक एक नीरस-सी बहस चलती रही, और अन्त में चन्दन का ही कहना हुआ। दोनों डर गए उसके बिगड़ने पर।

साइकल की मरम्मत हो जाने पर चन्दन ने अपना नया धन्धा शुरू कर दिया। आरम्भ में जब वह साइकल पर दूध लादकर चला तो उसे जिस-तिसकी नोंक-झोंक का शिकार होना पड़ा। उसे देखकर कोई कहता—"जा रहा है मोटरगाड़ी में बैठकर डिप्टीगीरी करने।" और कोई उचरता—"हाथी की सवारी मांगते-मांगते आखिर गधा पल्ले पड़ा बेचारे को।" किसीने व्यंग्य में इस लोकोक्ति का प्रयोग किया—"पढ़े फारसी बेचे तेल, ये देखो किस्मत के खेल।" पर चन्दन ने किसीकी ओर ध्यान नहीं दिया। पहले-पहल इससे उसे कुछ कष्ट सहन करना पड़ा, पर शरीर का स्वस्थ और सिर का पक्का होने से वह डिगा-डोला नहीं। फिर शनैः-शनैः वह अभ्यस्त हो गया। पर एक तो साइकल निकम्मा, दूसरा अधिक से अधिक दूध लादने का लोभ। कुछ ही दिनों में हांफ गया। कच्ची सड़कों पर दो कोड़ी मील का सफर करके जब लौटता तो उसके शरीर का कण-कण दुखने लगता।

दूध-फरोशी का धन्धा एक रहस्यमय धन्धा है। जब तक इसको रहस्यों के आधार पर न चलाया जाए, तब तक इसमें सफलता नहीं हो सकती। कितने दूध में कितना सपरेटा अथवा कितना पानी मिलाना चाहिए—कितने सोडा बाइ-कार्बोनेट के प्रयोग से उसे गाढ़ा बनाया जाता है, और छापा मारने वाले कर्म-चारियों की आंख में कैसे धूल झोंकी जानी चाहिए—इस प्रकार के कई गुर रहते हैं इसके, जिन्हें चन्दन ने जल्दी ही अपने सहकारियों की सहायता से सीख लिया। फलतः वह दो-अढ़ाई रुपये प्रतिदिन कमाने लगा। पर इतनी आय से तो मात्र घर का ही खर्चा चलता। न तो इसमें से सीतलराम का ब्याज लौटाने को कुछ बच पाता, न ही ज़मीन छुड़ाने के लिए।

१६

जब से चन्दन ने दूध का धन्धा अपनाया तब से ब्रिजेन्द्र की याद एक प्रकार से उसे भूल चुकी थी, भूलने के बिना और कर भी क्या सकता था! पर इसी बीच एक दिन कुछ ऐसा संयोग हुआ कि उसके मन में नये सिरे से वह याद जाग उठी। एक दिन जब वह तरनतारन के हलवाई को दूध देने के बाद साइकल पर दोनों खाली

वर्तन लादे लौट रहा था तो सहसा उसकी नजर एक स्लेटी रंग की कार पर ज
पड़ी, जो न केवल उसकी जानी-पहचानी थी, बल्कि जिसकी वह सवारी भी कर
चुका था।

कार जब सामने से गुज़री तो भीतर बैठी सवारी की ओर उसने झांका—
त्रिजेन्द्र था, जो खुद ही ड्राइव कर रहा था। देखकर चन्दन का मन हुआ कि
हाथ देकर गाड़ी रोकने का संकेत करे। पर हाथ उठाता कि इससे पहले ही गाड़ी
भौं-भौं करती हुई उसकी नज़रों से ओझल हो गई। एक क्षण में त्रिजेन्द्र से उसकी
आंखें मिड़ी। उसे लगा कि त्रिजेन्द्र ने भी उसे देखा और देखते ही मुंह फेर लिया
है, और गाड़ी की स्पीड बढ़ा दी है। उसे लगा जैसे मोटर का पहिया उसके सीने
पर से गुज़र गया है—उसकी पसलियां तोड़कर। कठिनाई से उसने अपने को
और साइकल को गिरने से बचाया। उसके मस्तिष्क में त्रिजेन्द्र और उसके बारे
में अगली-पिछली बातें घूमने लगीं। जैसे-जैसे वह इन्हें भुलाने का यत्न करता वे
और तेज़ी से घूमने लगीं और घूमती ही चली गईं।

उस दिन के बाद कई बार ऐसा हुआ कि तरनतारन जाने पर सहसा चन्दन
अन्तर में एक प्रकार का संघर्ष-सा होने लगता—कोई आकर्षण-सा उसे अमृतसर
मोड़ तक ले जाता। जब-जब भी ऐसा होता वह बलपूर्वक सभलते हुए अपने
धिक्कारने लगता—'अरे कमीने, कुछ तो शर्म कर। अभी तक तू उसपर
द लगाए बैठा है?'

र्मों के मौसम में दूध की मांग अधिक रहती है, पर जाड़ों में कम पड़ जाती
भी मन्दा होने लगता है। इसीके फलस्वरूप चन्दन की कमाई अढ़ाई से
ढ़ रुपये पर आ पहुंची। तिसपर इन दिनों पकड़-पकड़ाई का बाज़ार गर्म
के भी दूध में मिलावट प्रमाणित होती, उसपर भारी-भारी जुर्माने ठुक
दन भी कई बार दण्डित हो चुका था। रोज़-रोज़ की इस पकड़-धड़क
र बहुत-से दूध-फरोश तो इस धन्धे को छोड़कर दूसरे कामों में लग
लिस दूध यदि बेचें तो उन्हें बचत कुछ नहीं होती, और जो मिलावट
जुर्माना ठुकता है, कब तक इससे बचे रहते? अन्त में उन्हीं लोगों का
ह सका जिनके घर में दो-चार अपनी भैंसें थीं।
सोचा कि वह भी यही करे। अर्थात् कुछ तो घर का दूध और

मोल लेकर किसी प्रकार से काम चालू रख सके, पर यह बात सिरे नहीं चढ़ पाई। एक तो पंजो दूध ही कम देने लगी थी—यही तीन-चार सेर, और फिर गुरो क्यों मानने लगी ? उसने साफ कह दिया कि—"मां अगर डायन हो जाएगी तो क्या बच्चों को खाने लगेगी ? दिन-भर तू बैल की तरह काम में जुटा रहता है। अगर चार घूंट दूध और कौड़ी जितना मक्खन भी तेरे पेट में नहीं जाएगा तो कैसे चलेगा ?"

चन्दन के प्राण संकट में थे। न तो वह मां की ममता को ठुकरा सकता था, न ही उसे कोई दूसरा काम मिलने की आशा थी। अन्त में उसने मन कड़ा करके यही सोचा कि इस झमेले को गले से उतार फेंके। पर उतार फेंकने पर क्या उसका गला छूटेगा ? जिन लोगों से वह दूध लिया करता था उनका पावना अभी तक उसके सिर पर था। भुगतान वह इसलिए नहीं कर पाया कि गत दो महीने में उत्तरोत्तर तीन बार उसे जुर्माना भरना पड़ा, और उधर कुछ रकम हलवाई के पास भी फंसी थी।

इसी दुविधा में वह कुछ दिन और अपने नीरस धंधे में लगा रहा, पर अन्त में उसने हथियार डाल ही तो दिए।

गुरो ने देखा कि दिन निकल आया है, और चन्दन अभी तक पैर फैलाए सो रहा है। वह तो प्रभात में ही उठकर दूध बटोरने निकल जाया करता था। उसने जब उसे झकझोरा तो वह खीझकर बोला—"आज दूध वालों ने छुट्टी की है मां, मुझे सोने दो।"

और फिर जब गुरो उसे नाश्ते के लिए बुलाने आई तो उसने चन्दन को लिखने में व्यस्त पाया। उसने जब नाश्ते की याद कराई तो वह बोला—"आज मुझे नाश्ता नहीं करना है मां।" बहुत कहा गुरो ने, पर वह नहीं माना। अन्त में जब चन्दन ने उसे फटकार ही बता दी तो वह जबान को दांतों तले दबाए लौट गई।

नाश्ते का समय बीत गया। और जब दोपहर के खाने का समय हो आया तो गुरो फिर जा धमकी। पर चन्दन को उठाने में उसे सफलता नहीं मिली—वही डांट खाकर फिर लौट आई। उसके बाद फिर गई, फिर लौटी—फिर गई—फिर लौटी। उधर चन्दन का यह हाल था कि एक ही बैठक में बैठे-बैठे उसकी कमर दुखने लगी और सिर में दर्द होने लगा, पर उसकी लिखाई का काम समाप्त

...हुआ।

जब प्रायः डेढ़ दर्जन पृष्ठ लिखने पर इसकी समाप्ति हुई, तो वह ... लिखे को ध्यान से पढ़ने लगा। न जाने उसे क्या सूझी जो क्रोध मे आकर ... सारे पृष्ठों को मरोड़कर इधर-उधर पटक दिया, और फिर से लिखने में ... गया। इसीमें उसने शाम कर दी।

गुरो फिर आ धमकी और डरते-सकुचाते हुए बोली—"आज सारा दि... लिखे ही चला जाएगा बेटा? सवेरे से खाली पेट—न खाया न पिया है।"

उत्तर में चन्दन ने फिर वैसी ही फटकार सुनाई—"कही पित्त तो नहीं पड़... जाएंगे; मां, मुझे परेशान मत कर।"

गुरो सहम गई। बात उलटने की सामर्थ्य न पाकर बोली—"अंधेरा हो चला है, लालटेन रख जाऊं?"

"रख जा", चन्दन ने बिना उसकी ओर ताके कह दिया। थोड़ी देर बाद गुरो लालटेन रख गई।

अन्ततः चन्दन ने लिखने का काम समाप्त कर लिया, और फिर उन लिखे ... हुए पृष्ठों को क्रम वार करके पढ़ने लगा :

"प्रिय ब्रिजेन्द्र,

"बड़ा आश्चर्य हो रहा है मुझे अपनी बे-समझी पर कि यह पत्र तुम्हें क्यों ... लिख रहा हूं? क्या अभी तक भी तुमसे मेरा कोई सम्बन्ध बाकी है? क्या इतनी ...बार आज़माने के बाद अभी और आज़माना मेरे लिए बाकी था? जिस निष्ठुर ने मेरे दर्जनों पत्रों मे से किसी एक का भी उत्तर न दिया वह क्या इसका उत्तर ...गा? इसकी आशा न होने पर भी जो यह लिख रहा हूं तो इसे मेरी हिमाकत ... बेशर्मी ही कहना चाहिए। खूब जानता हूं कि इसका कुछ भी लाभ नहीं होगा, ... फिर भी वही कर रहा हूं। हाय रे नामुराद दिल! नहीं काबू मे रख सका ... इसे।

"अब मेरे पास लिखने को ऐसा क्या बचा है, जिसे मैंने तुम्हें नहीं लिखा, ...का खून कागजों पर उडेल-उडेलकर भेज चुका, पर इसका लाभ? फिर ... जाने क्यो, आज मेरे अन्तर मे से कोई कह रहा है कि अभी भी मेरे पास ... लिखने को तनिक-सा कुछ बच गया है।

...याद है ब्रिजेन्द्र तुम्हें वह वक्त, जब हम दोनो अन्तिम पेपर करके यूनिवर्सिटी

हाल से लौटे थे ? कार में बैठे-बैठे एक ही सांस में तुम कितना कुछ कहते चले गए थे मेरे स्तोत्र के रूप में। और फिर जिस वक्त मैं गांव लौटने लगा तो तुमने कितने दर्द में भीगकर कहा था—'चन्दन ! मेरे भाई ! गांव जाकर मुझे भूल मत जाना। इस दुनिया में तेरे सिवा मेरा कोई नहीं है···।' खैर, छोड़ो अब इन फिजूल की बातों को।

"डेढ़ साल का समय कुछ ऐसा अधिक नहीं होता है—पर इस डेढ़ साल के समय ने मुझे कितना बड़ा सबक सिखलाया, जो शायद दूसरा कोई जिन्दगी-भर में सीख न पाता। और उसी सबक ने मुझे बताया कि भेड़िया यदि मेमने से प्यार करता है तो किसलिए। कसाई अगर अच्छी खुराक खिलाकर बकरे को पालता है तो किस मनोरथ से।

"वैसे यह मैं मानता हूं ब्रिजेन्द्र, कि मित्रता का हक तुमने पूरे तौर से अदा किया। जो मरम्मत किए एक सूट, एक जोड़ा पुराने बूटों और एक सूटकेस के रूप में था। पर सच बताना कि क्या इतना भर पाने को ही मैंने तुम्हारे लिए जान लड़ाई थी ? इसीका हक अदा करने को मैंने स्कूल-भर से दुश्मनी मोल ली थी ? फिर भी यदि तुम पास न हो सके तो क्या मेरा ही इसमें दोष था ?

"इसके उत्तर में तुम कह सकते हो कि 'और नहीं तो क्या मैं तुझे नोटों के बण्डल बांधकर दे देता ?' मैं जानता हूं कि जिन लोगों के पास नोट के पुलिन्दे नहीं हैं वे भी इस दुनिया में जीते हैं, और जिनके पास हैं वे उन्हें बांटते नहीं फिरते हैं। पर अफसोस तो मुझे इस बात का है कि मेरे मांगने के बिना ही तुमने मुझे बड़ी-बड़ी उम्मीदें बंधवाईं। अपनी मर्जी से ही तुमने मुझे ऊपर उठाने की सीढ़ी बताई और फिर खुद ही उस सीढ़ी को खींचकर मुझे नीचे पटक दिया। मेरा वही हाल हुआ जैसे कहा है कि 'कौवा गया हंसों की भाषा सीखने, और वहां जाकर वह अपनी भी भुला बैठा।'

"लोग कहते हैं कि बड़े लोगों की पीठ-भर देख लेने से ही छोटे आदमी का बेड़ा पार लग जाता है। पर मैंने तो ब्रिजेन्द्र, पीठ छोड़ दो साल तक तुम्हारा मुंह देखा। और इसपर मुझे मिला यह। मैंने तुमसे बहुत बड़ी याचना नहीं की थी—यही सेर-भर अनाज ही मांगा था। मेरे घर की हालत तुमसे छिपी नहीं है। एक यतीम हूं। मां-बाप के मर जाने पर पड़ोसियों ने सगे मां-बाप से भी बढ़कर मेरी पालना की—अपना पेट काटकर मुझे पढ़ाया, पर उसके बदले में इस कपूत ने

उन्हें क्या दिया ?

"तुम्हारी बंधाई हुई आशाएं जब एक-एक करके ढह गई तो हारकर मुझे नया धन्धा अपनाना पड़ा, जिसके बारे मे मुझे कुछ बताने की जरूरत नहीं ज पड़ती, जबकि आज से कुछ दिन पहले तुमने अपनी आंखो उसे देखा। वही, जि दिन श्रीमान अपनी गाड़ी को खुद ड्राइव करते हुए तरनतारन की ओर निकले थे, और बाजार मे एक दूध-फरोश से जनाव की आंखें चार हुई थीं, औ झटपट जनाब ने मुह दूसरी ओर कर स्पीड तेज कर ली थी।

"इस धन्धे से मुझे नफरत नही है, जबकि मेरे जैसे दूसरे लोग भी यही कर रहे हैं। पर मेरी बदकिस्मती कि इसमें भी मुझे सफलता न मिल पाई और अन्त मे उसे छोड़कर बैठ गया।"

"काश, ब्रिजेन्द्र, सीने से दिल निकालकर तुम्हें दिखला सकता। कई बार सोचा कि किसी दिन वहां चला जाऊ और अपना बदनुमा हुलिया दिखलाकर तुम्हे, तुम्हारे ऐश्वर्य को और तुम्हारे वायदों को शर्मिन्दगी मे डुबो आऊ। पर नही हो सका मुझसे।

"लो, अब खत्म करता हू। अगर दस-पांच कागज और भी काले कर डालूंगा तो क्या फर्क पड़ेगा, जबकि यहा पर वही शेर घटता है कि 'पत्थर भी कभी सुनते हैं, फर्याद किसीकी ?'

चन्दन"

पढ़ लेने के बाद चन्दन ने इन कागजो को लिफाफे में डाला, बन्द किया, ऊपर पता लिखा और उठकर बाहर निकला। उसने देखा कि गुरो दीवार के साथ सटी खड़ी है। वह जब आगे बढ चला तो गुरो ने उसे पुकारा—"कहां चला बेटा ? मैं खाना खिलाने को कब से खड़ी हू।" और उत्तर मे चन्दन इतना ही कहकर घर से बाहर हो गया—"चिट्ठी छोड़कर अभी आया मां।"

१७

भी-कभी ऐसा भी होता है कि हम आप ही अपने को धोखा देने लग जाते हैं, वा अपने कोप से बचने के लिए अपने से झूठ-फरेब करते हैं। ऐसा प्रायः तब ता है जब हम बार-बार वचन भंग कर चुके हों। शराबी शराब को

हाल से लौटे थे ? कार में बैठे-बैठे एक ही सांस में तुम कितना कुछ कहते चले गए थे मेरे स्तोत्र के रूप में। और फिर जिस वक्त मैं गांव लौटने लगा तो तुमने कितने दर्द में भीगकर कहा था—'चन्दन ! मेरे भाई ! गांव जाकर मुझे भूल मत जाना। इस दुनिया में तेरे सिवा मेरा कोई नहीं है'''।' खैर, छोड़ो अब इन फिजूल की बातों को।

"डेढ़ साल का समय कुछ ऐसा अधिक नहीं होता है—पर इस डेढ़ साल के समय ने मुझे कितना बड़ा सबक सिखलाया, जो शायद दूसरा कोई ज़िन्दगी-भर में सीख न पाता। और उसी सबक ने मुझे बताया कि भेड़िया यदि मेमने से प्यार करता है तो किसलिए। कसाई अगर अच्छी खुराक खिलाकर बकरे को पालता है तो किस मनोरथ से।

"वैसे यह मैं मानता हूं ब्रिजेन्द्र, कि मित्रता का हक तुमने पूरे तौर से अदा किया। जो मरम्मत किए एक सूट, एक जोड़ा पुराने बूटों और एक सूटकेस के रूप में था। पर सच बताना कि क्या इतना भर पाने को ही मैंने तुम्हारे लिए जान लड़ाई थी ? इसीका हक अदा करने को मैंने स्कूल-भर से दुश्मनी मोल ली थी ? फिर भी यदि तुम पास न हो सके तो क्या मेरा ही इसमें दोष था ?

"इसके उत्तर में तुम कह सकते हो कि 'और नहीं तो क्या मैं तुझे नोटों के बण्डल बांधकर दे देता ?' मैं जानता हूं कि जिन लोगों के पास नोट के पुलिन्दे नहीं हैं वे भी इस दुनिया में जीते हैं, और जिनके पास हैं वे उन्हें बांटते नहीं फिरते हैं। पर अफसोस तो मुझे इस बात का है कि मेरे मांगने के बिना ही तुमने मुझे बड़ी-बड़ी उम्मीदें बंधवाईं। अपनी मर्जी से ही तुमने मुझे ऊपर उठाने की सीढ़ी बताई और फिर खुद ही उस सीढ़ी को खींचकर मुझे नीचे पटक दिया। मेरा वही हाल हुआ जैसे कहा है कि 'कौवा गया हंसों की भाषा सीखने, और वहां जाकर वह अपनी भी भुला बैठा।'

"लोग कहते हैं कि बड़े लोगों की पीठ-भर देख लेने से ही छोटे आदमी का बेड़ा पार लग जाता है। पर मैंने तो ब्रिजेन्द्र, पीठ छोड़ दो साल तक तुम्हारा मुंह देखा। और इसपर मुझे मिला यह। मैंने तुमसे बहुत बड़ी याचन थी—यही सेर-भर अनाज ही मांगा था। मेरे घर की हालत तुमसे छि एक यतीम हूं। मां-बाप के मर जाने पर पड़ोसियों ने सगे मां-बाप मेरी पालना की—अपना पेट काटकर मुझे पढ़ाया, पर उसके बदले

उन्हें क्या दिया ?

" तुम्हारी बधाई हुई आशाएं जब एक-एक करके ढह गईं तो हारकर मुझे
नया धन्धा अपनाना पड़ा, जिसके बारे मे मुझे कुछ बताने की जरूरत नही
पड़ती, जबकि आज से कुछ दिन पहले तुमने अपनी आंखो उसे देखा। वही,
दिन श्रीमान अपनी गाड़ी को खुद ड्राइव करते हुए तरनतारन की ओर
निकले थे, और बाजार मे एक दूध-फरोश से जनाव की आखें चार हुई थीं, और
झटपट जनाव ने मुंह दूसरी ओर कर स्पीड तेज कर ली थी।

" इस धन्धे से मुझे नफरत नही है, जबकि मेरे जैसे दूसरे लोग भी यही कर
रहे हैं। पर मेरी बदकिस्मती कि इसमे भी मुझे सफलता न मिल पाई और अन्त
में उसे छोड़कर बैठ गया।"

"काश, ब्रिजेन्द्र, सीने से दिल निकालकर तुम्हे दिखला सकता। कई बार
सोचा कि किसी दिन वहा चला जाऊ और अपना बदनुमा हुलिया दिखलाकर
तुम्हे, तुम्हारे ऐश्वर्य को और तुम्हारे वायदो को शर्मिन्दगी मे डुबो आऊ। पर नहीं
हो सका मुझसे।

"लो, अब खत्म करता हूं। अगर दस-पांच कागज और भी काले कर डालूगा
तो क्या फर्क पड़ेगा, जबकि यहां पर वही शेर घटता है कि 'पत्थर भी कभी सुनते
हैं, फर्याद किसीको ?'

चन्दन"

पढ लेने के बाद चन्दन ने इन कागजों को लिफाफे मे डाला, बन्द किया, ऊपर
ता लिखा और उठकर बाहर निकला। उसने देखा कि गुरो दीवार के साथ सटी
ड़ी है। वह जब आगे बढ चला तो गुरो ने उसे पुकारा—"कहां चला बेटा ? मैं
ना खिलाने को कब से खड़ी हूं।" और उत्तर में चन्दन इतना ही कहकर घर से
र हो गया—"चिट्ठी छोड़कर अभी आया मां।"

१७

भी ऐसा भी होता है कि हम आप ही अपने को धोखा देने लग जाते हैं,
अपने कोप से बचने के लिए अपने से छल-फरेब करते हैं। ऐसा प्रायः तब
जब हम बार-बार वचन भंग कर चुके हों। शराबी शराब को

के लिए त्याग देने का प्रण लेता है, फिर उसे तोड़ता है, फिर लेता है, फिर तोड़ता है और इसके फलस्वरूप जब वह अपनी ही नजरों में गिर जाता है—जब अपने से ही लजाने लगता है, पर आदत की मजबूरी उसका पीछा नहीं छोड़ती, तो ऐसे समय वह नये-नये बहाने तराशने लगता है—'कहां, वह तो जुकाम के कारण एक घूंट···' इत्यादि। इस प्रकार वह अपने ही साथ धोखा-धड़ी करता चला जाता है।

कुछ बेकारी ने, कुछ घरवालों की दुर्दशा ने और कुछ बाहर वालों की नोक-झोंक ने जब चारों ओर से चन्दन का काफिया तंग कर दिया तो उसकी मनःस्थिति कुछ उसी प्रकार की हो उठी। कई बार रात को लेटे-लेटे वह सोचा करता—'पर इसमें हर्ज ही क्या है अगर किसी दिन वहां हो आऊं ! कितना स्वार्थी हूं मैं कि उन लोगों पर इतनी भारी मुसीबत पड़ी, और मैंने एक बार भी जाकर ब्रिजेन्द्र को झूठी-सच्ची हमदर्दी तक न दिखाई ? भावो जी का भी इसमें क्या दोष था ? जिस बेचारी के अपने ही होश ठिकाने न हों वह भला दूसरे की ओर क्या ध्यान देगी ? इसी नाराज़गी के मारे ही तो ब्रिजेन्द्र ने मुझे खत-पत्र लिखना, जवाब तक देना बन्द कर रखा है।' पर इससे थोड़ी ही देर बाद वह अपने विचारों को अपनी ही तर्क की-छुरी से काटने लग जाता।

अगणित दिन और रातें चन्दन के अन्तर में यही द्वन्द्व चलता रहा। तब एक दिन गुरो ने देखा कि चन्दन उसी चिररोगी साइकल के कलपुर्जे कस रहा है।

"इसे क्या ले बैठा बेटा, मरे हुए टट्टू को ?"

"कुछ नहीं मां, ज़रा अमृतसर जाना है।"

"अमृतसर ?" और इससे अगला प्रश्न 'वहां क्या धरा है ?' गुरो के हलक में ही फंसकर रह गया। पर चन्दन ने बिना सुने ही उसे सुन लिया, और बोला—"दरबार साहिब जाऊंगा—स्नान करने।"

पुण्य के काम में भला गुरो कैसे रुकावट डाल सकती थी ? बोली—"अच्छी बात है। और सुन, मनौती भी मानकर आना कि गुरु महाराज तेरा रोज़गार बना दें। मैंने भी मान रखी है।"

"अच्छा मां," कहकर वह मरम्मत में जुट गया, और थोड़ी देर बाद उसी खड़खड़े पर सवार होकर चल पड़ा, पर थोड़ी देर में फिर लौट आया। साइकल ने भी मानो बुरे दिनों में उसका साथ देने से नाही कर दी। उसे फिर वहीं घर के

कान मे पटककर वह पैदल चलकर वोपाराय रेलवे स्टेशन पर जाने को त
हुआ।

जैसे ही वह चला कि गुरो ने आकर उसका हाथ थाम लिया यह पुका
हुए—"वेटा, कही मुझसे धोखा तो नही किए जा रहा है अमृतसर के वहाने से···
और गुरो फफक उठी। चन्दन ने उसे धीरज दिया, कसमे खाईं, और घर से वाह
निकल गया।

रेल मे सवार होकर जब उसने गहराई से अपने पर ध्यान दिया तो उसे लगा
जैसे वह पतित हो चुका है—उसका शरीर गलने लगा है।

यह सच है कि भूख से आतुर होकर भी गऊए घास की जगह पर मांस नही
खाने लगती हैं—न ही शेर मांस की जगह घास चरते हैं। पर यह मानव, यह न
तो शेर है न ही गऊ। पशुओं मे केवल जीने की अभिलाषा रहती है, पर मनुष्य
की अभिलाषाओं का लक्ष्य तो जीने के अतिरिक्त दूसरे भी वहुत-से केन्द्रो पर रहता
है। तभी तो वह घोर निराशा मे भी आशा का कोई नन्हा-सा विन्दु खोजने से
नही चूकता। उसी खोज के अन्तर्गत वह कई वार अपने स्वभाव के, अपनी प्रकृति
के और अपनी इच्छा के प्रतिकूल आचरण कर बैठता है। वैसे ही जैसे भूख का
सताया आदमी मुर्दा खाने को, नग्नता का सताया कफन ओढ़ने को तैयार हो
जाता है। आखिर 'आदम' का ही तो वेटा है न, जिसके वारे मे लिखा है कि उसने
वहिश्त मे मेवो से मुह मोडकर अनाज का एक दाना खा लिया था, और उसी
अपराध मे उसे वहिश्त से निर्वासित करके धरती पर पटक दिया गया था। आज
चन्दन की कुछ वैसी ही स्थिति थी।

वोपाराय स्टेशन से गाडी चली, पट्टी पहुची, फिर कैरों और उसके वा
के, रुड़ेआसल इत्यादि स्टेशनो पर रुकती गई—चलती गई-चलती गई, रुकतं
पर चन्दन था कि उसे ध्यान तक नही। न जाने किन गहराइयों में खोया
था वह। उसकी विचारधारा तव लौटी जव गाड़ी तरनतारन स्टेशन पर
रुकी। वह अपने को तन्द्रा की सी हालत मे पा रहा था और यह तन्द्रा उसे
ह इधर से उधर—उधर से इधर उछाले जा रही थी जैसे खिलाड़ी का
द को। उसने एक वार गाडी से बाहर प्लेटफार्म पर नजर डाली। खासी
ल थी, सव कोई अपनी-अपनी धुन में मस्त थे। उन सवकी

केवल एक ही व्यक्ति ऐसा दिख रहा था जिसके लिए कोई धुन नहीं, कोई काम नहीं—उसका 'मैं'।

बहुत उदास था इस समय उसका मन, और इस उदासी का विशेष कारण था यही सफर। वह कहां जा रहा है, किसके पास जा रहा है? और यदि कहीं नहीं, किसीके पास नहीं, तो फिर क्यों जा रहा है?

गाड़ी तरनतारन से चलकर दुखनिवारण जाकर खड़ी हुई। वहां से गोहलवड़, फिर संगराणा, भगतांवाला और अन्त में अमृतसर के विशाल प्लेटफार्म में प्रविष्ट हुई।

सन्ध्या उतर आई थी। गाड़ी से उतरकर उसने अपना मैल से अटा हुआ कम्बल ओढ़ा और पैदल ही गुरु रामदास की सराय की ओर चल खड़ा हुआ। रिक्शा का भाड़ा चाहे दो ही आने था, पर आज तो दुअन्नी भी उसके लिए बहुत बड़ी चीज़ थी। उसकी जेब में कुल मिलाकर डेढ़ रुपये की पूंजी थी, जिसकी सहायता से वह अधिक से अधिक दो वक्त का खाना ही प्राप्त कर सकता था। पर संयोग से उसके लिए गुरु रामदास का लंगर यहां मौजूद था। फिर भी इस दुअन्नी का खून कर डालना उसे नहीं रुचा।

बहुत दिनों बाद वह आज गुरु रामदास की नगरी के दर्शन कर रहा था। रात उसने सराय में व्यतीत की, खाना बिना दाम उसने भर-पेट खाया। पर उसे नींद बहुत कम आई। 'ब्रिजेन्द्र के यहां जाना चाहिए, ब्रिजेन्द्र के यहां नहीं जाना चाहिए', इस फेर में पड़कर उसने रात का कितना ही भाग गुज़ार दिया और सवेरे तक भी किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाया।

दिन चढ़े उसने जाकर सरोवर में स्नान किया, गुरु महाराज की हज़ूरी में—जैसा कि उसे मां ने कहा था, मनौती मानी, और फिर अपने उदास दिल और शिथिल शरीर को लिए बेमतलब ही घंटाघर की ओर चल निकला, जहां पर उसने बड़े-बड़े पोस्टर और इश्तहार दीवारों पर लगे देखे—पंजाबी में, हिन्दी में, उर्दू में। दीवारों के अतिरिक्त वृक्षों के तनों पर और तांगे, रिक्शाओं की फट्टियों पर भी। वे सब थे एक ही विषय—चुनाव—के बारे में, जिन्हें पढ़ते हुए चन्दन को याद हो आया कि इधर बहुत दिनों से आम चुनावों का संग्राम चल रहा है, जिसके विषय में वह गांव में भी कभी-कभार सुनता रहता था और जिससे उसे नाम-मात्र को भी रुचि नहीं थी।

वह बाजार पर बाजार घूम रहा था। उसके देखते ही देखते लाउडस्
का हल्ला-गुल्ला शुरू हो गया—"वोट किने दोगे ? —श्री अमुक राम
"वोट किसनूं देयोगे ?—सरदार···सिंह नू।"

चुनाव के मामले से चाहे चन्दन को दूर का भी नाता नहीं था, पर इस स
को देखकर उसके मन की हालत कुछ-कुछ सुधरने लगी। मानवीय मन का स्व
ही ऐसा है कि नवीनता चाहे रुचिकर हो अथवा अरुचिकर, उसकी ओर वह आकृ
होता ही है।

घूमते-घूमते जब वह थक गया, और उसे भूख भी लग आई तो सराय क
ओर लौटा, और फिर लंगर की ओर जा निकला। पर लगर खुलने में अभी देर थी
समय काटने के लिए वह गुरु रामदास लायब्रेरी में जा घुसा। वहां की विशाल
मेज पर पड़े जितने भी पत्र-पत्रिकाओं पर उसका ध्यान गया, प्रायः सभी चुनावों
के बारे में मोटे-मोटे शीर्षकों से अटे थे। पर उसे तो केवल 'वांटेड' के कालमों से
ही लगाव था। सबसे पहले उसने 'ट्रिब्यून' उठाया और उसमें 'वांटेड' का पन्ना
निकालकर पढ़ने लगा। असामियों के लिए या तो ऊंची विद्या वालों की जरूरत
थी या टैक्निकल योग्यता रखने वालों की। थोड़ी देर के बाद उसने पत्र को मेज
पर रख दिया और उठ खड़ा हुआ। लगर खुलने का समय हो चला था।

चलने के पहले सहसा एक दूसरे पत्र के शीर्षक पर उसकी नजर पड़ी :
"सिख कौम दे सेवक अते देशभगत सरदार शमशेरसिंघ ही तुहाडी वोट दे
हकदार हन।"

वह खड़े ही खड़े सोचने लगा—'क्या वही शमशेरसिंह—ब्रिजेन्द्र का पापा—
जो बीसियों बीमारियों का शिकार है ? क्या वह लैजिस्लेचर बनेगा ? तो वह कोई
सरा होगा।'

जिज्ञासा ने उसे फिर से बैठा दिया। जब उसने इसके सम्बन्ध में निचला
र पढ़ा तो उसे विश्वास हो गया कि ये उम्मीदवार महाशय वही हैं—ब्रिजेन्द्र
पापा—दूसरे कोई नहीं।

'तब तो मुझे पांव टिकाने का मौका मिल ही जाएगा,' सोचते हुए वह उठ खड़ा
और लंगर की जगह वह लाइब्रेरियन की मेज की ओर बढ़ गया और उसने
न के गत दो-तीन सप्ताह के अंक प्राप्त करके उनके अध्ययन में लग गया।
ि सब बातों की जानकारी मिल गई और यह भी कि शमशेरसिंह— मुका-

वेला किस उम्मीदवार से है, तो इन अंकों को लौटाने के बाद वह लाइब्रेरी के अहाते से बाहर निकला। उसके मस्तिष्क में नये-नये विचार, नई-नई योजनाएं उभर रही थीं। अब ब्रिजेन्द्र की कोठी पर जाने का ख्याल करके उसका दिल नहीं ाड़का, बल्कि वह वहां जाने को मचल रहा था। उसकी भूख गायब थी। लंगर में जाने की याद भी उसे नहीं रही। उसने रिक्शा पकड़ा और रेसकोर्स रोड की ओर चला।

१८

हम चाहे किसी भी ध्यान में चल रहे हों, चढ़ाई आने पर हमारे कदमों की गति मन्द हो जाती है—और उतराई के समय तेज़।

जैसे ही रिक्शा रेसकोर्स रोड पर पहुंचा कि अनायास अथवा अकारण ही चन्दन का दिल जोर-जोर से धड़कने लगा, मानो कोई नया कलाकार पहली बार रंग-मंच पर जा रहा हो। पर उसका उत्साह कम नहीं हुआ—न ही ब्रिजेन्द्र को मिलने की इच्छा में शिथिलता आई।

कोठी के मेन गेट पर पहुंचकर वह रिक्शे से उतरा, भाड़ा दिया और शपा-शप भीतर प्रविष्ट हुआ। अब उसके लिए न तो सोच-विचार करने का समय था न ही रुकने का। घबराहट बढ़ी जा रही थी, पर इसकी उसने परवाह नहीं की और यही सोचते हुए वह ब्रिजेन्द्र के कमरे की ओर बढ़ गया—'कोई लील तो नहीं लेगा मुझे—चोरी करके तो नहीं जा रहा हूं, जो वहां जाने पर पकड़ा जाऊंगा।'

कमरा सामने था, दरवाज़ा खुला था, और भीतर ब्रिजेन्द्र मौजूद था। यह सब देखकर एक बार तो उसके कदम ठिठके, पर उसने साहस नहीं छोड़ा—भीतर जा ही पहुंचा।

जाते ही उसकी सब आशंकाएं—सभी भय निर्मूल सिद्ध हुए जब उसपर नज़र पड़ते ही ब्रिजेन्द्र आगे बढ़ आया और उसे आलिंगन में भरकर—पुकारा—"अरे, मेरा भाई चन्दनसिंह! आज तो बड़े भाग्य हैं जो तुमने दर्शन दिए। बहुत दिनों से याद कर रहा था।"

चन्दन को यह मिष्ट भाषण बिना चापलूसी के और कुछ नहीं जान पड़ा, फिर भी उसे क्रोध नहीं हुआ। वह भी तो चापलूसी के अस्त्र से लैस होकर ही आया था।

अतः उसने बढ़कर रंग जमाया—"क्या बताऊं भाई! अपने वस की बात होती तो क्या अब तक रुका रहता? कितनी ही बार तैयार हुआ, पर किसी न किसी झमेले में फंस जाता रहा। आखिर सोचा कि यह झमेले तो जिन्दगी-भर छूटेंगे नहीं। जाऊं, पता तो करूं कि क्या मामला है जो इतनी चिट्ठियां भेजीं, किसीका भी जवाब नहीं।"

और फिर ब्रिजेन्द्र के पूछने पर कि 'ऐसे कौन-से झमेले पड़ गए?' चन्दन सविस्तार बताने लगा कि किस प्रकार वह पहले डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के चुनावों में उलझा रहा, जिसके फलस्वरूप उसने कांग्रेसी उम्मीदवार को सफल बनाया। फिर जब आम चुनावों का प्रापेगेंडा शुरू हुआ तो ये लोग उसके गले का हार ही बन गए। अतः तभी से काम में फंसा चला आ रहा है। दिन को दिन देखता है न रात को रात। तभी कपड़े-लत्ते की यह हालत हो रही है। तन-बदन का होश तक नहीं है।

सुनते-सुनते ब्रिजेन्द्र की मैत्री का रंग और भी गाढ़ा होने लगा। इधर-उधर की बातें चलती रहीं, और बीच-बीच में वही चुनावों का प्रसंग घुस आता रहा—कभी इस ओर से, कभी उस ओर से। अन्ततः ब्रिजेन्द्र बोला—"क्या तुम्हें पता नहीं है कि पापा जी भी उम्मीदवार खड़े हुए हैं?"

"पता क्यों नहीं है।" वह बोला—"वीकली और डेली पेपर जारी करवा रखे हैं। पता कैसे न लगता?"

"और पता होते हुए भी तुम दूसरों का प्रापेगेण्डा करने में जुट गए? यह तो वही बात हुई कि 'घर का जोगी जोगड़ा और बाहर का जोगी सिद्ध'।"

"बात तुम्हारी सच्ची है ब्रिजेन्द्र। मैंने कई बार इसे महसूस किया। पर किसीने मुझे याद भी तो किया होता।"

"वाह भई वाह," ब्रिजेन्द्र ने कहकहा लगाया—"अपने घर के लोगों को पुकारा जाता है भला? वैसे गलती मेरी भी है—तुमसे शर्मिन्दा हूं कि चिट्ठियों का जवाब तक न दे सका। पर कैसे तुम्हें बताऊं भाई, किन कष्टों में पिछला साल गुजरा है। पहले पापा जी इतने बीमार पड़ गए कि जीने तक की उम्मीद न रही। वह तो गुरु महाराज ने कृपा की। ऊपर से दूसरी मुसीबत आ पड़ी—मुकदमे की। इतना ही शुक्र है कि बरी हो गए।"

उत्तर में चन्दन बढ़-चढ़कर दुःख और सहानुभूति का प्रगटाव करता चला गया। अन्त में दोनों ने दोनों की सब बातें क्षमा कर दीं। चन्दन ने इतना और

कहकर मामला साफ कर दिया—"बीमारी के बारे में नहीं जानता था, पर मुकदमे के बारे में जब पता चला कि किसी पाजी ने झूठ-मूठ की मुखबरी करके पापा जी को फंसा दिया है, तो सुनते ही भागा चला आया, तुमने भाबो जी की जबानी सुना ही होगा। आया तो इसी मतलब से था कि जहां तक बन पड़े तुम्हारे किसी काम आ सकूं, पर भाबो जी ने जब कह दिया कि तेरी ज़रूरत नहीं है तो क्या करता ! तुम तब यहां थे नहीं। सो लाचार होकर लौट गया। चिन्ता के मारे, सौगन्ध है, जो नींद आती हो। चिट्ठी पर चिट्ठी लिखता चला गया, पर तुम हो कि जवाब में टस से मस न हुए।"

अपनी भूल पर लज्जित-सा होकर ब्रिजेन्द्र बोला—"क्या कहूं भाई ! स्वभाव ही कुछ ऐसा पाया है। आदमी खुद तो मुसीबत में फंसा हो, साथ में मित्र को भी चैन से न बैठने दे, ऐसा मुझसे हो नहीं सकता। इसीसे कुछ लिख न सका, वर्ना कौन दिन होगा जब तुम्हें याद न किया हो ! अब हमें पिछली-अगली बातों को भूल जाना चाहिए। यह भी अच्छा हुआ कि तुम मौके पर आ गए। इस वक्त मुझे तुम्हारी कितनी ज़रूरत थी, पर शर्मिंदगी के मारे तुम्हें बुलावा तक भेजने की जुर्रत न कर सका। तुम्हें मालूम है चन्दनसिंह, कि चुनाव जीतना खालाजी का घर नहीं है। मैंने तो बहुत समझाया पापा जी को कि आपकी सेहत अच्छी नहीं है, मत यह खटराग उठाओ, पर नहीं माने। बार-बार यही कहते कि बेटा, सारी उम्र तो कारोबारी झंझटों में खो दी, अब पिछली उम्र में कौम-मुल्क की भी तो कुछ सेवा करनी चाहिए।"

चन्दन मौन साधे सुनता रहा। उसे गुम-सुम देखकर ब्रिजेन्द्र ने पूछा—"क्या सोच रहे हो दोस्त ?"

अनमना-सा मुंह बनाकर चन्दन बोला—"यही सोच रहा हूं कि अगर उस उम्मीदवार के काबू में न आ गया होता तो आज पापा जी के लिए क्या कुछ न कर दिखलाता !"

ब्रिजेन्द्र उत्तेजित होकर बोला—"तो अब इसमें क्या फर्क पड़ गया है ? उन लोगों ने तुम्हें बैं थोड़े ही करवा रखा है।"

"यही तो मेरे लिए परेशानी है, भाई। अगर वे न करवा लिया होता तो क्या मैं पापा जी की सेवा को छोड़कर किसी दूसरे की तरफ आंख उठाकर भी ताकता ? असल में उन लोगों की सारी उम्मीदें ही मुझीपर हैं। तभी तो

...उन्होंने।"

ग्रोर व्रिजेन्द्र के पूछने पर उसने बताया—"एक मुश्किल तो यह है कि
लोगों ने मुझे डिस्ट्रिक्ट बोर्ड में ठेका दिलवा दिया, ग्रोर दूसरे, पेशगी के तौ
भी काफी दे रखा है।"

व्रिजेन्द्र को थोड़ी-सी निराशा हो ग्राई। चन्दन जैसा चुस्त ग्रोर मंजा हु
स्पीकर हाथ में ग्राकर निकल जाए, यह उसके लिए ग्रपशकुन की बात थी।
जानता था कि लैक्चरबाज़ी में चन्दन कितने काम की चीज़ है। उसने दाना फेंका—
"तो फिर क्या है! उन लोगों ने ग्रगर तुम्हें छोटा-सा ठेका दिलवाया है तो इध
गुरु महाराज की कृपा से तुम्हें इतना बड़ा ठेका मिल जाएगा कि दो ही तीन साल
की कमाई में मालामाल हो जाग्रोगे। बाकी रहा पेशगी का सवाल, तो वह रकम
ले जाकर उनके माथे पर पटक देना।"

चन्दन ढीले-से स्वर में बोला—"व्रिजेन्द्र, तुम्हारा कहना ग्रोर मेरा इन्कार
यह कैसे हो सकता है? पर खुद ही मेरी जगह पर खड़े होकर सोचो कि इस वक्त
कितनी नाज़ुक है मेरी पोज़ीशन, जबकि उनकी कामयाबी सौ फीसदी मुझपर ही
निर्भर करती है? फिर यह भी तो है कि ग्रगर उनकी फतह हो जाए तो ज़िन्दगी-
भर के लिए मेरी पांचों घी में हैं। कहा है कि जिसका राज उसीका तेज। ज़िले-
भर के ग्राफीसर मेरी बैंक पर हैं। उनकी मदद से क्या कुछ नहीं पा सकूंगा! ग्रोर
फिर यहां ग्रसूल की भी तो बात है न।"

व्रिजेन्द्र उसकी गर्दन में बांह डालकर बोला—"ग्ररे छोड़ो यार इस ज्ञान-ध्यान
को। इतनी-सी बात के लिए तुम्हारा ग्रसूल न ही टूट जाएगा। पापा जी तुम्हारे क्या
कुछ नहीं होते हैं? उनकी सेवा करना क्या तुम्हारा फर्ज़ नहीं है?"

"बल्कि तुमसे भी ज़्यादा।" वह ग्रसहमत-सा होकर बोला—"पर क्या करूं?
...र इलाके-भर के ग्राफीसरों से दुश्मनी मोल लेनी पड़ेगी।"

"दुश्मनी।" व्रिजेन्द्र प्रोत्साहित होकर बोला—"उसकी ग्रांखें न फोड़ दी
...गी जो तुम्हारी ग्रोर ताक भी जाए? पापा जी ने बड़े-बड़े हैंकड़बाज़ों को सीधा
...छोड़ा है, वे ग्राफीसर लोग हैं किस खेत की मूली। ग्रच्छा, यह तो बताग्रो,
...ा रुपया देना है तुम्हें, उनका?"

"रुपया तो मामूली है—सिर्फ पांच सौ। जिसे मैं खुद भी ग्रासानी से लौटा
...हूं पर..."

"अब पर-वर की वातें जाने दो।" वह बोला, "रुपया तुम्हें आज ही मिल जाएगा।"

"तुम बड़ी जबरदस्ती कर रहे हो व्रिजेन्द्र—मुझे कांटों में घसीटने लगे।"

"अगर दोस्त की खातिर किसीको कांटों में भी घिसटना पड़े तो कुछ बुरा नहीं है, चन्दनसिंह।'

"अरे हां", सहसा व्रिजेन्द्र बोल उठा—"मैं तो भूल ही गया। पापा जी को एक मीटिंग में जाना है और मैंने अभी तक उन्हें कल के रुटीन की रिपोर्ट भी नहीं दी है। तो तुम थोड़ी देर के लिए बैठो, मैं अभी आया। साथ में तुम्हारे आने की खुशखबरी भी उन्हें दे आऊं।" और कहते हुए वह उठकर कमरे से बाहर निकल गया।

१९

अपने रोगी शरीर को दरवाज़े की ओर ढकेलते हुए शमशेरसिंह ने पुकारा—"जल्दी कर भई, देर हो रही है।" आवाज़ इस प्रकार निकली जैसे चलती चक्की में ककंड़ रुक जाने से निकलती है।

"लाया जी।" इस उत्तर के साथ उनका नौकर 'पूरन' नाश्ते की ट्रे दोनों हाथों में थामे प्रविष्ट हुआ।

सरदार ने अपना मेकअप समाप्त कर लिया था। नाश्ते के गर्म एवं सुगंधित पदार्थों ने उनकी भूख और भी चमका दी। पर अनिच्छा का प्रगटाव करते हुए उन्होंने पूरन को घुड़की बताई—"अरे पागल, फिर वही सब उठा लाया? इतना सारा मक्खन, आमलेट-परांठा और कटलस! यह सब तेरा बाप हज़म करेगा?"

पूरन को शायद इस प्रकार की घुड़कियां सुनने की आदत थी। सब चीज़ें मेज पर चुनते हुए वह निर्विकार भाव से बोला—"जी, भाबो जी के हुक्म से तो लाया हूं। जिस चीज़ की ज़रूरत न हो उसे लौटा ले जाऊंगा।"

"चल रहने दे अब।" कुर्सी पर बैठते हुए वे क्रोधित-से स्वर में बोले—"अजीब औरत है। जानती भी है कि डाक्टर ने परहेज़ करने की कितनी ताकीद कर रखी है, फिर भी नहीं सुनती किसीकी बात।"

पूरन लौट गया, और सरदार जी नाश्ता करने लगे। इस तरह डरते-डरते मानो डाक्टर की तलवार अब भी उनके सिर पर लटक रही हो। और श्रीमती जी

...फिलसफा भी तो सिरे से गलत नहीं था कि आदमी अगर खाएगा न जीएगा किसके सहारे, काम कैसे करेगा।

सरदारनी मानकौर का यह फिलसफा प्रायः उसी प्रकार का है जैसा कोचवान का जो अपने मरियल घोड़े के गालों में इसलिए निहारी ठोसता है अगर निहारी नहीं खाएगा तो वह टांगा कैसे खींचेगा?

सभी सयानों का यही मत है कि खुराक आदमी को बूढ़ा नहीं होने देती पर न जाने क्यों, यहां पर यह सिद्धान्त कुछ उल्टा दिखाई पड़ता है। कहना मह होगा कि सवेरे से लेकर रात तक आपका ध्यान खुराक की ओर ही खिंचा रहता है। और जब भी खाते हैं खूब पेट भरकर—जिसमें मक्खन, अंडे, पनीर, मीट, मच्छी, दूध, क्रीम सभी कुछ रहता है। और फलाहार, सो अलग से। फिर भी यदि नामुराद बीमारियां उनका पीछा नहीं छोड़ती हैं तो इसे या तो किस्मत का खेल कहना चाहिए या डाक्टरों-हकीमों की मूर्खता।

बीमारियों ने तो आपके साथ जन्मजात नाता जोड़ रखा है। विशेष तौर से कब्जी ने। यह भी नहीं कि आप दवा-दारू की ओर ध्यान न देते हों, बल्कि खाने-पीने से भी बढ़कर। पर किस्मत का ही कुछ ऐसा खेल है कि जितना वे अधिक दवाइयों का प्रयोग करते हैं, उसी क्रम से बीमारियों की गिनती बढ़ती चली जा रही है। यह जो कहा जाता है कि कब्जी सब बीमारियों की मां है, यहां पर यथार्थ सिद्ध हुआ है। कब्जी ही की कोख से न जाने कितने प्रकार के नन्हे-मुन्ने रोग पैदा हो चुके हैं। विशेषतया जब से इस 'मां' ने दो नई संतानें—'ब्लड प्रेशर' और 'हार्ट ट्रबल' प्रसव की हैं तब से तो सरदार जी के लिए और भी मुश्किल बन गई है। इन नई-पुरानी संतानों का नाश करने के लिए वे प्रति सप्ताह नया डाक्टर, नया वैद्य, या हकीम बदलते चले आ रहे हैं।

सच तो यह है कि इन हकीमों, डाक्टरों और वैद्यों पर उनका अधिक विश्वास नहीं रह गया है—किसीका भी कोई टोटका उनके लिए 'रामबाण' नहीं सिद्ध हुआ। फिर भी बारी-बारी से सबों की आजमाइश करने से वे कभी नहीं चूकते हैं। मिसाल के तौर पर 'च्यवनप्राश' अभी हलक से उतरने नहीं पाया कि यूनानी दवाई 'हब्बुल जमानी' की बोतल निकाल ली। फिर उसका असर होते न होते होम्यो-पैथी की पुड़िया खोलकर जबान पर उड़ेल ली। इतने पर भी सन्तोष न होने पर कभी 'फ्रूट साल्ट' इत्यादि पाचक लवणों की बारी आ गई। इस प्रकार आपके

पेट में लुकमान, धनवन्तरि और हनीमैन आदि की होड़ लगी ही रहती है हर समय।

राजनीति के बारे में आपका फिलसफा तनिक विलक्षण-सा है। वे अपने दोस्तों में प्रायः कहा करते हैं—"पालिटिक्स क्या है। और पालिटिशियन बनने के लिए क्या चाहिए ? पहले मैं भी इसी फेर में पड़ा रहा कि इसके लिए तालीम चाहिए, तजुर्बा चाहिए, यह चाहिए, वह चाहिए। पर आखिर इसी नतीजे पर पहुंचा हूं कि यह सब एकदम बेकार है जब तक कि आदमी का दिमाग शतरंज के खिलाड़ी जैसा न हो, जो चौसर पर बैठकर अपने विरोधियों की नरदों को मात देने के लिए हर किसम के दांव-पेच का प्रयोग करना जानता हो।"

इधर कुछ समय से सरदार जी की तबियत कुछ अधिक ढीली रहने लगी है। जिसका एक नहीं, कई कारण हैं। सबसे बड़ा कारण तो यही चुनाव की सिरदर्दी है, जिसके अन्तर्गत बड़े से लेकर छोटे लोगों तक की खुशामद के लिए उन्हें भाग-दौड़ करनी पड़ रही है। चाहे श्रीमतीजी हर प्रकार से उनकी सहायता कर रही हैं, पर काम भी तो छोटा नहीं है। इसपर दूसरा खटराग यह कि उनका मुकाबिला है बहुत बड़े घाघ से, जिसकी चिन्ता उन्हें किसी करवट भी चैन नहीं लेने दे रही है। यदि उससे हार गए तो कहीं मुंह दिखाने लायक नहीं रह जाएंगे। नींद पहले ही कम आती थी, अब नाम को भी नहीं।

डाक्टर ने उन्हें कड़ी हिदायत कर रखी है कि उनका ब्लड प्रेशर तेज़ी से बढ़ रहा है, जिससे एक तो उन्हें आराम करना चाहिए, दूसरे, खाने-पीने में परहेज़, अर्थात् एक कप दूध और दो बिना मक्खन के टोस्टों के अतिरिक्त कुछ नहीं। पर मुसीबत यह है कि एक तो उनका दिल मचलने से बाज़ नहीं आता, दूसरा सरदारनी ऐसी फिजूल हिदायतों को नहीं मानती हैं। करें तो क्या करें—किसकी मानें किसकी न मानें।

इस समय नाश्ते के साथ-साथ आपके मस्तिष्क की मशीन भी चल रही थी, और न जाने कितना कुछ बुनते चली जा रही थी। सम्भवतः अभी और कितनी ही देर तक यही शृंखला चलती रहती यदि नाश्ता समाप्त न हो गया होता। टेबल छोड़ने पर उन्हें लगा जैसे पेट में एक सिलेंडर गैस और दस सेर पत्थर भर गए हों। डकार लेने का भरसक यत्न किया, पर नहीं आ पाई। अलमारी की ओर बढ़े। पहले भीमसेनी चूर्ण की चुटकी ली, फिर बिसमैग की दो गोलियां लीं। 'सपा-

सिल' और 'कोरोमाइन' की शीशियां उठाकर जेब में रख ली। डाक्टर ने जो क
कहा था कि बाहर जाते समय इन्हें साथ रखना चाहिए—न जाने कब प्रेशर ब
जाए, या हार्ट ट्रबल की शिकायत पैदा हो जाए!

हार्न की आवाज ने सूचित कर दिया कि बाहर गाड़ी तैयार खड़ी है। प
पेट की तकलीफ ने कुछ ऐसी ज़िद पकड़ ली कि गाड़ी तक पहुंचना आपके लिए
दूभर हो उठा। न पहुंचने से कैसे चलेगा—बड़ी इम्पोर्टेण्ट मीटिंग है। जैसे ही
बाहर निकलने लगे कि सामने से ब्रिजेन्द्र को आते देखकर रुक गए।

"आप अभी तक यहीं हैं, पापा जी?" ब्रिजेन्द्र ने आते ही कहा—"मैं तो
समझा था कि चले गए होंगे मीटिंग में।"

"हां, कुछ लेट ही हो गया। अच्छा, सेठ दीनदयाल के कल वाले जलसे के बारे
में क्या रिपोर्ट मिली?"

ब्रिजेन्द्र ने एक ही सांस में सब बता दिया कि किस प्रकार विरोधी पक्ष ने कल
के जलसे के अन्तर्गत पापा जी को पानी पी-पीकर कोसा—कितनी बुरी-बुरी बातें
कहीं सेठ के गुण्डों ने। इत्यादि।

"खैर।" वे तिलमिलाकर बोले—"बकने दो बदजातों को, हमारा क्या
बिगाड़ेंगे। मुर्गी राख उड़ाएगा तो उसीपर पड़ेगी।"

ब्रिजेन्द्र बोला—"पर पापा जी, खुद सेठ ने, सुना है कि स्टेज पर आकर ऐसी-
ऐसी बकवास की कि क्या बताऊं—एक-एक सांस में दस-दस गालियां।"

"घबराओ मत बेटा। तुम देखना तो सही कि किस तरह···"

"घबराऊं कैसे नहीं पापा जी," ब्रिजेन्द्र ने टोकते हुए कहा—"असल में उनका
प्रोपेगेंडा-सिस्टम हमसे कहीं बढ़िया है। हमें भी खूब मजबूती से इसे आर्गेनाइज
करना होगा।"

"वह तो भई, तुम्हारा काम है। मैंने यह सब तुम्हींपर छोड़ रखा है। जैसा
चाहो करो।"

"अपनी तरफ से मैं कुछ भी उठा नहीं रखता हूं पापा जी। कमी को पूरा करने
[को] आज एक नया वर्कर ढूंढ निकाला है। हाई क्लास स्पीकर और इतना हार्ड-
[वर्क]र कि चौबीसों घण्टे काम करने पर भी न थके।"

"शाबाश।" पापा जी ने कंधा थपथपाया—"यह तुमने मेरे मन की बात की।
[मैं] भी कई दिनों से इस कमी को महसूस कर रहा था! कौन है वह—कहां से

मंगवाया ?"

"अपना ही आदमी है। कांग्रेस वालों ने बड़ी चौकसी से डोरे डाल रखे थे उसपर। बड़ी मुश्किल से काबू किया। आप जानते ही हैं उसे। वही तो, जिसने मेरे साथ मिलकर इम्तिहान दिया था।"

"आई सी," पापा जी और खुश हुए—"वह काफी इण्टेलीजेण्ट छोकरा है।"

"उसे पांच सौ में खरीदा है, पापा जी।"

"तब तो सस्ता ही मिल गया।"

"तो चैक देते जाइए, कहीं हाथ से निकल न जाए।"

पापा जी ने वहीं खड़े-खड़े चैकबुक निकाली, और पांच सौ का बेअरर चैक काटकर ब्रिजेन्द्र को दे दिया।

"अच्छा, बाकी बातें फिर होंगी—देर हो रही है।" कहते हुए वे आगे बढ़ गए। ब्रिजेन्द्र भी गाड़ी तक उनके साथ गया। पूरन ने बैग लाकर पहले से ही सीट पर टिका दिया था।

२०

स्वतन्त्र होने के बाद भारतवासियों को आम चुनाव लड़ने का पहला अवसर १९५२ में मिला, और दूसरा मिलने ही वाला था। अर्थात् फरवरी-मार्च १९५७ को। अंग्रेजी राज्य के समय भी चाहे इसका प्रचलन था, पर वह तो कम्युनल (साम्प्रदायिक) ढंग का था।

कोई भी पहला अनुभव निर्दोष नहीं होता। यहां पर भी चुनाव का जब पहला अवसर आया तो उसमें बहुत प्रकार की त्रुटियां पाई गईं, जिसका मुख्य कारण था हमारे गुलामी के संस्कार, जो केवल हकूमत बदल जाने पर ही नहीं बदला करते। इसे देखते हुए लोगों का अनुमान था कि आगामी चुनावों तक, अर्थात् पांच वर्ष में भारतीय जनता के मन और मस्तिष्क पूरे तौर से बदल चुके होंगे जिसके फलस्वरूप वह चुनाव पूर्णतया सैक्युलर स्टेट के नियमानुसार सम्पन्न हो पाएगा।

और पांच वर्ष व्यतीत होने पर दूसरे चुनावों का अवसर था, पर देखने में यही आ रहा था कि नीतिवानों की उस भविष्यवाणी के कृतकार्य होने का समय अभी भी दूर है।

लन ज़ोर-शोर से चले। ये दोनों विष-वृक्ष इतनी तेज़ी से पनप रहे थे कि देखते ही देखते उनकी शाखों के साथ 'हिन्दी रक्षा' और 'पंजाबी सूबा' नाम के फल लटकते दिखाई देने लगे, जिससे पंजाब का वातावरण और भी विषैला हो गया। फलतः सन् १९५७ के आरम्भ में अथवा उसके पहले ही सारा पंजाब वास्तविक रूप में साम्प्रदायिकता की रण-भूमि बन चुका था। चाहे देश-भक्ति और परस्पर मैत्री का नाश नहीं हुआ था, पर यह आवाज़ नक्कारखाने में तूती जितनी ही सुनाई देती थी, वह भी कहीं-कहीं पर ही।

साम्प्रदायिकता के लबादे में बड़ी महानता है। यह भगवा हो, नीला हो, चाहे मॉडर्न किस्म के गाउन जैसा। जो भी व्यक्ति अपने ऊपर इसे ओढ़ने अथवा अपने को इसमें छुपाने की कला जानता है, उसे जीवित अवस्था में तो जनता पूजती ही है मरने पर भी उसका समाधि की पूजा की जाती है।

चुनाव आरम्भ होने में अभी महीना-सवा महीना बाकी था। अर्थात् फरवरी के अन्त में पोलिंग आरम्भ होने वाला था, और इस समय आधा जनवरी मास बीत चुका था, पर अभी से चुनावों का बुखार पूरे ज़ोरों पर दिखाई दे रहा था। बड़े-बड़े लीडर, प्लीडर और एडीटर, सब इसी बुखार में ग्रसे थे। इसके अन्तर्गत बरसात के कुकुरमुत्तों की तरह अगणित ऐसे लीडर और अखबार भी पैदा होने लगे, जिनका पहले कभी किसीने नाम तक नहीं सुना था।

भले ही इन चुनावों का कानूनी ढांचा साम्प्रदायिकता-रहित था, पर वास्तव में सब कुछ साम्प्रदायिक रूप में ही चल रहा था। दोनों सम्प्रदायों के—हिन्दुओं और सिखों—के लोग अपने-अपने मजहब के नाम पर वोट मांग रहे थे। यह बात अलग है कि कानून की आंखों में धूल झोंकने के लिए ये लोग अपने को सच्चे देशभक्त ही प्रकट कर रहे थे।

सिखों की प्रमुख संस्था अकाली पार्टी चाहे कांग्रेस से समझौता कर चुकी थी, पर मात्र दिखावे के लिए। अकाली पार्टी इस 'नियम' की पालना के तौर पर अपने अलग कैंडीडेट नहीं खड़े कर सकती थी, जिससे इन लोगों ने एक दूसरा ढंग प्रयोग में लाना आरम्भ कर रखा था। अर्थात् जिन पार्टियों या स्वतन्त्र उम्मीदवारों से उनकी पटती थी, गुप्त रूप में उनकी सहायता कर रहे थे।

यही स्थिति हिन्दू जनता की थी। उनकी सबसे बड़ी साम्प्रदायिक संस्था थी 'भारतीय स्वयं सेवक संघ'। और इसी संस्था की कोख से 'जन संघ' ने जन्म

लिया। इसका मनोरथ था अपने को खालिस राजनीतिक पार्टी प्रकट करके चुनावों में हिन्दू सम्प्रदाय के लिए काम करना।

तो इस प्रकार पंजाब के हिन्दू और सिख अपने-अपने चेहरों पर देशभक्ति के नकाब पहनकर वास्तव में साम्प्रदायिकता की भट्ठी में ईंधन डाले चले जा रहे थे।

सरदार शमशेरसिंह चाहे स्वतन्त्र उम्मीदवार के रूप में खड़े हुए थे, पर अकाली पार्टी के आश्वासन पर।

उम्मीदवारों के हक में प्रचार करना बुरी बात नहीं है। दूसरे कई देशों में तो इस प्रकार की संस्थाएं भी रहती हैं, जो अपना निश्चित पारिश्रमिक लेकर प्रोपेगेंडा या कन्वेसिंग का काम करती हैं। पर हमारे देश का तो बाबा आदम ही निराला है, इसीसे यहां के ढंग भी निराले हैं। यहां पर चुनाव-प्रोपेगेंडा या पब्लिसिटी का काम अधिकतर उन लोगों पर रहता है जो एक नम्बर के मुंहफट, गुंडे और लोफर हों। पंजाब में इन दिनों इसी स्तर के लोगों द्वारा हुल्लडबाजी का अखाड़ा गर्म था। विशेषतया अमृतसर तो पंजाब के दूसरे सब शहरों से बाजी लिए जा रहा था। दूसरे शहर यदि चुनावों के 'बुखार' ही में ग्रस्त थे, तो यहां वालों का बुखार बिगड़कर हिस्टीरिया या मालीखोलिया में बदला जा रहा था। शहर का अमन खतरे में था। वातावरण में से किसी होने वाले भयानक काण्ड के लक्ष्य दिखाई देने लगे थे।

बात यदि चुनावों के मामले तक ही सीमित रहती तो खतरे की ऐसी अधिक सम्भावना नहीं थी। पर यहां तो सिख कौम की जिन्दगी और मौत का सवाल था—हिन्दू जाति के नष्ट होने की सम्भावना पैदा हो गई थी। दोनों ओर से आवाजें गूंज रही थीं—"अगर श्री···जी हार गए तो हिन्दू कौम और हिन्दू संस्कृति का संसार से नाम तक मिट जाएगा।"····"जेकर सरदार···जी दी शिकस्त हो गई तां सिख कौम किते ढूंढियां वी नईं लब्भेगी।" धुआंधार तकरीरों और ज्वालामुखी तहरीरों ने परिस्थिति ऐसी बना दी कि कोई नहीं जानता था कि कब क्या हो जाए। सम्भावित दुर्घटनाओं की रोक-थाम के लिए शहर में पुलिस की टुकड़ियां जहां-तहां दिखाई दे रही थीं। चुनावों के बारे में जहां पर भी कोई जलसा-जलूस होता वहां पुलिस के सिपाही खासी गिनती में पहुंच जाते।

राज्य की ओर से इस प्रकार की चौकसी के कारण चाहे गड़बड़

उसे ब्यौरे से समझा दिए।

दूसरे दिन जब वह बैंक से चैक कैश करवाकर लौटा तो उसकी इच्छा हुई कि दो-एक दिन के लिए गांव चला जाए। पर उसे तो कल से ही काम में जुट जाना था, और आज उसे अपने दूसरे सहकारियों से परिचय और सब प्रकार की जानकारी प्राप्त करनी थी। साथ में उसे हाल बाजार स्थित रेडीमेट कपड़े की दुकान से एक बढ़िया सूट और कुछ दूसरे कपड़े भी खरीदने थे। फिर गांव जाता तो कैसे। उसने डाकखाने जाकर तीन सौ का मनीआर्डर करवाया, और साथ ही एक पत्र भी लिखा, जिसका आरम्भ 'काम मिल गया' से हुआ, और अन्त 'अभी नहीं आ सकता' पर।

उसने चैन की सांस ली अपने नये निवास पर पहुंचकर। बिस्तर से लेकर रसोई के सामान तक, सब कुछ उसके लिए वहां पर मौजूद था। 'महताबसिंह' नाम का एक नौकर भी था, जिसे गत दिनों एक हिन्दू के घर से निर्वासित होने पर रख लिया गया था।

अपने करतब दिखाने का चन्दन के लिए यह पहला और अद्वितीय अवसर था, और इससे उसे भरपूर लाभ उठाना था। कल के स्कीम के अन्तर्गत उसे अमुक-अमुक जगहों पर अपनी पार्टी के साथ जाना है, और वहां इन-इन विषयों पर उसे तकरीरें करनी हैं। आज की रात का अधिक भाग उसने इन्हीं की तैयारी में बिताया। बीच-बीच में बरबस एक पुरानी याद भी उसके अन्तर में उभर आती, और थोड़ी देर के लिए उसकी पेंसिल—जो कापी पर चल रही थी—रुक-सी जाती। उसी कोकिल-कंठी की याद, जिसे बहुत दिन पहले उसे ब्रिजेन्द्र की कोठी पर देखने का सौभाग्य मिला था—जिसकी याद को बहुत दिनों से आर्थिक संकटों के बवण्डर ने धूलि-धूसरित करके उसकी आंखों से ओझल प्रायः कर दिया था। उदर की ज्वालाओं और चिन्ता-ग्रस्त मस्तिष्क वाले व्यक्ति को ऐसी बातें याद नहीं रहा करतीं। पर जैसे ही जठराग्नि शांत होती और दिल-दिमाग पर से चिन्ताओं के बादल छिटकते हैं कि वे भूली-बिसरी कहानियां मनुष्य के अन्तर में फिर से अपना स्थान बना लेती हैं। पर चन्दन ने इस समय उस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया, अथवा ध्यान देने के लिए उसके पास अवकाश ही नहीं था। उसे तो कल अपनी किस्मत आजमानी है। उसे तो ब्रिजेन्द्र और उसके पापा जी पर अपनी योग्यता का सिक्का बिठाना है कि वे सौ जान से उसपर न्योछावर हो उठें। फिर [illegible] जीवनियां

की वह आकृति क्रमशः उसके मानस-पट पर उभरती रही और उभरती ही रही।

दूसरे दिन चन्दन ने वही सब कर दिखाया जिसकी उसे आशा थी पर जिसकी आशा व्रिजेन्द्र को थी न ही उसके पापा जी को। लड़का इतना ग़ज़ब का स्पीकर है ! दोनों बाप-बेटा हक्का-बक्का रह गए सुनकर। और दूसरे श्रोताओं पर जो प्रभाव हुआ उसका तो कहना ही क्या।

यों तो पार्टी में और भी स्पीकर थे, पर जो धाक चन्दन ने जमाई वैसी अभी तक किसीको भी नसीब नहीं हुई थी, और इसके परिणामस्वरूप थोड़े ही दिनों में चन्दन अपनी पार्टी का मुखिया बन गया।

जैसे-जैसे पोलिंग का समय नज़दीक आता गया, चन्दन का रौब बढ़ता गया, वह पापा जी की मूंछ का बाल बनता गया। बड़े लोगों की एक बार कृपादृष्टि होनी चाहिए, फिर चाहे कोई उनकी आंख का सुरमा निकालकर ले जाए। इतनी गहराई तक पैठने के लिए चन्दन परिश्रम भी तो कुछ कम नहीं कर रहा था। दिन को दिन देखता न रात को रात; न खाने की सुध है न सोने की। एक जगह से बोलकर लौटता कि उसके बाद किसी दूसरी जगह पर जा डटता। उसकी तक-रीरें क्या होतीं, मानो आग के बगूले। सुनने वाले प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। फलतः जनसंघी उम्मीदवारों की तुलना में शमशेरसिंह का पलड़ा भारी दिखाई देने लगा।

जब भी शमशेरसिंह का चन्दन से साक्षात् होता तो वे उसकी पीठ थपथपाए और प्रशंसा किए बिना नहीं गुज़रते। यदि व्रिजेन्द्र वहां निकट रहता तो उसे प्रायः कह दिया करते—"व्रिजेन्द्र ! भई चन्दनसिंह को किसी भी प्रकार की तकलीफ न होने पाए—इसका पूरी तरह से ख्याल रखा कर।"

प्रापेगेण्डा में दुगनी-चौगुनी गति आने लगी। प्रतिद्वन्द्वी उम्मीदवारों के ऊपर अधिक आग बरसने लगी। इन दिनों सरदार शमशेरसिंह की तिजोरी के दोनों पट खुले थे, और वे दोनों हाथों से करेंसी नोटों के पुलिन्दे निकाल-निकालकर अपने सहायकों की ओर उछाले चले जा रहे थे। बीमारी ने चाहे कभी भी उनका पीछा नहीं छोड़ा, बल्कि दिन-प्रतिदिन बढ़े ही जा रही थी, पर समय ही ऐसा आ बना था उनके लिए कि इस ओर ध्यान देने की उन्हें न तो फुर्सत थी न ही याद।

चुनावों के आरम्भिक समय में मुख्य रूप से तीन साधनों का प्रयोग किया जाता है—जलसों, जलूसों और इश्तहारों का। इनमें सबसे सहल काम रहता है

इश्तहारबाज़ी का, अर्थात् बड़े-बड़े पोस्टर दीवारों पर चिपकाना। पर इधर कुछ दिनों से मामला कुछ ऐसा बेढब-सा हो गया था कि यही काम सबसे कठिन बन गया, और सबसे अधिक खतरे का भी। जिन पार्टियों का आपस में मुकाबिला होता उनके वर्कर जब दीवारों पर अपने-अपने पोस्टर लगाकर लौटते तो पीछे से उनके प्रतिद्वन्द्वी या तो उन्हें फाड़कर फेंक देते या उनपर अपने पोस्टर लगा देते। इस बात पर कई बार विरोधी दलों में हाथापाई तक नौबत आ जाती। जो यदा-कदा लाठी प्रहार तक भी जा पहुंचती।

गत दिनों इस प्रकार की कुछ घटनाएं घट चुकी थीं, जिससे वर्कर लोग इस काम में हाथ डालने से कतराने लगे। यदि कोई साहसी युवक करता भी तो इधर-उधर की दीवारों पर तो पोस्टर लगा देता पर विरोधियों की आबादी वाले इलाकों में कोई नहीं जाता।

शमशेरसिंह की पार्टी में भी कई दिन से यही गतिरोध पैदा हो रहा था। पार्टी का कोई भी वर्कर इस काम को हाथ में लेने को तैयार नहीं था—दुगने-चौगुने पैसे लेकर भी नहीं। तब चन्दन ने आव देखा न ताव, और इस काम के लिए आगे बढ़ते हुए उसने शमशेरसिंह से यहां तक कह दिया—"तो यह चन्दन किस मर्ज की दवा है, पापा जी। अगर और कोई नहीं कर सकता तो यह काम मैं करूंगा।"

पापा जी निहाल हो उठे उसपर। बोले—"शाबाश मेरे नौनिहाल, मुझे तुमसे यही आशा थी। पर मुश्किल यह है कि तुम्हारे कामों की इम्पोर्टेन्स बहुत बड़ी है। अगर तुम इस छोटे-से काम में लग जाओगे तो स्टेज को कौन सभालेगा?"

उत्तर में चन्दन ने चट से कह दिया—'इसकी फिक्र न कीजिए पापा जी। दिन में स्टेज पर बोलूंगा और रात में यह काम किया करूंगा। बाकी रही आराम करने की बात, सो वह चुनाव खतम होने के बाद देखा जाएगा।"

पापा जी उसे बांहों में भरकर बोले—"अगर तुम यहां तक कर गुज़रने को तैयार हो, चन्दन, तो समझ लेना कि मेरा बड़ा बेटा ब्रिजेन्द्र है और छोटा चन्दन।" और फिर पापा जी ने अपनी इस उदारता को प्रमाणित करने के लिए जेब से मुट्ठी-भर नोट निकालकर चन्दन की जेब में खोंस दिए।

उसी दिन से चन्दन ने 'डबल शिफ्ट' सभाल ली। दिन-भर वह [illegible] फाड़कर लैक्चर देता, और रात होते ही हाथ में लेई की बाल्टी, [illegible] का पुलिंदा और कन्धे पर बांस की सीढ़ी उठाकर चल देता। [illegible]

कभी रात के एक बजे लौटता तो कभी-कभी दो-तीन बजे। एक मोटी लाठी भी वह अपने साथ ले लेता—क्या जाने कब इसकी ज़रूरत पड़ जाए।

वातावरण में दिनों-दिन कड़ुवाहट बढ़ रही थी। शहर में जलसों, जलूसों और लाउडस्पीकरों का इतना कोलाहल था कि कान पड़ी आवाज़ सुनाई नहीं देती थी। वक्ताओं की बारूदी तकरीरों से कहीं वातावरण भक् से धधक न उठे, इस कारण पुलिस की गिनती और बढ़ा दी गई थी।

सरदार शमशेरसिंह (आज़ाद) और सेठ दीनदयाल (जनसंघ) एक ही हलके के उम्मीदवार थे, इनका मुकाबला दूसरे सब गुटों की अपेक्षा कड़ा था। दोनों में विरोध की आग धधक रही थी। दोनों ओर के इन्फार्मेशन ब्यूरो कुछ इस तरह से बढ़ा-चढ़ाकर इधर की खबरें उधर और उधर की इधर पहुंचाते, जो धधकती हुई आग पर घी का काम करता।

एक दिन शमशेरसिंह के कैम्प में खबर आई कि सेठ दीनदयाल ने अपने मकान में से सिख किरायेदारों को धक्के मारकर बाहर निकाल दिया है। और इस दोष में कि उन किरायेदारों ने उसे वोट देने की हामी न भरी थी। उन्होंने कहा था कि हम लोग सरदार शमशेरसिंह को वोट डालेंगे।

सूचना सच्ची थी या झूठी, यह जानने की माथा-पच्ची कौन करता। फलतः 'नहले पर दहला मारो' का हुक्म मिला, जिसका शिकार उन हिन्दू कारीगरों को होना पड़ा जो शमशेरसिंह की वर्कशाप में काम करते थे। बारूद को एक बार तोड़ा लगाने-भर की ज़रूरत होती है, फिर तो सब कुछ स्वतः ही हो जाता है, न्यूज़ एजेंसियों के इन पलीतों के फलस्वरूप वह क्रम चलने लगा।

चन्दन को आजकल सिर खुजलाने का अवकाश नहीं था। पोस्टर चिपकाने के काम में तो उसने कमाल ही कर दिया। वह रातों-रात जहां-तहां की दीवारों पर उन्हें चिपकाए चला जाता। यहां तक कि उन हिन्दू मुहल्लों को भी नहीं छोड़ता जो दीनदयाल का गढ़ माने जाते थे। इस निरन्तर परिश्रम के फ़लस्वरूप उन दिनों उसकी जेबें नोटों से भरी रहतीं। प्रोपेगेण्डा पार्टी का खर्च अब उसीके हाथों होता था—प्रतिदिन सैकड़ों रुपये का। हिसाब-किताब कोई चन्दन से पूछे? उस चन्दन से जिसे पापा जी ने खुद अपने मुंह से 'मेरा छोटा बेटा' कह दिया था? फिर ऐसे समय पर भी चन्दन धर्म के दुगन न करता तो और फिर कब करेगा! खुला पैसा पाकर किसका मन विशाल नहीं हो जाता। जैसे-जैसे चन्दन की जेबें भारी होती

गई तैसे-तैसे उन जेबों में छेद भी होते गए। काम-काज के अन्तर्गत वह जब भी—जितना भी अवकाश पाता अपने वर्करों सहित किसी रेस्टोरेंट में जा घुसता और वहां जाकर गालिब का यह शेर कृतकार्य करने लगता :

"मैं क्यों न मैकशी में रज़ो-अलम डुबो दूं।
जब वह रहा है साकी पी लो उधार देंगे॥"

और चन्दन का साकी तो उसपर इतना कृपालु था कि उधार नहीं बल्कि मुफ्त पिला रहा था।

२२

इन्द्र देवता को न जाने उम्मीदवारों से कब का वैर लेना था, जो उधर पोलिंग आरम्भ होने में कुल एक सप्ताह बाकी था, और इधर आधी-पानी जो शुरू हुआ तो रुकने का नाम ही नहीं। यही तो कन्वेसिंग और प्रोपेगेंडा के दिन थे।

माघ बीत कर चाहे फागुन चढ़ चुका था, पर अंधड़ और वर्षा ने बसन्त ऋतु को शिशिर में बदल दिया। सर्दी चरमसीमा तक पहुंची हुई थी। हवा खून जमा देने वाली।

उम्मीदवारों को जान के लाले पड़े थे। अगर बारिश नहीं थमी तो कैसे उन लोगों की नाव किनारे लग पावेगी? सर्दी के डर से यदि वोटर लोग घरों में ही दुबके रहेंगे तो बैलेट बक्सों को कौन भरेगा? इसपर हकूमत ने जो नया बखेड़ा कर दिया—पोलिंग शुरू होने से दो दिन पहले सब प्रकार का प्रोपेगेंडा बन्द करने का, इस लेखे तो कुल चार-पांच दिन ही बाक़ी रह गए।

जलसों-जलूसों का क्रम चाहे अब भी चल रहा था—परन्तु बहुत फीका। किसे मुसीबत पड़ी थी जो इस बवंडर में उन्हें देखने को घर से बाहर निकलता! रौनक का यह हाल था कि वक्ता अधिक और श्रोता कम या फिर लाल वर्दी वालों की चहल-पहल देखने में आती।

इन परिस्थितियों में भी चन्दन के उत्साह में कोई अन्तर नहीं पड़ा। वह पूर्ववत् ही अपने काम में तल्लीन था, चाहे उसके दूसरे साथी शिथिल हुए जा रहे थे। उसे इन दिनों जेबें भरने का तो अवसर मिल ही रहा था; कभी-कभार वह कुछ रकम घर वालों को भेज देता था। उधर से बार-बार उसे पत्र आ रहे थे कि

हे एक दिन के लिए ही वह आकर मिल जाए। पर आने की बात तो दूर, इस
ारे को पत्रों का उत्तर तक देने की फुर्सत नहीं थी।

घर भेजने के अतिरिक्त भी उसने अब तक सात-आठ सौ रुपये अपने बटुए में
ा रखे थे। उसकी इच्छा थी कि चुनाव का काम समाप्त होने पर जब वह गांव लौटे-
उसकी यह पूंजी हज़ार से लेकर दो हज़ार तक तो होनी ही चाहिए। ऊपर से
े पापा जी द्वारा जो कुछ प्राप्त होगा सो अलग।

कल सवेरे से लेकर आज दोपहर तक वर्षा एक क्षण के लिए भी नहीं थमी।
र वर्षा भी प्रलयंकारी। गत तीस-पैंतीस घण्टे से प्रोपेगेंडा का काम ठप्प था।
ल मोटरों-तांगों में लगे हुए लाउडस्पीकरों द्वारा ही थोड़ा-घना काम हो रहा
, और वह भी नहीं के बराबर, जबकि बाज़ारों में कोई सुनने वाला ही दिखाई
हीं देता।

दोपहर के बाद कहीं भगवान भास्कर ने उम्मीदवारों पर दया की, और
दल फटकर थोड़ी धूप निकली। फलतः चुनाव पार्टियों का एकदम हो-हल्ला
ारम्भ हो गया।

चन्दन भी इस सुअवसर से लाभ उठाने के लिए अपनी पार्टी सहित काम में
ट गया, और शाम होते न होते वे लोग सब बड़े-बड़े बाज़ारों में घूम निकले।
न्ध्या समय जब वह एक चौक में लैक्चर दे रहा था तो उसे पापा जी का सन्देश
ाला कि काम से फुर्सत पाकर वह कोठी पर पहुंच जाए। अतः अवकाश पाते ही
सने अपना रैनकोट कंधे पर डाला—बादल फिर से मंडलाने लगे थे—
ाठी थामी और कोठी पर जा पहुंचा। वहां उसने देखा, बहुत-से सज्जनों में घिरे
ापा जी एक गोष्ठी का संचालन कर रहे थे।

चन्दन को पापा जी ने अपने घुटनों के पास सादर बिठाया, फिर उपस्थित
ज्जनों को बतलाने लगे—"यों तो आप सभी तन-मन से इस काम में जुटे हैं, पर
स नौजवान ने जिस तरह से जान लड़ाई है, उसकी जितनी भा तारीफ की जाए,
म है···" इस प्रशंसा को सुनकर चन्दन के शरीर में एक गैलन खून बढ़ गया।

फिर दूसरी बातें चलने लगीं—"हमारे दुश्मनों के पांव उखड़ रहे हैं।···वे
ोग बड़ी नाजायज हरकतें कर रहे हैं—हमारे खिलाफ गन्दी से गन्दी बकवास
रते हैं···" इत्यादि।

प्रस्तुत सज्जनों में से एक बोला—"और वह जो नई मुहिम चला रखी है

उन लोगों ने यह तो एकदम बेहूदा है।" और पूछने पर उस सज्जन ने उस बेहूदा मुहिम के बारे में बता दिया—"नये गुंडे मंगाए गये हैं गांवों से—हमारी पार्टी वालों पर हमले कराए जाएंगे···।"

तब एक दूसरे सज्जन उसकी पुष्टि में बोले—"और शायद आप लोगों ने सुनी ही होगी एक सिख बुजुर्ग की घटना, जिसे कल हिन्दुओं ने तांगे से घसीटकर इतना पीटा-इतना पीटा कि कहा नहीं जा सकता जो अब तक जिन्दा भी है या नहीं।"

आवेश में आकर चन्दन बोल उठा—"माफ करना सज्जनो, यह आप जैसे शहरी लोग ही हैं जो इस तरह के जुल्म बर्दाश्त कर लेते हैं। हम पेंडू (ग्रामीण) लोगों की ऐसी आदत नहीं है। हम तो गिरधर की बातों पर अमल करना जानते हैं कि 'जो कोई मारे ईंट ढेम, तो पत्थर मारो।' और यह जो बताया गया है कि उन्होंने गुण्डे मगवाए हैं, तो मैं अर्ज करता हूं, कि एक बार पापा जी के हुकम की देर है, अगर रातों-रात इस कोठी को बाउंडरी लट्ठबाजों से न भर दूं, तो मुझे औरत ने नहीं कुतिया ने जना है।"

"शाबास-शाबास!" उसका कन्धा थपथपाते हुए पापा जी बोल उठे—"बेटे, तेरे होते हुए हमें किस बात की फिक्र है! पर मुश्किल तो यही है कि हमारे पास वक्त इतना कम है कि अब बाहर से आदमी मगवाने का कुछ फायदा नहीं होगा।" और उन्होंने सबको सम्बोधित करते हुए कहा—"हमें फिलहाल असल काम को ही हाथ में लेना है। आप सब जानते हैं कि पोलिंग सिर पर आ पहुंचा है, और ऊपर से बारिशों ने कयामत ढा रखी है। 'हिम्मते मर्दा, बरकते खुदा।' मेरा मतलब है कि आप सब लोगों को अब कन्वेंसिंग के काम में जुट जाना चाहिए और इसी वक्त से।"

"यह सब तो होगा ही पापा जी," ब्रिजेन्द्र बोल उठा—"पर चन्दनसिंह की बात भी तो बे-मतलब नहीं है, जबकि उधर उन लोगों ने सिखों का जीना दूभर कर रखा है—हमारी कौमियत पर हमले पर हमला कर रहे हैं तब अगर हम ईंट के जवाब में पत्थर नहीं उठाएंगे तो वे लोग समझेंगे कि हम दम हार बैठे हैं। आपने वह परसों वाली बात भी तो सुनी होगी, पापा जी!" पापा जी के पूछने पर वह बताने लगा—"उस उस्तानी की बात कह रहा हूं, वही जो हमारी हरजीत को म्यूजिक सिखलाने आया करती है। वह भी तो हिन्दू है, मुझे अब पता चला कि

वह यहां पर मुखबरी करने आती है तो मैंने उसे आने से रोक दिया।"

जैसे ही ब्रिजेन्द्र के मुंह से यह बात निकली कि चन्दन के शरीर में झुन झुनी-सी पैदा हुई। उसे समझने में देर नहीं लगी कि ब्रिजेन्द्र किसकी बात कह रहा है। पर यह समय उसके लिए ऐसी भावुक बातें सोचने का नहीं था। फिर भी थोड़ी देर के लिए उसका ध्यान उचट गया, जिससे वह जान नहीं पाया कि ब्रिजेन्द्र द्वारा दी हुई सूचना का क्या प्रतिकर्म हुआ—किसने क्या कुछ कहा उसके बारे में। तभी उसने सुना, पापा जी कह रहे थे :

"···तो हमारी कामयाबी के लिए सबसे ज़रूरी बात यही है कि आप सब वोटरों के घरों में पहुंचकर, और उनसे वोट देने का वायदा लेकर लौटें। सब वोटरों को यकीन दिलवाओ कि अगर उनका उम्मीदवार कामयाब हो गया तो सदा-सदा के लिए वह उन लोगों का शुक्रगुजार भी रहेगा और मददगार भी।"

सुनकर उपस्थित लोगों ने एक स्वर से उन्हें विश्वास दिलाया कि बारिश छोड़ चाहे उन्हें नदियां ही क्यों न पार करनी पड़ें—पानी की चाहे खून की—वे प्राणपण से अपनी ज़िम्मेदारी को निबाहेंगे।

इसके बाद गली-मुहल्लों के क्रम से वोटरों की सूचियां वर्करों और प्रतिष्ठित व्यक्तियों को बांट दी गईं, जिनकी सहायता से वे उन इलाकों के वोटरों के पास जाकर उन्हें कन्विन्स कर सकें।

अंत में शमशेरसिंह ने इन शब्दों द्वारा आज की गोष्ठी समाप्त की, "मुझे आप सबकी जवांमर्दी पर नाज़ है। आपको यकीन दिलाता हूं कि इसका मैं भरपूर बदला चुकाऊंगा। मेरी कामयाबी असल में आप सबकी कामयाबी होगी।"

२३

गोष्ठी की समाप्ति पर जब चन्दन लौटा तो खासी रात हो चुकी थी। ब्रिजेन्द्र, उसके पापा जी और साथ में भाबो जी ने भी उसे यहीं रुक जाने को कहा, पर वह नहीं रुका। उसे तो अभी पोस्टरों का काम करना था, रुकता तो कैसे। फिर भी आज ब्रिजेन्द्र ने उसे बिना खाना खाए नहीं जाने दिया, और खाना भी सामिष, और सुरा-सहित, जिसके साथ-साथ दोनों में मीठी-मीठी बातें भी हुईं। नशे की

मात्रा बढ़ जाने पर चन्दन को फिर से वही घटना याद हो आई—उसी उस्तानी की, जिसके बारे में उसने गोष्ठी के अन्तर्गत ब्रिजेन्द्र द्वारा सुना था। पर पूछ-ताछ करने का साहस जाने क्यों नहीं हो पाया उसे।

जब वह चलने लगा तो ब्रिजेन्द्र ने चाहा कि उसे कार में बिठाकर पहुंचा दे, पर रोज से कुछ अधिक पी जाने पर उसे भय था कि कहीं एक्सीडेंट न हो जाए। शोफर भी तो आज मौजूद नहीं था—उसे किसी विशेष काम से भेजा गया था। अतः चन्दन ने यह कहकर विदा ली कि वह तांगा या रिक्शा कर लेगा।

बूंदा-बांदी शुरू हो गई। हवा भी तेज चल रही थी। पर चन्दन को इसकी चिन्ता नहीं थी। वर्षा के बचाव के लिए उसने रेन-कोट पहन ही रखा था, और ठण्ड का मुकाबिला करने के लिए व्हिस्की के उत्तरोत्तर पिए हुए आध दर्जन पैग थे। यदि किसी शत्रु से मुठभेड़ हो जाए तो लोहे के सुम वाली वह लाठी किस वक्त के लिए थी।

उसे पैदल चलने में मजा-सा आ रहा था। एक तो सुरादेवी की कृपा से, दूसरे, पापा जी द्वारा मिली हुई प्रशंसा से, और तीसरे, उन नोटों की गर्मी से जो मीटिंग के बाद पापा जी ने अकेले में ले जाकर उसे थमा दिए थे। रास्ते में चलते हुए कई खाली तांगे और रिक्शा उसके सामने से गुजरे, पर सवारी करने की उसे इच्छा नहीं हुई। मस्ती में झूमते हुए—किसी न किसी गीत को गुनगुनाते हुए वह चला जा रहा था। मस्ती में उसे अपने करने वाले काम—पोस्टर लगाने की भी याद नहीं रह गई।

उसके रेस कोर्स रोड से चलकर शहर में प्रविष्ट होते न होते बूंदा-बांदी खासी वर्षा में बदल गई। पर चन्दन की बला से। उसे नाम को भी ठण्ड नहीं लग रही थी।

आंधी-पानी के कारण या और किसी वजह से बिजली बंद हो गई, जिससे जगमगाता हुआ शहर एकबारगी अंधकारमग्न हो उठा। अब चन्दन सभला। एक तो अंधेरा और दूसरा नशे की हालत। पर वह नया पियक्कड़ नहीं था, जो इतने से नशे के कारण पथभ्रष्ट हो जाता, फिर भी वह संभलकर चलने लगा।

बाजार तंग था, और सड़क पर फिसलन थी, वह लाठी की सहायता से संभल संभल चल रहा था। वर्षा जोर से होने लगी, जिससे वह एक बन्द दुकान के छज्जे के नीचे थोड़ी देर के लिए रुक गया।

बाजार प्रायः बन्द था। सामने दायीं लाइन में मात्र एक छोटी

खुली थी। चन्दन का ध्यान इस समय उसीपर केन्द्रित था। गद्दी पर आंखें मूंदे बैठे दुकानदार को देखते हुए वह सोच रहा था—कितना लोलुप है यह, जिसे अभी तक भी ग्राहक आने की आशा बनी हुई है! भला इतनी रात में कौन आएगा इसका सौदा खरीदने!

उसका अनुमान गलत निकला, जब उसने एक ग्राहक को दुकान के सामने खड़े पाया। कोई लड़का था वह—शायद किसी घर का मुंडू।

थोड़ी ही देर गुजरी थी कि चन्दन ने दुकानदार और ग्राहक में नोंक-झोंक होते सुनी। दुकानदार कह रहा था, "अबे जानता नहीं, यह पीली[1] दुअन्नियां चलना बन्द होने का हुक्म हो चुका है।" जिसके उत्तर में लड़का कड़ाके की आवाज में कह रहा था—"कौन कहता है कि बन्द होने का हुक्म हो गया है। अखबारों में क्या लिखा नहीं है कि जो कोई इसे लेने से इनकार करेगा उसे सरकार जेल में डाल देगी।"

जेल की बात सुनकर दुकानदार खिसिया उठा और उसने लड़के को एक-आध खरी-खोटी सुना दी।

ग्राहक सिख था और दुकानदार था हिन्दू। फलतः देखते ही देखते 'पीली-दुअन्नी' हिन्दू-सिख फसाद का रूप धारण करने लगी। उधर से दो-तीन हिन्दू युवक आ निकले—जो सम्भवतः चन्दन ही की तरह अपने किसी उम्मीदवार आका की सेवा करके लौट रहे थे, और ऐसा भी हो सकता है कि वे भी सुरादेवी की आराधना कर चुके हों। उनमें से एक ने लड़के को दुतकारा—"भज जा ओए सिखड़या। की खप्प पा रखी ऊ!"

जैसे ही चन्दन के कान में यह 'सिखड़या' शब्द पड़ा कि सहसा उसकी वीरता जाग उठी। वह तेजी से आगे बढ़ा, और उसने 'सिखड़या' कहने वाले युवक को ललकारा—"होश नाल गलकर ओए लाला।" फिर उधर से उत्तर मिला—"चज्ज नाल गल कर ओए वडया पहलवाना। नहीं ते पहलवानी नूं मरोड़ के रख दऊंगाई।"

फिर क्या था। जवानों का द्वन्द्व जो एक बार आरम्भ हुआ तो प्रलय के जल के तरह बढ़ता ही चला गया। हो-हल्ला सुनकर कुछ और लोग भी दुकान के

१. उन दिनों पीली दुअन्नियों का सिक्का लेने से दुकानदार नाही कर देते थे, चाहे कानूनी तौर से इनके चलने पर अभी रोक नहीं लगी थी।

सामने था डटे। पहले गाली-गलौच, फिर धींगामुश्ती, और अन्त में मामला मार-पिटाई तक था पहुंचा। दुकान में जल रही लालटेन का क्षीण प्रकाश केवल इतना ही था, जिसकी सहायता से हिन्दू और सिख की पहचान हो सके—इससे अधिक नहीं। बिजली बन्द थी। इसी समय बाजार का मोड़ मुड़ते हुए एक वृद्ध इधर को था निकला, जो अपनी लाठी के सहारे संभल-संभलकर चल रहा था। लम्बी दाढ़ी से वह सिख दिखाई देता था, पर सिर के बालों से—जो गर्दन की ओर नीचे से कटे हुए थे—हिन्दू जान पड़ता था। भीड़ के पास पहुंचकर उसने पुकारा—"अरे रे जवानो! यह क्या पागलपन है? किस बात पर हगामा खड़ा कर रखा है तुम लोगों ने?"

कुछ युवकों ने तो वृद्ध की ओर ताका, और दूसरे बिना ध्यान दिए अपनी क्रिया में संलग्न रहे—जबानों और हाथों को चलाने में। तब तक वृद्ध भीड़ में घुस आया यह चिल्लाते हुए—"जरा ठहरो बरखुरदारो, मेरी बात तो सुन लो। तुम सब मेरे पुत्रों जैसे हो। मैं पूछता हूं यह सब किसलिए? कौन-सी जायदाद बांटने को यह पागलपन कर रहे हो? क्या यही है तुम्हारे पंजाब की तहजीब?"

भीड़ में से किसीकी कड़कती हुई आवाज सुनाई दी—"अरे तुझे नहीं मालूम बुड्ढे···तू क्या जाने इन बातों को! जा अपना रास्ता नाप! हमें निपट लेने दे इन गुंडों से।"

एक के बाद दूसरी ललकार उठी—"गुंडे हम हैं या तुम, जो राह चलतों के गले पड़ते हो? याद रखो बच्चू. अब नहीं हम चलने देंगे तुम्हारी यह गुंडागिरी।"

फिर किसीने जबान चलाई—"गुंडा तेरा बाप।" जवाब मिला—"तेरा दादा···" कोई और बोला—"चुप, हरामजादे।" उत्तर आया—"बकवास बन्द कर कुत्ते।" तब नहले पर दहला पड़ा—"जबान खींच लूंगा जो अब इसे खोला।"

फिर धमकी मिली—"आ तो बेटा, जो तेरे बाप-दादा की जबान न खींच दूं।"

"तेरी···।"

"तेरे···।"

"तेरी···।"

"तेरे···।"

और फिर इस 'तेरी-तेरे' के साथ-साथ पंजाबी वीरों की पंजाबियत एकद-

ा उठी। वृद्ध बराबर गला फाड़-फाड़कर चिल्लाए जा रहा था, पर उसकी
र ध्यान देने की फुर्सत किसे थी—बरसाती नदी के सामने तिनके की क्या
सात !

चन्दन एड़ी से लेकर चोटी तक हिंसा की मूर्ति बन चुका था। कुछ तो पेट में
रे हुए उस तरल पदार्थ के कारण और कुछ मीटिंग में सुनी हुई उस दुर्घटना के
भाव से 'एक सिख बुजुर्ग को हिन्दुओं ने टांगे से घसीटकर...।' परिणामस्वरूप
सने अपनी वह लोहे के सुम वाली लाठी ऊपर उठाकर एक बार हवा में घुमाई,
ौर फिर उत्तरोत्तर एक, दो, तीन—भरपूर वार उस वृद्ध के शरीर पर आ पड़े
जिसके फलस्वरूप देखते ही देखते उसका शरीर सड़क पर फैल गया।

तभी किसीको आवाज़ सुनाई दी—"पुलिस आ गई—पुलिस आ गई—
भागो-भागो।"

पुलिस आई या नहीं आई—कहां तक इसमें सच और कहां तक झूठ था,
कोई कुछ नहीं जान पाया। पर इसका इतना फल तो हुआ ही कि क्षण-भर में 'वंसी
वाले' और 'कलगी वाले' के वे शूर-वीर न जाने कहां विलुप्त हो गए। अब वहां
केवल दो ही व्यक्ति बाकी थे। एक वही दुकानदार, जो भयभीत होकर दुकान के
कोने में दुबका हुआ था, और दूसरा था उस वृद्ध का अचेत शरीर, जो सड़क पर
फैला हुआ था—जिसके अंगों में से बह रही खून की ततीरियों को वर्षा का पानी धो
रहा था। जीता है या मर चुका, इसे कौन देखता, जबकि हल्ले-गुल्ले के कारण
दुकान में की लालटेन बुझ चुकी थी। बिजली अभी तक बन्द थी।

२४

डरबा खुलने पर जैसे उसमें से 'भर्र' करके मुर्गियां निकल भागती हैं वही हाल
चुनाव-खिलाड़ियों की हुई जब कई दिनों के बाद आकाश साफ हुआ। देखते ही
देखते बाज़ारों का सन्नाटा गहमा-गहमी में बदल गया। चुनाव पार्टियों ने जो
शोर से अपने संग्राम में फिर से जूझना आरम्भ कर दिया। पर भगवान भास्क
बड़ा कंजूस निकला, जिसने कुछ ही घण्टे दर्शन देने के बाद फिर से बादलों
लबादा ओढ़ लिया। बेचारे उम्मीदवारों की वही हालत थी जैसे किसी कवि
कहा है:

"किस्मत की खूबी देखिए टूटी कहाँ कमंद।
दो-चार हाथ जब कि लबे बाम रह गया॥"

दिन केवल दो ही बाकी थे—कल और परसों के। उससे अगले दिन तो प्रोपेगेंडा की सब प्रकार की सरगर्मी पर प्रतिबंध लग जाना था, जिससे आंधी-पानी की परवाह न करते हुए सब कोई अपने-अपने काम में जुटे थे। जलसों-जलूसों पर अब जोर नहीं दिया जा रहा था, उन्हें सुनने-देखनेवालों का अभाव था। अतः कन्वेंसिंग के काम पर जोर आजमाई होने लगी—वोटरों के घरों पर धावा बोला जाने लगा।

चन्दन आज प्रभात से ही कन्वेंसिंग में जुटा हुआ था। उसके साहस में बिजली की तेज़ी थी। विशेषतया रात वाली 'वीरता' ने तो उसकी नाड़ियों में भीम-अर्जुन की सी शक्ति भर दी थी, जबकि एक 'दुश्मन' को घायल करके अथवा जहन्नुम रसीद करके वह बच निकला था, उसका बाल भी बांका नहीं हुआ। पार्टी वालों ने जब उसका कारनामा सुना तो तारीफों के पुल बांधने लगे। पापा जी और त्रिजेन्द्र तो यहां तक प्रभावित हुए कि दोनों ने अलग-अलग उसकी मुट्ठी गर्म की। चन्दन ने एक सिख बुज़ुर्ग का—जिसके बारे में अफवाह थी कि हिन्दुओं ने उसे टांगे में घसीट कर पीटा है, एक हिन्दू बुज़ुर्ग से बदला चुका कर समूची सिख कौम की शान को चार चांद लगा दिए थे।

लोगों ने दीवारों पर एक सरकारी एलान का पोस्टर लगा देखा, जिसमें लिखा था :

"चौक फव्वारा की घटना के बारे में बिल्कुल गलत अफ़वाहें उड़ाई गई हैं कि किसी सिख को टांगे में से घसीटकर पीटा गया है। असल में यह एक साधारण-सा एक्सीडेंट था, अर्थात् एक टांगे की कूड़ा गाड़ी से टक्कर हो गई, जिससे एक वृद्ध सवारी को कुछ चोटें आईं, साथ में टांगे वाले को भी। दोनों को अस्पताल पहुंचाया गया, और कूड़ागाड़ी वाले का चालान कर दिया गया। घायलों की हालत हर प्रकार से सतोषजनक है। जो लोग इस घटना को साम्प्रदायिक रंग देकर उछाल रहे हैं, वे देश के सबसे बड़े दुश्मन हैं। इस प्रकार के लोगों की बातों में न आकर जनता को अपने मस्तिष्क का सन्तुलन नहीं खोना चाहिए। ऐसे फसादी लोगों को भी वार्निंग दी जाती है कि उनकी इस प्रकार की क्रियाओं को हकूमत हर्गिज बर्दाश्त नहीं करेगी···।"

इस एलान को पढ़कर चन्दन के दिल को हलका-सा झटका लगा, पर उसने यही सोचकर सन्तोष किया कि चाहे कुछ भी हो, था तो हिन्दू ही अर्थात् दुश्मन। और दुश्मन चाहे दोषी हो चाहे निर्दोष, उसे मारना मेरा धर्म था।

उम्मीदवार और वोटर का रिश्ता शिकारी और चिड़ियों जैसा रहता है—शिकारी, जिसके एक हाथ में जाल और दूसरे में दाना हो। फलतः पंछी दाने के लोभ में जाल में फंस जाते हैं। पर कई चालाक पंछी ऐसे भी होते हैं जो दाना भी खा जाते हैं और जाल में फंसने से भी बच जाते हैं। उन्हें वातावरण में से ही शिकार की बू आ जाया करती है।

उम्मीदवार चाहे हजार चालाकी से काम ले, पर वोटर अब इतने भोले नहीं रहे हैं। वे खूब जानते हैं कि जो लोग आज वोटों की खातिर उन्हें 'चाचा जी, बापू जी' कहकर पुकारते हैं या फुसला रहे हैं—मतलब निकल जाने पर वे उन्हें 'बेटा' कहकर बुलाने के भी रवादार नहीं होंगे। यही सोचकर अधिक वोटर अपने वोटों का पूरा-पूरा दाम वसूल किए बिना नहीं मानते। कुछएक गुरु घंटाल तो दुगुनी चौगुनी तक कीमत पा लेते हैं। उनके पास जिस भी उम्मीदवार की पार्टी कन्वेंसिंग के लिए आती है उसीसे वोट देने का वादा करके अपना पारिश्रमिक वसूल किए चले जाते हैं। पर वोट डालेंगे तो उसीको जिसने सबसे अधिक दाम दिया हो अथवा जिससे उन्हें भविष्य में अधिक लाभ की आशा हो। वे लोग जानते हैं कि बैलेट बाक्स में पर्चा डालते समय उन्हें किसीने देखना नहीं है, चाहे जिसमें भी डाल देंगे।

चन्दन आज दिन-भर इसी भाग-दौड़ में लगा रहा। वह प्रसन्न था कि जिस भी वोटर के पास वह अपनी पार्टी को लेकर गया उसके मुंह से 'हां' कहलाए बिना नहीं लौटा। आज उसे खाने-पीने तक की सुध नहीं थी—न भीगने-ठिठुरने की परवाह।

शाम को जब वह लौटा तो थकावट के मारे उसका शरीर चूर-चूर था, भूख भी खूब लग आई थी। पर आज और कल ही का तो दिन बाकी था, आराम करने का प्रश्न ही कैसे पैदा हो सकता था। उसे तो अभी पोस्टरों का एक बड़ा बंडल रातों-रात समाप्त करना था—एक भी बचने न पाए, ऐसा ही उसने सोच रखा था।

मकान पर पहुंचने से पहले वह होटल में जा घुसा, और जाते ही उसने व्हिस्की

ग्रौर मांस-मछली द्वारा अपने शरीर को डबल शिफ्ट के लिए तैयार किया।

मकान पर पहुंचकर उसने देखा, महंगासिंह ने रोज़ की तरह लेई बनाकर बाल्टी में भर रखी थी। थोड़ी देर—एक-डेढ़ घण्टे—के लिए उसने बिस्तर में लेटकर कमर सीधी की, ग्रौर फिर उठकर खड़ा हुग्रा। वर्षा ज़ोर से हो रही थी, जो उसके लिए नई बात नहीं थी; गत कई दिनों से यही चल रहा था, ग्रौर वह इसका ग्रभ्यस्त हो चुका था। अतः उसने रेन-कोट फिर से पहन लिया, टार्च जेब में रखी, बंडल संभाला, बाल्टी ग्रौर सीढ़ी ली, साथ में लाठी भी, ग्रौर दगड़-दगड़ सीढ़ियों पर से उतर गया।

पोस्टर लगाने का काम वह विधिपूर्वक किया करता था। सबसे पहले बाज़ारों में, फिर सिख मुहल्लों में, ग्रौर सबसे बाद—प्रायः ग्राधी रात को हिन्दू ग्राबादी में। क्योंकि तब तक सब कोई सो चुके होते, ग्रौर उसे रोक-टोक का भय नहीं रहता। ग्राज भी उसी क्रमानुसार उसने काम शुरू किया।

उसके काम में बाधा पड़ रही थी। वर्षा में पोस्टर चिपकाना कठिन हो जाता है। जैसे ही वह बंडल में से २० × ३० फुल साइज़ का शीट निकालकर उसपर लेई थोपना शुरू करता कि कागज़ पानी में भीगकर गुच्छा-मुच्छा होने लग जाता। दूसरी कठिनाई उसे तेज़ हवा चलने से हो रही थी।

एक बजने को था, जब वह एक हिन्दू ग्राबादी की ग्रोर ग्रग्रसर हुग्रा। कुल एक या ग्रधिक से ग्रधिक डेढ़ घण्टे का काम उसके लिए बाकी था। पर ठंड के मारे उसका शरीर सुन्न हुग्रा जा रहा था—वर्षा में कुछ भी कमी नहीं हुई; हवा पहले से भी तेज़ चलने लगी थी। होटल में पी हुई व्हिस्की का ग्रसर प्रायः समाप्त हो चुका था। उसे पश्चात्ताप होने लगा कि ग्रगर जानता कि ग्राज इस ग़ज़ब की सर्दी पड़ेगी तो एक या ग्राधी बोतल जेब में ही रखकर लिए ग्राता।

ग्रब वह मुहल्ले में के एक बड़े-से मकान के सामने था, जिसकी दीवार पर पहले से ही दो-तीन बड़े पोस्टर लगे हुए थे। टार्च की सहायता से देखने पर जब उसे पता चला कि ये उसके पापा जी के विरोधियों ने लगाए हैं तो क्रोध के मारे वह तिलमिला उठा। उन्हींके ऊपर वह ग्रपने पोस्टर लगाने लगा।

पहला लगाया, फिर दूसरा। ग्रौर जब तीसरे पर लेई थोप रहा था तो पीछे से उसे कीचड़ में चलते हुए भारी-भारी बूटों की 'थप-थप' ग्राहट सुनाई दी। उसके हाथ लेई से सने हुए थे। उन्हीं सने हाथों से उसने जेब से टार्च नि[illegible] पीछे

की ओर उसका प्रकाश डालकर ताका। उसने देखा, एक नहीं बल्कि चार-पांच व्यक्ति उसकी ओर बढ़े चले आ रहे हैं—सभी हिन्दू, सबके हाथों में लाठियां अथवा हॉकी-स्टिकें। देखकर वह डरा भी और संभला भी।

तभी उधर से टार्च की रोशनी आकर उसके मुंह पर पड़ी, साथ में एक कर्कश आवाज़ भी—"कौण एं ओए तूं—किस दी इजाज़त नाल इश्तहार ला रिया एं?"

खतरा सिर पर मंडराता देखकर चन्दन ने बचे हुए पोस्टर वहीं फेंक दिए, और अपनी लाठी को—जो दीवार के साथ उसने खड़ी कर रखी थी—संभालते हुए पुकारा—"तुसीं कौण हो पुछण वाले ?"

उधर से प्रत्युत्तर आया—"दसीए तैनूं कि असी कौण हां ?"

चन्दन उससे भी बढ़कर दहाड़ा—"कौण जम्मया ए मेरे नेड़े आऊण वाला?" और कहते-कहते उसने अपनी लाठी ऊपर उठाकर हवा में घुमाई। पर इससे पहले कि वह प्रहार करता, क्षण-भर में वे चारों-पांचों युवक उसपर टूट पड़े, और दनादन लाठियों, हाकी-स्टिकों की वर्षा उसके शरीर पर होने लगी। फलतः चन्दन का शरीर लड़खड़ा कर 'धम्' से वहीं कीचड़ पर गिर पड़ा।

गिरने के बाद उसने उठने के लिए बहुत यत्न किया, पर तब तक उधर से उत्तरोत्तर पांच-सात और चोटें उसके शरीर पर आ पड़ीं, अर्धचेतनावस्था में उसे सुनाई दिया—"हिन्दू बुजुर्ग दा बदला चुका लिया—चलो भज चलो—मते पुलस…।"

२५

मूर्छित अवस्था में वह कितनी देर तक वहीं कीचड़ में पड़ा रहा, कितना खून उसके शरीर से निकला, जिसका कितना भाग वर्षा के पानी ने धोया, इसे न तो चन्दन जान पाया न ही कोई और। पोस्टरों का वह बचा-खुचा बण्डल अलग-अलग कागजों के रूप में उसके आस-पास कीचड़ में सना पड़ा था। लेई की बाल्टी में पानी भर गया था। लाठी उसके वक्ष के पास लेटी हुई थी और टार्च उसके पांवों के पास पड़ी थी—आधी कीचड़ में, आधी बाहर।

सहसा उसके शरीर में गति पैदा हुई। माथे पर का खून आंखों में भर जाने से वह कुछ देख नहीं पा रहा था। उसका दायां हाथ—जिसपर अभी तक लेई का

कुछ अंश बाकी था—थोड़ा हिला, जिसकी सहायता से उसने आंखों को पोंछा, जिससे उसे कुछ-कुछ दिखाई देने लगा, पर अंधेरे के सिवा कुछ नहीं।

पानी पूर्ववत् ही बरस रहा था, पर हवा का ज़ोर अब पहले जैसा नहीं था। चन्दन ने दोनों हाथ कीचड़ में धंसाकर एक-दो बार उठने का प्रयास किया, पर व्यर्थ।

एक-आध घण्टा और गुज़र गया। अब तक उसकी चेतना खासी लौट आई थी; चाहे ठण्ड और दर्द के मारे वह निढाल हो चुका था। उसके अंग-अंग में टीसें उठ रही थीं। उसके सिर में ज़ोर-ज़ोर से चक्कर आ रहे थे, जो इस बात की सूचना थी कि उसे फिर से बेहोशी आ रही है। जैसे किसीने उसके समूचे शरीर को बेलने में डालकर पेल डाला हो। घाव ठंडे हो जाने से दर्द उत्तरोत्तर बढ़ रहा था। उसे विश्वास-सा होने लगा कि यदि अब के उसे बेहोशी आ गई तो उसके प्राणों का अन्त ही कर देगी। अब न तो उसे अपने काम के बारे में कुछ बोध था न ही मारने वालों के बारे में। जब हमारे प्राणों पर बन आती है तो प्राण बचाने के अतिरिक्त हमें दूसरी कोई बात नहीं सूझती है।

उसने समस्त शरीर का ज़ोर लगाकर एक बार फिर उठने का यत्न किया, और इसमें उसे कुछ सफलता मिली। पर इसका कुछ लाभ नहीं हुआ। घने अंधेरे के कारण उसे कोई भी ऐसी ठाहर दिखाई नहीं दे रही थी जहां पहुंचकर वह अपने को सुरक्षित कर पाए।

सहसा बिजली चमकी, जिसके प्रकाश में कुछ ही क़दमों पर उसे एक बराण्डा दिखाई दिया। इसी प्रकाश की सहायता में उसे लाठी भी मिल गई, जिसका उसे इतना लाभ तो हुआ ही कि वह किसी प्रकार अपने को ठेलते-घसीटते बराण्डे तक जा पहुंचा। पर वहां पहुंचते ही उसे फिर बेहोशी ने दबोच लिया।

आध-पौन घण्टे बाद फिर उसे होश हुआ। वह मुंह के बल लेटा हुआ था और बाहर से आ रही बौछार उसे भिगो रही थी। उसने एक बार फिर शरीर को हिलाया-डुलाया, और सांप की तरह रेंगते हुए वह भीतर की ओर—दरवाज़े के निकट तक जा पहुंचा, जहां बौछार आने की सम्भावना नहीं थी। उसने उसी अर्धचेतना में देखा, दरवाज़ा बन्द था और उसकी दरार में से प्रकाश की पतली-सी रेखा आकर बराण्डे में फैल रही थी। उसने थोड़ा और सरककर देहली पर अपना सिर टिका दिया। पगड़ी नहीं थी, और कीचड़ में [illegible] हुए उसके

चेहरे, कन्धों और वक्ष पर चिपके हुए थे।

होश क्या फिरा, उसके लिए प्रलय ही आ गया। ठण्ड से अकड़ा हुआ शरीर और शरीर पर न जाने कितने ही घावों की पीड़ा उसे मारे डाल रही थी—ठण्ड और कीचड़ में भरे हुए घाव।

होश फिरने के साथ-साथ उसका भय भी बढ़ने लगा—हिन्दुओं का मुहल्ला, किसी हिन्दू का ही घर। क्या जाने कब कोई आकर उसकी जीवन-लीला समाप्त कर दे। और यदि ऐसा नहीं भी हुआ तो इतने घावों के साथ इस ठंड में पड़े-पड़े क्या वह सवेरे तक जीवित रह जाएगा? इधर भी मौत, उधर भी मौत।

वहीं पड़े-पड़े वह दर्द के मारे कराहने लगा, बिना इस बात को सोचे कि उसकी आवाज़ कहां तक जा रही है। मृत्यु जब हमारे निकट आ पहुंचती है तो सिवा मृत्यु शीर्षक के, हमें और सब कुछ भूल जाता है। और जब वह थोड़ा और निकट आ जाती है तो हम उसके बारे में सोचने में भी असमर्थ हो जाते हैं। पर ऐसे समय भी अतीत की यादें क्या हमारा पीछा छोड़ती हैं? मृत्यु का आगमन भी उन्हें रोक नहीं सकता।

उसी स्थिति में लेटे-लेटे चन्दन महसूस कर रहा था जैसे अतीत की दीवारों को फांदकर कुछ आकृतियां-कुछ यादें उसकी ओर बढ़ी आ रही हैं—बाल्यावस्था की, स्कूल की, गांव की और न जाने किस-किसकी। विशेषतया गुरो की भीगी-भीगी आंखें, गुरो के वे अन्तिम वाक्य, जो उसने चन्दन को चलते समय कहे थे—"वे[1] चनणां, देखीं, मतां अमृतसर दे बहाने किते परदेस निकल जाएं। वे मेरा कोई नहीं ओ तेरे बाझों।"

चन्दन को इस समय लग रहा था, जैसे आज वह अपनी धर्म-माता से विश्वास-घात करके दूर बहुत दूर जा रहा है—आज वह अपनी मां और अपने बापू को मौत के घाट उतारने लगा है।

फिर उसे अपने बटुए का खयाल हो आया जिसमें हज़ार रुपये के लगभग पूंजी पड़ी थी। क्या बटुआ वहीं पड़ा रह जाएगा? महंगासिंह अथवा कोई दूसरा ही उसे हथिया लेगा।

फिर उसकी आंखें वही पांच आकृतियां देखने लगीं—हाकी-स्टिकों और

---

१. चन्दन, देखना कहीं अमृतसर के बहाने से परदेस न चला जाना। अरे तेरे बिना मेरा कोई नहीं है।

लाठियों से लैस। वह सोच रहा था—'काश, एक बार मुझे मौका मिल पाता उनसे बदला लेने का, फिर चाहे मर ही जाता!'

इसी प्रकार की भांति-भांति की आकृतियां देखने के अन्तर्गत उनके कानों में कुछ सुनाई दिया—किसीके कराहने जैसी आवाज 'हे भगवान—हे अन्तर्यामी' इत्यादि शब्दों में। वह सोचने लगा—'तो क्या इस घर में भी कोई मेरे जैसा अभागा मौत की प्रतीक्षा कर रहा है?' जैसे-जैसे भीतर से आ रही पीड़ित आवाजें उसे सुनाई देने लगीं, उसका ध्यान उसी ओर खिंचता चला गया।

थोड़ी देर में जब आवाजें आनी बन्द हो गईं तो [illegible] को अनुमान हुआ शायद अन्दर वाला वह रोगी चल बसा हो, या किसीने उसे नींद लाने वाली [illegible] दे दी हो। वह सोचने लगा—'काश, मुझे भी मौत आ जाए—मुझे भी नींद लाने वाली एक डोज कहीं से मिल जाए!'

को चूसना आरम्भ कर दिया। साथ-साथ गानेवाली की मूर्खता पर उसे आश्चर्य भी हो रहा था—कितनी बे-समझ है, जो इस भयानक बारिश के होने पर भी अभी इसकी ओर याचना कर रही है, क्या इतनी प्रलयंकारी बारिश होने पर भी इसके ख्याल में अभी तक धरती की प्यास नहीं मिट पाई है?

ज़ोर से बिजली की कड़कड़ाहट हुई, जैसे कहीं निकट ही गिरी हो। उसे डर होने लगा। पर डर अधिक देर तक नहीं टिक पाया जब उसे कुछ और पंक्तियां सुनाई देने लगीं:

"आज धरा के पुत्र सभी
बन बैठे सत्यानाशी
भाई का पी रक्त, प्यास
बुझ सकी नहीं भाई की।
बरसो-बरसो मेघ! अभी यह
धरा बहुत है प्यासी।...

व्यंग्यात्मक प्रकार की हैरानी के स्थान पर अब चन्दन के मानस को करुणा स्पर्श करने लगी। उसे यह गीत किसी मानव-हितैषी हृदय का आर्तनाद-सा जान पड़ने लगा। उसके हृदय में कोई स्पंदन-सा हो रहा था, और उस स्पंदन में गीत के ये शब्द भरते चले जा रहे थे:

"हाय दयामय! इन पुत्रों ने
मां को बहुत सताया।
आपस में लड़-लड़ इन्होंने
मां का दूध लजाया।
खण्ड-खण्ड कर बांट लिया
इसको कर अपनी दासी।
बरसो-बरसो मेघ! अभी यह
धरा बहुत है प्यासी।...

बहुत गहरी—बहुत ही लम्बी सांस ली चन्दन ने—'मां का दूध लजाया? सच ही तो है!'

'खट' से चन्दन को जैसे अपने अन्तर में कुछ टूटता-सा लगा जब उसने और सुना:

"आज बना पंजाब है प्रभु जी !
इक भूतों का मेला।
भूल गया, पथ जिसमें आकर,
हाय ! विवेक अकेला।
मुरदों को भी खोज-खोज
लटकाना चाहे फांसी !
बरसो-बरसो मेघ ! अभी यह
धरा बहुत है प्यासी।..."

चन्दन सुने जा रहा था, और सुनने के साथ-साथ कल्पित आंखों द्वारा 'मेला' देखे जा रहा था। मेला, जिसका चन्दन अपने को नायक पा रहा था। वह भाइयों का रक्त पी रहा था—वह मां का दूध लजा रहा था—वह मुर्दों जैसे निर्बलों को खोज-खोज कर जहन्नुम पहुंचाने में लगा था।

चन्दन के द्रवीभूत होने में यदि अभी भी कुछ कसर बाकी रह गई थी तो उसे इन पंक्तियों के उच्चारण ने पूरा कर डाला :

"आज मृत्यु के सौदागर बन
ये नर-भक्षी धाए
अगणित बसते भवन जिन्होंने,
हैं श्मशान बनाए।
शांत करो ज्वाला की लपटें
शीघ्र छोड़ जल राशी।
बरसो-बरसो मेघ ! अभी यह
धरा बहुत है प्यासी।"

बहुत भारी संघर्ष मच रहा था इस समय चन्दन के अन्तर में। गीत की पंक्तियां मानो चाबुक बनकर उसकी दानवीय और पाशविक वृत्तियों पर तड़ाक-तड़ाक पड़ रही थीं—उसकी चमड़ी उधेड़ रही थीं। मानो उसके जीवन में कहीं से कोई दैवी शक्तियों की प्रतिमा उभर आई हो, जो गीत गाकर नहीं बल्कि अपना कलेजा चीर कर उसे दिखला रही थी। साथ ही साथ उसे धिक्कार भी रही हो—'नराधम ! क्या तू भी उन्हीं में से एक है जिनके हाथ मानवीय रक्त से रंगे हुए हैं ? जिन्हें अपनी मां को सताने में मजा आता है—जिन्हें भाइयों का रक्त मां के

को चूसना आरम्भ कर दिया। साथ-साथ गानेवाली की मूर्खता पर उसे आश्चर्य भी हो रहा था—कितनी बे-समझ है, जो इस भयानक वारिश के होने पर भी अभी इसकी और याचना कर रही है, क्या इतनी प्रलयंकारी वारिश होने पर भी इसके ख्याल में अभी तक धरती की प्यास नहीं मिट पाई है ?

ज़ोर से बिजली की कड़कड़ाहट हुई, जैसे कहीं निकट ही गिरी हो। उसे डर होने लगा। पर डर अधिक देर तक नहीं टिक पाया जब उसे कुछ और पंक्तियां सुनाई देने लगीं :

"आज धरा के पुत्र सभी
बन बैठे सत्यानाशी
भाई का पी रक्त, प्यास
बुझ सकी नहीं भाई की।
बरसो-बरसो मेघ ! अभी यह
धरा बहुत है प्यासी।...

व्यंग्यात्मक प्रकार की हैरानी के स्थान पर अब चन्दन के मानस को करुणा स्पर्श करने लगी। उसे यह गीत किसी मानव-हितैषी हृदय का आर्तनाद-सा जान पड़ने लगा। उसके हृदय में कोई स्पंदन-सा हो रहा था, और उस स्पंदन में गीत के ये शब्द भरते चले जा रहे थे :

"हाय दयामय ! इन पुत्रों ने
मां को बहुत सताया।
आपस में लड़-लड़ इन्होंने
मां का दूध लजाया।
खण्ड-खण्ड कर बांट लिया
इसको कर अपनी दासी।
बरसो-बरसो मेघ ! अभी यह
धरा बहुत है प्यासी।...

बहुत गहरी—बहुत ही लम्बी सांस ली चन्दन ने—'मां का दूध लजाया ? सच ही तो है !'

'खट' से चन्दन को जैसे अपने अन्तर में कुछ टूटता-सा लगा जब उसने और सुना :

"आज बना पंजाब है प्रभु जी।
इक भूतों का मेला।
भूल गया, पथ जिसमें आकर,
हाय ! विवेक अकेला।
मुरदों को भी खोज-खोज
लटकाना चाहे फांसी !
बरसो-बरसो मेघ ! अभी यह
धरा बहुत है प्यासी।..."

चन्दन सुने जा रहा था, और सुनने के साथ-साथ कल्पित आंखों द्वारा 'मेला' देखे जा रहा था। मेला, जिसका चन्दन अपने को नायक पा रहा था। वह भाइयों का रक्त पी रहा था—वह मा का दूध लजा रहा था—वह मुर्दों जैसे निर्बलों को खोज-खोज कर जहन्नुम पहुचाने में लगा था।

चन्दन के द्रवीभूत होने में यदि अभी भी कुछ कसर बाकी रह गई थी तो उसे इन पंक्तियों के उच्चारण ने पूरा कर डाला :

"आज मृत्यु के सौदागर बन
ये नर-भक्षी धाए
अगणित बसते भवन जिन्होंने,
है श्मशान बनाए।
शांत करो ज्वाला की लपटें
शीघ्र छोड़ जल राशी।
बरसो-बरसो मेघ ! अभी यह
धरा बहुत है प्यासी।"

बहुत भारी संघर्ष मच रहा था इस समय चन्दन के अन्तर में। गीत की पंक्तियां मानो चाबुक बनकर उसकी दानवीय और पाशविक वृत्तियों पर तड़ाक-तड़ाक पड़ रही थी—उसकी चमडी उधेड रही थी। मानो उसके जीवन में कहीं से कोई दैवी शक्तियों की प्रतिमा उभर आई हो, जो गीत गाकर नहीं बल्कि अपना कलेजा चीर कर उसे दिखला रही थी। साथ ही साथ उसे धिक्कार भी रही हो—'नराधम ! क्या तू भी उन्हींमें से एक है जिनके हाथ मानवीय रक्त से रंगे हुए हैं ? जिन्हें अपनी मा को सताने में मज़ा आता है—जिन्हें भाइयों [illegible] रक्त मां के

दूध से भी बढ़कर मीठा लगता है ?'

उधर गीत समाप्त हुआ, इधर चन्दन को घावों की पीड़ा फिर से तड़पाने लगी मानो सच ही उसे किसीने नींद लाने वाली डोज़ दे दी थी, जिसके असर ने उसे इतनी देर तक पीड़ा का आभास तक नहीं होने दिया था। और अब जिसका असर मिट चुका था। उसकी चिल्लाहट बढ़ने लगी।

इससे पहले कि बेहोशी आकर उसकी चिल्लाहट को शान्त कर देती, सहसा उसे कुछ खटका-सा सुन पड़ा, फिर दरवाज़े का पट—जिसकी देहरी पर उसने सिर टिका रखा था—शनैः-शनैः पीछे को सरकने लगा। जिसके साथ-साथ भीतर से आ रही प्रकाश की वह पतली रेखा मोटी, और मोटी, और मोटी होते-होते अन्ततः समूचे बरामदे में फैल गई।

समूचा बल जुटाकर आ रही मूर्छा से अपने को बचाने का यत्न करते हुए उसने सिर उठाकर ऊपर ताका। पट का दो-तिहाई भाग खुल जाने पर उसे लम्बी चोटी सहित एक युवती का सिर बाहर निकलता दिखाई दिया, और फिर समूचा शरीर। किंकर्तव्यविमूढ़-सी होकर चन्दन की आंखें जहां की तहां थमकर रह गईं। मानो किसीने इन्हें कील दिया हो।

युवती के शरीर पर इस समय कोई गर्म कपड़ा नहीं था, जिससे कि ठण्डी हवा में आने पर उसे कंपकंपी होने लगी थी।

गड़ी हुई आंखों के समान ही एक क्षण के लिए चन्दन की सांस भी रुक गई। सहसा उसके अन्तर से कोई पुकार उठा—आंय ! यह—यह तो—यह क्या—वही—? और इसके आगे वह कुछ नहीं सोच-समझ पाया—कदाचित् भावावेश ने अथवा घावों में से अधिक खून निकल जाने के परिणामस्वरूप कमज़ोरी ने उसकी चेतना पर एकदम हल्ला बोल दिया। उसके सिर में ज़ोर से चक्कर आया। इससे पहले कि उसका सिर देहरी से टकराता, युवती की कोमल बांहों ने उसे थाम लिया।

भारत की सभ्यता और संस्कृति को किसी समय 'विश्वव्यापी' होने का गौरव रहा है, जहां की चित्रकला, नृत्यकला, नाट्यकला, काव्य और संगीतकला की संसार-भर मे चर्चा थी। विशेषतया संगीतकला की तो उपज ही यहां से हुई, ऐसा ही कई विद्वानो का मत है। शायद इसलिए कि भारतीय संगीत को आध्यात्मिक और भौतिक, दोनो पक्षो से एक जैसी महानता प्राप्त थी। योगासन लगाकर बैठे संतों से लेकर हल चलाते हुए किसानों तक इससे एक जैसे प्रभावित थे। देव-मन्दिरों से लेकर राजभवनों तक मे इसकी एक जैसी पहुच थी।

पर यह सब तब तक ही रहा जब तक भारत वास्तविक रूप मे 'भारत' था, जब तक विदेशी गुलामी के जुए से इसका गला स्वतन्त्र था। पर जब से वह जुआ इसके गले मे पड़ा, तब से जहा इसकी जन्मजात स्वतन्त्रता समाप्त हो गई वहा इस देश की ललित कलाए भी शनैः-शनैः रसातल को जाने लगी। इस्लामी राज्य ने तो (अकबर को छोडकर) यहा की ललित कला का कत्ले-आम ही कर डाला।

कहना नहीं होगा कि जिस देश की ललित कला मर गई उस देश की आत्मा मर गई। पर आश्चर्य की बात है कि आक्रमणकारियो के इतने प्रहार सहकर भी इसकी आत्मा (कला) नही मर सकी—शताब्दियों तक कातिलो की छुरी के नीचे दम तोड़ते रहने पर भी यदि यह जीती रही तो इसे करामात ही समझना चाहिए।

भारतीय ललितकला के प्रमुख अग 'संगीत' के साथ मुगल-काल मे जो-जो अन्याय किए गए उसका एक छोटा-सा उदाहरण हमे मुगल इतिहास के एक पन्ने से मिलता है। लिखा है कि भारत के संगीतज्ञों ने जब देखा कि इस्लामी राज्यो की ओर से इस कला को कुचलने मे कुछ भी उठा नहीं रखा जा रहा है तो एक बार औरंगजेब को प्रभावित करने का उन लोगो ने एक ढंग ढूढ़ निका[illegible] जिसके

२७

यों तो पंजाब को 'त्योहारों और मेलों का घर' कहा जाता है, पर 'हरवल्लभ' का मेला कुछ दूसरे ही प्रकार का है, जिसे अपनी किस्म का पहला और अद्वितीय मेला कहा जा सकता है। गत एक शताब्दी से यह मेला प्रतिवर्ष जालन्धर शहर में—'देवी के तालाब' पर लगता चला आ रहा है। शिव मन्दिर के मैदान में इस मेले की नींव स्वामी हरवल्लभ जी ने डाली थी और इसका क्रम आज तक जारी रखे चले आ रहे थे उनके एक शिष्य पंडित तोलाराम।

पौष के दूसरे पखवाड़े में इस मेले का आरम्भ होता है और एक सप्ताह तक निरन्तर चलता है। वस्तुतः इसे बहुत बड़े पैमाने पर संगीत-सम्मेलन ही कहना चाहिए। इस सम्मेलन में भारत के प्रायः सभी प्रान्तों के प्रमुख कलाकार आकर सम्मिलित होते हैं।

पंडित विष्णु दिगम्बर—जो अपने काल के धुरन्धर संगीताचार्य माने जाते थे—जब तक जीवित रहे प्रतिवर्ष इस सम्मेलन में भाग लेते रहे। कहा जाता है कि इनके जीवनकाल में दो-तिहाई यात्री उन्हींका संगीत सुनने और दर्शन पाने को इस मेले में आते थे—मात्र संगीताचार्य समझकर ही नहीं, उन्हें महापुरुष मानकर उनकी चरणधूलि लेने को भी। विशेषतया ऐसे यात्रियों की गिनती तो सबसे अधिक होती जो उनका रचित देश-प्रसिद्ध गीत 'रघुपति राघव राजा राम···' उन्हींके कण्ठ से सुनने के अभिलाषी थे। जैसे ही कार्यक्रम के आरम्भ अथवा अंत में वे इस गीत का उच्चारण करते कि सुनने वाले झूम-झूमकर, उनके स्वर से स्वर मिलाकर, गाने लग जाते, और सारा पण्डाल 'रघुपति···' की ध्वनि से गूंज उठता। यह गीत देश में इतना प्रसिद्ध हुआ कि बाद में महात्मा गांधी, गुरुदेव टैगोर और आचार्य विनोबा भावे इत्यादि महानुभावों के दैनिक सत्संग में गाया जाने लगा।

सन् १९२० का हरवल्लभ मेला जिन लोगों ने देखा है वे भूले नहीं होंगे उस भीड़-भड़क्के को जिसने विगत सब मेलों का रिकार्ड तोड़ दिया था। और इस अद्वितीय भीड़ का कारण यह था कि गत दो वर्ष से पंडित विष्णु दिगम्बर यहां नहीं पधारे थे—पिछले वर्ष बीमार हो जाने से और उससे पिछले वर्ष वे लंका के दौरे पर थे।

अमृतसर का रहनेवाला रामप्रकाश (भगत) अब के बहुत ही उत्सुक था

उनके दर्शनों को। वैसे तो भगत जी इससे पहले भी कई बार हरवल्लभ की संगीत-गोष्ठियों में शामिल हो चुके थे—अपनी कलाप्रवणता का प्रदर्शन भी करते रहे थे, पर इस बार वे दूसरा ही प्रयोजन लेकर आए थे। अर्थात् पंडित जी से गुरु-दीक्षा लेने। गतवर्ष भी उनका यही विचार था, और इससे पहले वर्ष भी। पर दोनों बार वे अपने मनोरथ में असफल रहे। इस बार जैसे ही उन्हें पता चला कि गुरुदेव आ रहे हैं तो उनकी यह लालसा और भी तीव्र हो उठी।

पंडित विष्णु दिगम्बर जैसे महान कलाकार के शागिर्दों में शामिल होना कुछ मज़ाक नहीं है। भगत जी इसे खूब जानते थे, और यह जानते हुए भी इस बार वे अपनी ओर से पूरी तैयारी करके आए थे।

गायक तो नहीं, बल्कि भगत जी एक ऊँचे दर्जे के पखावजी थे, जिससे प्रति-वर्ष उन्हें संगीतकारों के साथ तबला बजाने का अवसर मिलता था। पर इस बार जब कार्यक्रम के अन्तर्गत पखावजियों की छाँट-कटाई होने लगी तो भगत जी ने प्रयत्नपूर्वक अपना नाम गुरुदेव के साथ काम करने के लिए लिखवाया। नियमानुसार कोई भी संगीतज्ञ पखावजी को अपने साथ नहीं लाया करता। इसका दायित्व सम्मेलन के प्रबन्धकों पर रहता है।

बड़ी धूम-धाम से सम्मेलन का उद्घाटन हुआ, और पंडित विष्णु दिगम्बर द्वारा। तत्पश्चात् उन्हीं द्वारा गाए हुए गीत 'रघुपति राघव राजा राम…' के साथ कार्यक्रम का आरम्भ हुआ। पंडित जी के आगमन के समय भीड़ का यह हाल था कि प्रबन्धक घबरा उठे। सम्भव था कि सारा प्रबन्ध ही अस्त-व्यस्त हो जाता यदि इसी बीच में 'रघुपति राघव…' की धुन ने चारों ओर शान्ति का संचार न कर दिया होता।

सूची के अनुसार कलाकारों ने बारी-बारी से अपना-अपना करतब दिखलाना आरम्भ किया; पहले छोटे, फिर उनसे बड़े, फिर उनसे भी प्रसिद्ध हस्तियों ने।

सवेरे की बैठक में दूसरे कलाकारों की गिनती अधिक होने से पंडित जी का प्रोग्राम शाम की बैठक में रखा गया था। रात के नौ बजे जैसे ही एनाउन्सर ने उनका नाम पुकारा कि एक बार फिर पण्डाल में हलचल मच गई। पर इस बार भी वही 'रघुपति…' की धुन ने सबको मन-मुग्ध कर दिया। सन्नाटा इतना था कि पंडित जी के तानपूरा उठाने-रखने तक की आवाज़ स्पष्ट —— दी।

२७

यों तो पंजाब को 'त्योहारों और मेलों का घर' कहा जाता है, पर 'हरवल्लभ' का मेला कुछ दूसरे ही प्रकार का है, जिसे अपनी किस्म का पहला और अद्वितीय मेला कहा जा सकता है। गत एक शताब्दी से यह मेला प्रतिवर्ष जालन्धर शहर में—'देवी के तालाब' पर लगता चला आ रहा है। शिव मन्दिर के मैदान में इस मेले की नींव स्वामी हरवल्लभ जी ने डाली थी और इसका क्रम आज तक जारी रखे चले आ रहे थे उनके एक शिष्य पंडित तोलाराम।

पौष के दूसरे पखवाड़े में इस मेले का आरम्भ होता है और एक सप्ताह तक निरन्तर चलता है। वस्तुतः इसे बहुत बड़े पैमाने पर संगीत-सम्मेलन ही कहना चाहिए। इस सम्मेलन में भारत के प्रायः सभी प्रान्तों के प्रमुख कलाकार आकर सम्मिलित होते हैं।

पंडित विष्णु दिगम्बर—जो अपने काल के धुरन्धर संगीताचार्य माने जाते थे—जब तक जीवित रहे प्रतिवर्ष इस सम्मेलन में भाग लेते रहे। कहा जाता है कि इनके जीवनकाल में दो-तिहाई यात्री उन्हींका संगीत सुनने और दर्शन पाने को इस मेले में आते थे—मात्र संगीताचार्य समझकर ही नहीं, उन्हें महापुरुष मानकर उनकी चरणधूलि लेने को भी। विशेषतया ऐसे यात्रियों की गिनती तो सबसे अधिक होती जो उनका रचित देश-प्रसिद्ध गीत 'रघुपति राघव राजा राम...' उन्हींके कण्ठ से सुनने के अभिलाषी थे। जैसे ही कार्यक्रम के आरम्भ अथवा अंत में वे इस गीत का उच्चारण करते कि सुनने वाले झूम-झूमकर, उनके स्वर से स्वर मिलाकर, गाने लग जाते, और सारा पण्डाल 'रघुपति...' की ध्वनि से गूंज उठता। यह गीत देश में इतना प्रसिद्ध हुआ कि बाद में महात्मा गांधी, गुरुदेव टैगोर और आचार्य विनोबा भावे इत्यादि महानुभावों के दैनिक सत्संग में गाया जाने लगा।

सन् १९२० का हरवल्लभ मेला जिन लोगों ने देखा है वे भूले नहीं होंगे उस भीड़-भड़क्के को जिसने विगत सब मेलों का रिकार्ड तोड़ दिया था। और इस अद्वितीय भीड़ का कारण यह था कि गत दो वर्ष से पंडित विष्णु दिगम्बर यहां नहीं पधारे थे—पिछले वर्ष बीमार हो जाने से और उससे पिछले वर्ष वे लंका के दौरे पर थे।

अमृतसर का रहनेवाला रामप्रकाश (भगत) अब के बहुत ही उत्सुक था

उनके दर्शनों को। वैसे तो भगत जी इससे पहले भी कई बार हरवल्लभ की संगीत-गोष्ठियों में शामिल हो चुके थे—अपनी पखावजकला का प्रदर्शन भी करते रहे थे, पर इस बार वे दूसरा ही प्रयोजन लेकर आए थे। अर्थात् पंडित जी से गुरु-दीक्षा लेने। गतवर्ष भी उनका यही विचार था, और इससे पहले वर्ष भी। पर दोनों बार वे अपने मनोरथ में असफल रहे। इस बार जैसे ही उन्हें पता चला कि गुरुदेव आ रहे हैं तो उनकी वह लालसा और भी तीव्र हो उठी।

पंडित विष्णु दिगम्बर जैसे महान कलाकार के शागिर्दों में शामिल होना कुछ मजाक नहीं है। भगत जी इसे खूब जानते थे, और यह जानते हुए भी इस बार वे अपनी ओर से पूरी तैयारी करके आए थे।

गायक से कहीं बढ़कर भगत जी एक ऊंचे दर्जे के पखावजी थे, जिससे प्रति-वर्ष उन्हें संगीतकारों के साथ तबला बजाने का अवसर मिलता था। पर इस बार जब कार्यक्रम के अन्तर्गत पखावजियों की बांट-बटाई होने लगी तो भगत जी ने यत्नपूर्वक अपना नाम गुरुदेव के साथ काम करने के लिए लिखवाया। नियमानु-सार कोई भी संगीतज्ञ पखावजी को अपने साथ नहीं लाया करता। इसका दायित्व सम्मेलन के प्रबन्धकों पर रहता है।

बड़ी धूम-धाम से सम्मेलन का उद्घाटन हुआ, और पंडित विष्णु दिगम्बर द्वारा। तत्पश्चात् उन्हीं द्वारा गाए हुए गीत 'रघुपति राघव राजा राम…' के साथ कार्यक्रम का आरम्भ हुआ। पंडित जी के आगमन के समय भीड़ का यह हाल था कि प्रबन्धक घबरा उठे। सम्भव था कि सारा प्रबन्ध ही अस्त-व्यस्त हो जाता यदि इसी बीच में 'रघुपति राघव…' की गूंज ने चारों ओर शान्ति का संचार न कर दिया होता।

सूची के अनुसार कलाकारों ने बारी-बारी से अपना-अपना कर्तव्य दिखलाना आरम्भ किया; पहले छोटे, फिर उनसे बड़े, फिर उनसे भी प्रसिद्ध व्यक्तियों ने।

सवेरे की बैठक में दूसरे कलाकारों की गिनती अधिक होने से पंडित जी का आइटम शाम की बैठक में रखा गया था। रात के नौ बजे जैसे ही एनाउन्सर ने उनका नाम पुकारा कि एक बार फिर पण्डाल में हलचल मच गई। पर इस बार भी वही 'रघुपति…' की ट्यून ने सबको मंत्र-मुग्ध कर दिया। सन्नाटा इतना था कि पंडित जी के तानपूरा उठाने-रखने तक की आवाज़ स्पष्ट सुनाई दे रही थी।

भगत जी इस समय पंडित जी की दाईं ओर उनके घुटने से सटकर बैठे थे। उधर तानपूरे के स्वर गूंजे, इधर कड़-कड़ की आवाज़ से तबले-पुड़े का ताल बंधने लगा। पंडित जी ने कानड़ा का सरगम छेड़ा 'पा–मा–पा–गा–मा–सा–रे–नी–सारे–नी+पा–मा–नी–सा–रे नी सा–मा–सा–रे–सा–रे।' और इसके साथ-साथ भगत जी के तबले में से तीन ताल का बोल गूंज उठा—'नाधी धिन्ना, नाधी धिन्ना, नाधी धिन्ना···।'

दस-बारह मिनट तक सरगम का रंग बंधा रहा। जैसे-जैसे सरगम की गति तीव्र होती जाती, उसीके अनुरूप तबले की ताल भी बढ़ने लगी। अन्त में 'गुरु' पर जाकर जब सरगम समाप्त हुई तो तबला भी 'गिदगिद्धा-गिदगिद्धा-गिदगिद्धा' की तिगन पर रुका।

सरगम के बाद पंडित जी द्वारा आलाप आरम्भ हुआ, जिसे पलटा देते हुए वे एक अलौकिक समां बांध रहे थे।

आलाप के बाद कानड़ा का ध्रुपद चला—'आ···दि···युगा···दि···जगा···दि···युगो···यु···ग।'

ध्रुपद के आरम्भ होते ही तबले की गति सोलह मात्रा (तीन ताल) से बदलकर बारह मात्रा (चार ताल) पर आ रही, और ताल का बोल बदलकर इस प्रकार निकलने लगा—धा—धी—धग···त्रिकड़—ता—ती—ती—ती—, धग त्रिकड़—धी—धा।'

स्थायी के बाद अन्तरा शुरू हुआ, जिसके अनुरूप पंडित जी ने अपनी कला के कुछ ऐसे विलक्षण कौतुक दिखाने आरम्भ किए कि दर्शक समुदाय मूर्तियां बन गया। इतने झटपटी ढंग से ताल-परिवर्तन कर जाते कि यदि कोई साधारण पखावजी होता तो हाथ-पांव छोड़कर बैठ जाता, पर भगत जी का हाथ खूब सधा हुआ था। जैसे ही उधर से चार ताल को 'झप' में परिवर्तित किया जाता कि इधर तबला अपने बारह मात्रिक ढंग को त्याग कर दस मात्रा पर आ जाता और उसका बोल निकलने लगता—'धा-त्रिकड़ धा-धी, धी ता-त्रिकड़ता···।'

वस्तुतः कलात्मक तौर से अभी तक ऊंचे स्तर की क्रिया आरम्भ नहीं हुई थी—यह तो एक प्रकार से उनके आइटम की आरम्भिक व्याख्या अथवा भूमिका थी। फिर भी जिस सुघड़ता से ताल पर ताल बदले चला जा रहा था, इसका दर्शकों पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। जहां पंडित जी की सराहना हो रही थी वहां

पखावजी को भी कम प्रशंसा नहीं मिल रही थी।

कला के इस साधारण प्रकटाव के बाद अब असाधारण का आरम्भ हुआ। गीत वही पहला ही था, पर विभिन्न प्रकार के उच्चारणों और भाव-परिवर्तनों में ही आइटम का समय समाप्त हो गया। जैसे-जैसे गीत का अगला भाग चलता गया, पंडित जी की प्रवीणता का नये से नया कौशल श्रोताओं के सामने आता गया। जितनी बार भी अन्तरा उठाया जाता, नये से नये ताल, अनोखे से अनोखे पलटे से। और पखावजी महाशय भी इस परिवर्तन के अनुरूप ढंग से सूलफाकता, आड़ा, दादरा, चंचल और न जाने किन-किन तालों का परिवर्तन किए चले जा रहे थे। कहीं पर भी डिगे-अटके नहीं—गुर, ठा अथवा दुगन-तिगन के किसी भी क्रम में वे बेताल नहीं हुए।

ध्रुपद नाद के चारों अंग—स्थायी, अन्तरा, संचारी और अभोग का समावेश करते हुए पंडित जी बड़े सूक्ष्म और हृदयस्पर्शी ढंग से गा रहे थे। एक तो कंठ सुरीला, दूसरे, सुरताल में बंधा हुआ और तीसरे, कला में सराबोर। साथ ही साथ वे रोही, अवरोही इत्यादि की अलंकृत ध्वनियों में बंधी हुई तानें भी छोड़े जा रहे थे, जिनमें तीनों लयों—द्रुत, मध्यम और विलम्बित के रूपक बांधकर सोने में सुगन्धि भर देते।

भगत जी को इससे पहले कभी भी इतनी बड़ी परीक्षा में पड़ने का अवसर सम्भवतः नहीं मिला था। बैठक के अन्तिम भाग पर पहुंचकर—जब पंडित जी का कला-कौशल अपनी चरम सीमा को छू रहा था—वे घबरा जाते, पर सौभाग्य ने उनकी सहायता की और आदि से अन्त तक उनकी पखावज-कला निर्दोष बनी रही।

भगत जी की खुशी का ठिकाना नहीं रहा जब समाप्ति पर गुरुदेव ने उनका कंधा थपथपाते हुए कहा—"शाबाश! बहुत सुन्दर! आपकी कुशलता को देखकर मुझे कितनी प्रसन्नता हुई!" जिसके उत्तर में भगत जी ने उनके चरणों पर झुककर कहा—"यह सब आपके ही आशीर्वाद का फल है, गुरुदेव! दास पर कृपा-दृष्टि बनाए रखिए।"

२८

उससे अगले दिन पंडित जी के निवासस्थान पर उपस्थित होकर भगत जी ने विनय की—"गुरुदेव, मुझे अपनी शरण में ले लीजिए—मुझे गुरु की जरूरत है।"

वे बोले—"पर आप तो पहले से ही एक कुशल कलाकार हैं, भक्त जी।"

"यह आपका अनुग्रह है गुरुदेव, जो मुझे वड़ाई दे रहे हैं। कलाकार के तौर पर तो मैं नहीं के ही वरावर हूं। संगीतकला में पूर्णता प्राप्त करने की मेरी चिर अभिलाषा है।"

"पूर्णता !" पंडित जी हंस दिए—"पूर्ण तो परमात्मा ही है भक्त जी, दूसरा कोई नहीं हो सकता।"

भगत जी थोड़ा झेंपकर वोले—"सो तो जानता हूं, गुरुदेव। मेरा मनोरथ पूरा कलाकार वनने से है।"

"पूरा कलाकार से आपका क्या भाव है ?"

"जो किसी कला में परिपक्व हो, और जिसे कलाप्रेमियों की ओर से पूरा सम्मान मिले और जिसे…।" भगत जी अपना वाक्य पूरा करते कि इससे पहले ही पंडित जी ने यह टूक जोड़ दी—"खूव धन की प्राप्ति होने लगे। यही न कहना चाहते हैं आप ?"

भगत जी निरुत्तर-से हो गए। पंडित जी ने प्रसंग वदला—"क्या काम-धंधा करते हैं आप ?"

"सुनार हूं, गुरुदेव ! कलशों पर सोना चढ़ाने का काम करता हूं।"

"कितना धन पैदा किया इस धन्धे में ?"

"चालीस वर्ष की उम्र तक पहुंचने तक कुल मिलाकर तीस-चालीस हज़ार की पूंजी वचाई होगी।"

पंडित जी जिज्ञासा-युक्त स्वर में वोले—"क्षमा करना भक्त जी, क्या मैं पूछ सकता हूं कि इतना धन आपने केवल मेहनत द्वारा पैदा किया है ?"

"नहीं तो, गुरुदेव।"

"फिर और कैसे ? छुपाना मत।"

"आपके सामने छुपाऊंगा, गुरुदेव ? यह तो आप जानते हैं कि सव कोई अपने हुनर का चोर होता है। और यह सुनारगीरी का काम तो है ही ऐसा कि इसमें केवल मेहनत के आसरे किसीकी दाल-रोटी भी नहीं चल सकती है।"

"ऐसा!" पंडितजी की मुस्कान गम्भीरता में बदल गई—"तब तो देवताओं की आपपर बड़ी कृपा है। पर एक बात पूछता हूं भक्त जी, कि उनके घर से इतना माल उड़ाने पर भी क्या आपकी भूख नहीं मिट पाई है, जो यह दूसरा धन्धा अपनाने की जरूरत पड़ी?"

भगत जी ऊंधी डाले सुनते रहे—बोले कुछ नहीं। पंडित जी उसी गम्भीर-मुद्रा में कह रहे थे—"क्षमा करना मेरे भाई, आपने न तो अभी तक अपने नाम के साथ चिपके हुए इस 'भक्त' शब्द का अर्थ समझा है न ही 'कला' का। और यदि कुछ समझा है तो मात्र व्यापार बढ़ाने का—धन कमाने का साधन-मात्र। पर आपको समझना चाहिए कि भक्ति और संगीत—जिनका आपस में चोली-दामन का साथ है—न तो व्यापारियों के लिए है न चोरों के लिए। यदि आप कलाकार बनने के इच्छुक हैं तो आपको वास्तविक 'भक्त' और वास्तविक 'कलाकार' बनना होगा—लोभ-रहित होकर, निःस्वार्थ होकर और मान-प्रतिष्ठा की लालसा से ऊपर उठकर। क्षमा करना, संगीतकला कोई 'पेशा' नहीं है। यह तो आध्यात्मिकता का मार्ग है—प्रभु की आराधना का साधन। यों मैं जानता हूं कि आज के जमाने में अधिक लोग इसे स्वार्थसिद्धि के लिए यह ग्रहण करते हैं, पर हमें-तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए—हमें इस दैवी विभूति को वेश्या बनाकर इससे पेशा नहीं करवाना चाहिए। ऐसा करना कला का अपमान करना है, उससे विश्वासघात करना है, उसका गला घोटना है।"

भगत जी पूर्ववत् ही सिर झुकाए रहे। पंडित जी कहे जा रहे थे—"यदि आपको सच्चे अर्थों में कलाकार बनना है तो पहले अपने को इसका अधिकारी बनाइए। इससे अधिक मैं आपको कुछ नहीं कह सकता।"

पंडित जी का यह सिद्धान्त भगत जी को कुछ अनोखा-सा जान पड़ा कि संगीतकला की प्राप्ति के लिए मनुष्य को वही तपस्या-तितिक्षा करनी पड़ती है जो एक मुमुक्षु को मुक्ति-प्राप्ति के लिए।

पण्डित जी ने प्रसंग चलाया—"आप पंजाबी हैं न?"

"हां गुरुदेव।"

"आपका पंजाब तो भक्ति-संगीत का केन्द्र है न?"

भगत जी विरोध में बोले—"कहां, गुरुदेव? पंजाबियों को संगीत से बहुत कम उन्स है। उन लोगों की रुचियां स्थूल किस्म की होती हैं।"

पण्डित जी ने उससे भी अधिक विरोधी रंग में कहा—"यह आप क्या कह रहे हैं भक्त जी ? मैं पंजाबी नहीं हूं, पर पंजाब और उसके इतिहास में रुचि रखता हूं। आश्चर्य की बात है कि एक पंजाबी होते हुए भी आप पंजाब की महानता को नहीं समझ पाए हैं। फिर भी 'गुरु नानक मार्ग' सम्बन्धी तो आप खासी जानकारी रखते होंगे—क्यों ?"

"नहीं, गुरुदेव ! मुझे सिखों और उनके मत से दिलचस्पी नहीं है।"

पण्डित जी और भी आश्चर्य प्रकट करते हुए बोले—"आप भक्त शिरोमणि गुरु नानक जी के बारे में भी कुछ नहीं जानते हैं? कितनी अनोखी बात है कि पंजाब के जिस चन्द्रमा का प्रकाश हमारे महाराष्ट्र तक में जा पहुंचा, एक पंजाबी उसे नहीं देख पाया !'

"महाराष्ट्र में ?" भगत जी ने जिज्ञासा प्रकट की।

"निश्चय ही," वे बोले—"सच पूछिए तो महाराष्ट्र के लोग पंजाब के ऋणी हैं, जिसने हमारे एक महाकवि और भक्त शिरोमणि श्री नामदेव की वाणी को संभालकर रखा, जो आज से सात शताब्दियां पहले 'मुहम्मद बिन तुगलक' के समय महाराष्ट्र में पैदा हुए थे। यदि गुरु नानक के उत्तराधिकारी उनकी रचनाओं को 'ग्रंथसाहिब' में सुरक्षित न कर देते तो आज नामदेव जी की कृति कहीं ढूंढ़ने से न मिल पाती।"

भगत जी ने हैरानी प्रकट की—"पर मुझे तो आज तक किसीने नहीं बताया कि ग्रंथसाहिब में पंजाबी सन्तों के सिवाय किसी गैर पंजाबी की वाणी भी है।"

कहकहा मारकर हंसे पंडित जी—"इसीको तो 'दीए तले अंधेरा' कहते हैं। मैं गुरुमुखी नहीं जानता, पर देवनागरी लिपि में छपे ग्रन्थसाहिब और पंजाब के इतिहास का मैंने अध्ययन किया है। केवल नामदेव जी की ही नहीं, बल्कि भारत के दूसरे भी कितने ही प्रान्तों के सन्तों की वाणी ग्रन्थसाहिब में भरी पड़ी है। दक्षिण बंगाल के पंडित जैदेव की, बम्बई प्रान्त के गोसाई त्रिलोचन की, बनारस के संत कबीर और रामानन्द की, राजपूताना के भक्त धन्ना जी की, सिन्ध के भक्त सधना जी की और रीवां के भक्त सैण जी की।"

भगत जी कुछ लज्जित होकर बोले—"तब तो मैं अभागा हूं, गुरुदेव, जो इतने महान ग्रन्थ के बारे में आज तक बेखबर रहा। पर जिन संतों का आपने जिक्र किया है उनकी रचनाएं पद्य में हैं या गद्य में ?"

"सभी पद्य में हैं भक्त जी, और संगीतमय पद्य में। रात के सम्मेलन में मैंने जो कानडा का गीत गाया था, वह भक्त नामदेव की ही रचना थी।"

भगत जी को पश्चात्ताप-सा हो रहा था। बोले—"काश, मुझे किसीने यह सब पहले बताया होता!"

पंडित जी मुस्कराकर बोले—"तालाब किसीके पास चलकर नहीं जाता है भक्त जी, बल्कि स्नानार्थी ही चलकर उसके पास जाया करते हैं।"

इसके बाद और थोड़ी देर तक दोनों में वार्तो का क्रम चलता रहा। जितने दिन सम्मेलन जारी रहा भगत जी बराबर उनके साथ-साथ बने रहे।

हरवल्लभ का मेला समाप्त हुआ और भगत जी की कामना पूरी हुई। वे जालन्धर से जब अमृतसर लौट रहे थे तो उन्हें लगा जैसे किसीने उनका काया-कल्प कर दिया हो और उनकी आशा से भी कहीं बढ़कर। वे तो केवल संगीत-कला की दीक्षा लेने आए थे, पर इसके साथ ही जो निधि पाकर लौटे वह उससे भी बढ़कर थी। मानव-जीवन का सच्चा मार्ग—'भगत' विशेषण का आध्यात्मिक महत्त्व—धर्म का वास्तविक ज्ञान।

२९

एक तो भगत, दूसरा पढ़ा-लिखा, तीसरा संगीतज्ञ। इन गुणों की कृपा से भगत रामप्रकाश को अमृतसर में अच्छा सम्मान प्राप्त था और इस ही सम्मान की सहायता से उसका सुनारगिरी का काम भी खूब चलता था।

अमृतसर के बाज़ार 'गज दी मोरी' में उसकी दुकान थी। आरम्भ में वह भी अपने बड़े पुरखों की तरह से सोने-चांदी के ज़ेवर बनाता था, पर बाद में जब उसके मन में भक्ति-भाव बढ़ा, विशेषतया 'शीतला मन्दिर' में कथा-कीर्तन करने से, तो उसने गहने बनाने का काम छोड़कर मंदिरों के कलशों और दीवारों पर चढ़ाने वाले ताम्रपत्रों पर सोना चढ़ाने का काम शुरू कर दिया। शहर-भर में इस काम के कारीगर अधिक न होने और धर्म मंदिरों की बहुतायत के कारण उसका काम प्रगति करने लगा। अपेक्षाकृत यह काम इसलिए भी उपजाऊ माना जाता है कि एक तो इसके तोल-जोख में मनमानी हेराफेरी की जा सकती है; दूसरे, बड़े-बड़े दानियों और महादानियों द्वारा एकत्र किए गए धन से यह काम कराया जाता

है; तीसरे, जिन मन्दिरों की सजावट के लिए काम बनवाया जाता है उनके देवी-देवता भी तो ऐसे संकीर्ण नहीं जो अपने किसी भक्त की थोड़ी-घनी हेरा-फेरी को देखकर क्रुद्ध हो उठें। यही कारण था कि रामप्रकाश एक ही साथ 'धर्म और अर्थ' दोनों के कृपापात्र बन गए।

दुर्गयाना (शीतला मंदिर) में प्रति वर्ष होली के त्यौहार पर जो बहुत भारी संगीत-सम्मेलन होता उसमें भगत जी की तूती बोलती थी। न केवल कलाकारों में, बल्कि प्रबंधकों में भी वे प्रमुख माने जाते थे।

पर इतने भाग्यशाली होने पर भी भगत जी का गार्हस्थ्य जीवन आरम्भ से लेकर अन्त तक नीरस और कलहमय बना रहा। नाम को पत्नी थी, दो पुत्र भी थे, पर न तो कभी पत्नी से उनकी पटी न ही पुत्रों से। न जाने इस कलह की तहों में क्या-क्या भरा था। यह और भी बढ़ने लगी जब से भगत जी जालन्धर के हरबल्लभ मेले से लौटे अथवा जब से उन्होंने अपने गुरु की शिक्षा पर चलते हुए अपने धन्धे में बेईमानी करने में कान पकड़े, जिसके परिणामस्वरूप पहले जैसे वारे-न्यारे करने का युग बीतता गया, और साधारण दाल-भात का साधन ही शेष रह गया।

भगत जी चाहे इससे पूर्णतया सन्तुष्ट थे, पर घर के लोगों को उनका यह 'झक्कीपन' फूटी आंखों नहीं सोहाया। पत्नी कुछ तो स्वभाव से ही कर्कशा थी, ऊपर से उसपर यह वज्रपात हुआ। पति पर उसका नजला पहले ही कम नहीं झड़ता था, अब और भी ज़ोर पकड़ने लगा। चाहे भगत जी इसे सहन करने के आदी भी बन चुके थे, पर पत्नी की उग्रता यहीं तक न थमकर जब और आगे बढ़ी और घर में रखे हुए तबले, सितार, तानपूरे इत्यादि पर जब आफत टूट पड़ी तो उनकी सहन-शक्ति डांवाडोल हो उठी। अब उनके लिए इसके बिना कोई ढंग बाकी नहीं रहा कि घर-द्वार का मोह त्यागकर गुरु की शरण में जा टिकें।

लड़के दोनों जवान थे। बड़ा दिल्ली में वही सुनारगीरी का काम करता था और छोटा स्कूल में पढ़ता था। अन्त में एक दिन भगत जी ने अपना निर्णय सुना ही दिया, जिसके अनुरूप घर की सब चीज़ों—नकदी, ज़ेवर इत्यादि से दस्त-बरदार होकर एक दिन जो रेल पर सवार हुए तो गुरुदेव के पास जाकर ही रुके।

अब पत्नी और छोटे पुत्र के लिए अमृतसर में क्या धरा था, जबकि जमा पूंजी खासी थी। अतः भगत जी के चले जाने के थोड़े दिनों ही बाद मां ने बोरिया-बिस्तर

समेटा और लड़के को लेकर दिल्ली, अपने ज्येष्ठ पुत्र के पास, जा टिकी।

गुरुदेव का स्थायी सहयोग पाकर भगत जी धन्य हो उठे। वहा पर रहते हुए समय-समय पर यह रहस्य उनपर खुलने लगा कि संगीतकला मात्र संगीतकला ही नहीं, बल्कि भक्तिमार्ग की प्रतीक भी है, जिसमे जीवन की सार्थकता छिपी है।

सन् १९२३ से लेकर १९३१ तक आठ-नौ वर्ष तक पंडित विष्णु दिगम्बर-आश्रमों में अध्यापक बनकर भगत जी ने व्यतीत किए। इस समय मे उन्होंने घर-वालों को कई पत्र लिखे कुशल-क्षेम पूछने के लिए, पर किसीका भी उन्हें कभी उत्तर नहीं मिला। सब कोई उनके विषय में जान चुके थे कि वे गाने-बजाने वाले किसी टोले मे भरती होकर मारे-मारे फिरते हैं। और ऐसे निठल्ले और आवारा व्यक्ति से वे कोई सम्पर्क रखते तो क्यो? अन्त मे भगत जी ने भी उस ओर से ध्यान हटा लिया।

समय पाकर भगत जी गुरुदेव के प्रमुख शिष्यों मे माने जाने लगे।

सन् १९३१ पंडित जी के जीवन का अन्तिम वर्ष था। शारीरिक तौर से वे दिन-प्रतिदिन कमजोर हुए जा रहे थे, जिससे अब वे कही आते-जाते नही थे। सारा समय अपने जन्म-स्थान 'मिर्जानगर' (महाराष्ट्र) मे गुजारते। समय-समय पर उनके शिष्य और अन्य लोग बीमारपुर्सी के लिए आते-जाते थे; पर भगत जी से तो उनका इतना मोह हो गया था कि हर समय दोनो साथ-साथ ही दिखाई देते। प्रतिदिन प्रातःकाल का सत्संग—जो उनके घर ही होता था—भगत जी द्वारा गाए 'रघुपति राघव राजा राम····' से प्रारम्भ होता।

पंडित जी को अपना अन्तकाल आ पहुचने का कदाचित्-आभास-सा होने लगा था। एक दिन जब दोपहर के समय भगत जी उन्हे उनकी कोई चहेती रागिनी सुनाकर उठने लगे तो पंडित जी ने उन्हे रोक लिया। वे कुछ मर्माहत से स्वर में बोले—"आज भक्त जी, आपसे कुछ विशेष बातें करने को मन हो रहा है—जरा और इधर को सरक आइए।"

भगत जी सरककर उनके निकट हो गए और उलहने के-से रंग मे बोले—"क्षमा चाहता हूं गुरुदेव। बहुत बार विनय की कि मेरे सम्बोधन, मे यह 'आप' और 'भक्त' शब्दो का प्रयोग न किया करिए।"

"अच्छा—अब नही", वे अपनी 'भूल' को स्वीकार करते हुए बोले—"एक बार मैंने तुम्हे बताया था कि पंजाबी न होने पर भी मुझे पंजाब की धरती और

है; तीसरे, जिन मन्दिरों की सजावट के लिए काम बनवाया जाता है उनके देवी-देवता भी तो ऐसे संकीर्ण नहीं जो अपने किसी भक्त की थोड़ी-घनी हेरा-फेरी को देखकर क्रुद्ध हो उठें। यही कारण था कि रामप्रकाश एक ही साथ 'धर्म और अर्थ' दोनों के कृपापात्र बन गए।

दुर्गयाना (शीतला मंदिर) में प्रति वर्ष होली के त्योहार पर जो बहुत भारी संगीत-सम्मेलन होता उसमें भगत जी की तूती बोलती थी। न केवल कलाकारों में, बल्कि प्रबंधकों में भी वे प्रमुख माने जाते थे।

पर इतने भाग्यशाली होने पर भी भगत जी का गार्हस्थ्य जीवन आरम्भ से लेकर अन्त तक नीरस और कलहमय बना रहा। नाम को पत्नी थी, दो पुत्र भी थे, पर न तो कभी पत्नी से उनकी पटी न ही पुत्रों से। न जाने इस कलह की तहों में क्या-क्या भरा था। यह और भी बढ़ने लगी जब से भगत जी जालन्धर के हरवल्लभ मेले से लौटे अथवा जब से उन्होंने अपने गुरु की शिक्षा पर चलते हुए अपने धन्धे में बेईमानी करने में कान पकड़े, जिसके परिणामस्वरूप पहले जैसे वारे-न्यारे करने का युग बीतता गया, और साधारण दाल-भात का साधन ही शेष रह गया।

भगत जी चाहे इससे पूर्णतया सन्तुष्ट थे, पर घर के लोगों को उनका यह 'झक्कीपन' फूटी आंखों नहीं सोहाया। पत्नी कुछ तो स्वभाव से ही कर्कशा थी, ऊपर से उसपर यह वज्रपात हुआ। पति पर उसका नजला पहले ही कम नहीं झड़ता था, अब और भी ज़ोर पकड़ने लगा। चाहे भगत जी इसे सहन करने के आदी भी बन चुके थे, पर पत्नी की उग्रता यहीं तक न थमकर जब और आगे बढ़ी और घर में रखे हुए तबले, सितार, तानपूरे इत्यादि पर जब आफत टूट पड़ी तो उनकी सहन-शक्ति डांवाडोल हो उठी। अब उनके लिए इसके बिना कोई ढंग बाकी नहीं रहा कि घर-द्वार का मोह त्यागकर गुरु की शरण में जा टिकें।

लड़के दोनों जवान थे। बड़ा दिल्ली में वही सुनारगीरी का काम करता था, और छोटा स्कूल में पढ़ता था। अन्त में एक दिन भगत जी ने अपना निर्णय सुना ही दिया, जिसके अनुरूप घर की सब चीज़ों—नकदी, ज़ेवर इत्यादि से दस्त-बरदार होकर एक दिन जो रेल पर सवार हुए तो गुरुदेव के पास जाकर ही रुके।

अब पत्नी और छोटे पुत्र के लिए अमृतसर में क्या धरा था, जबकि जमा पूंजी खासी थी। अतः भगत जी के चले जाने के थोड़े दिनों ही बाद मां ने बोरिया-बिस्तर

समेटा और लड़के को लेकर दिल्ली, अपने ज्येष्ठ पुत्र के पास, जा टिकी।

गुरुदेव का स्थायी सहयोग पाकर भगत जी धन्य हो उठे। वहां पर रहते हुए समय-समय पर यह रहस्य उनपर खुलने लगा कि संगीतकला मात्र संगीतकला ही नहीं, बल्कि भक्तिमार्ग की प्रतीक भी है, जिसमे जीवन की सार्थकता छिपी है।

सन् १९२३ से लेकर १९३१ तक आठ-नौ वर्ष तक पंडित विष्णु दिगम्बर-आश्रमों में अध्यापक बनकर भगत जी ने व्यतीत किए। इस समय में उन्होंने घर-वालों को कई पत्र लिखे कुशल-क्षेम पूछने के लिए, पर किसीका भी उन्हें कभी उत्तर नहीं मिला। सब कोई उनके विषय मे जान चुके थे कि वे गाने-बजाने वाले किसी टोले मे भरती होकर मारे-मारे फिरते हैं। और ऐसे निठल्ले और आवारा व्यक्ति से वे कोई सम्पर्क रखते तो क्यों? अन्त मे भगत जी ने भी उस ओर से ध्यान हटा लिया।

समय पाकर भगत जी गुरुदेव के प्रमुख शिष्यों मे माने जाने लगे।

सन् १९३१ पंडित जी के जीवन का अन्तिम वर्ष था। शारीरिक तौर से वे दिन-प्रतिदिन कमजोर हुए जा रहे थे, जिससे अब वे कहीं आते-जाते नहीं थे। सारा समय अपने जन्म-स्थान 'मिर्जानगर' (महाराष्ट्र) मे गुजारते। समय-समय पर उनके शिष्य और अन्य लोग बीमारपुर्सी के लिए आते-जाते थे; पर भगत जी से तो उनका इतना मोह हो गया था कि हर समय दोनों साथ-साथ ही दिखाई देते। प्रतिदिन प्रातःकाल का सत्संग—जो उनके घर ही होता था—भगत जी द्वारा गाए 'रघुपति राघव राजा राम···' से आरम्भ होता।

पंडित जी को अपना अन्तकाल आ पहुंचने का कदाचित्-आभास-सा होने लगा था। एक दिन जब दोपहर के समय भगत जी उन्हें उनकी कोई चहेती रागिनी सुनाकर उठने लगे तो पंडित जी ने उन्हें रोक लिया। वे कुछ मर्माहत से स्वर में बोले—"आज भक्त जी, आपसे कुछ विशेष बातें करने को मन हो रहा है—ज़रा और इधर को सरक आइए।"

भगत जी सरककर उनके निकट हो गए और उरहने के-से रंग में बोले—"क्षमा चाहता हूं गुरुदेव। बहुत बार विनय की कि मेरे सम्बोधन, मे यह 'आप' और 'भक्त' शब्दों का प्रयोग न किया करिए।"

"अच्छा—अब नहीं", वे अपनी 'भूल' को स्वीकार करते हुए बोले—"एक बार मैंने तुम्हे बताया था कि पंजाबी न होने पर भी मुझे पंजाब की धरती और

पंजाब के लोगों से उन्स है। शायद तब मैंने तुम्हें विस्तार से इस उन्स का कारण नहीं बताया था, जो आज बताना चाहता हूं।"

भगत जी दत्तचित्त होकर बोले—"बताइए गुरुदेव।"

पंडित जी थोड़ा खांसकर—उन्हें बहुत दिनों से खांसी की शिकायत थी—बोले—"रामप्रकाश, काश, तुम अपने प्रान्त के महत्त्व को समझे होते! वस्तुतः पंजाब देवताओं, ऋषियों और आचार्यों की पुण्य-भूमि है। उसने अगणित संस्कृतियों और सभ्यताओं को जन्म दिया है। हमारे आर्य ऋषियों ने वहीं की नदियों के किनारे बैठकर वेदों के पवित्र मंत्र उचारे थे। वहीं कुरुक्षेत्र की रणभूमि में महाभारत के युद्ध के अन्तर्गत भगवान कृष्ण ने गीता का उच्चारण किया था। भगवान राम के पुत्रों, लव और कुश, ने उसी प्रान्त के नगरों—'लाहौर' और 'कसूर' में राज्य किया था। पंजाब ही की एक पर्वत-शिखा पर गुरु गोरखनाथ ने अपना मत चलाया, वहीं पर तक्षशिला नाम का जगत्व्यापी महाविद्यालय स्थापित किया गया, उसी धरती पर कल्हण जैसे महाविद्वान ने 'राजतरंगिणी' की रचना की और उसी धरती पर गुरु नानक ने जिनके विषय में पहले भी बता चुका हूं—उस समय धर्मोपदेश का बीड़ा उठाया जब बाबर जैसे आक्रमणकारियों ने वहां पर कुहराम मचा रखा था। उन्हीं गुरु नानक के उत्तराधिकारी गुरु गोविन्दसिंह ने औरंगजेब जैसे शक्तिशाली सम्राट के साथ लोहा लिया···।"

भगत जी एकाग्रचित्त होकर सुन रहे थे। पंडित जी धारावाहिक रूप में कहे जा रहे थे :

"गुरु नानक का मत वास्तव में 'धर्मयोग' का मत है जबकि भगवान कृष्ण का मत 'कर्मयोग' की शिक्षा देता है। सो मैं समझता हूं कि भगवान कृष्ण का 'कर्मयोग' और गुरु नानक का 'धर्मयोग', इन दोनों का समावेश ही आज के युग में मानवोपयोगी हो सकता है। मनुष्य तब तक मानवता के गूढ़ रहस्यों को नहीं पा सकता जब तक इन दोनों में परिपक्व न हो जाए।"

पंडित जी के रुकने पर भगत जी बोले—"आपने यथार्थ ही कहा गुरुदेव। बहुत दिन पहले जो आपने मुझे गुरु नानक की वाणी पढ़ने का आदेश दिया था उसकी पालना करते हुए मैंने उसका काफी अध्ययन किया। गीता का तो पहले से ही अक्षरशः अध्ययन कर चुका हूं। मुझे भी ऐसा लगा कि गीता और गुरुवाणी में बहुत हद तक सामंजस्य है। पर आपने दूसरी बात जो कही है कि पंजाब देव-

ताओं की पुण्यभूमि है, सो प्राचीन काल मे भले ही रही हो, पर आज तो वहा पर देवतापन कही ढूढे से भी नही मिलेगा।"

"क्या मतलब ?" पडित जी ने प्रश्न किया।

"मतलब यही गुरुदेव, कि एक पंजाबी होने के नाते मैं उन लोगों के स्वभाव से खूब वाकिफ हू। वे लोग बहुत झगड़ालू और तल्ख मिजाज के हैं जो बात का बतगड़ बनाने मे खूब होशियार हैं।"

"तुम ठीक कहते हो।" पडित जी बोले—"पर जहा तक मेरे अध्ययन का सम्बन्ध है, इसके कुछ विशेष कारण हैं। यह तो हम सब जानते हैं कि पंजाब भारत का मुख्य द्वार है—विदेशियों ने जब-जब भी इस देश पर आक्रमण किया, पंजाब के ही रास्ते से, जिससे हर आक्रमणकारी के साथ सबसे पहले पंजाबियों को ही भिड़ना पड़ा। और इसी बार-बार की भिड़न्त के फलस्वरूप जहा पंजाब के लोग देश-भर में सबसे अधिक बहादुर माने जाते हैं वहां उन लोगों के स्वभाव मे *किसी अश तक कठोरता, उद्दडता और कट्टरपन के अवगुण भी पैदा हो गए।* तिस पर शिक्षा की दृष्टि से भी यह प्रान्त पिछड़ा चला आया, जिससे उन लोगों मे कुछ दूसरे अवगुण भी आ गए। पर इसका यह अर्थ नही कि पंजाब के लोग 'देवता' नही रह गए। देवतापन उनमें आज भी मौजूद है, पर शताब्दियों के संस्कारों ने उनके सद्गुणों को दबा-सा दिया है, जिन्हें थोड़ा-सा यत्न करने पर ही उभारा जा सकता है, ऐसा ही मेरा विश्वास है।"

भगत जी ने प्रश्न किया—"सो कैसे उभारा जा सकता है गुरुदेव ?"

वे दृढ़ता से बोले—"सो इस तरह से कि पंजाब के कलाकार अपने कर्तव्यों का पालन करें।"

"पर कलाकारों के हाथ में कौन-सी ढाके बगाले की छडी है, गुरुदेव, जिसे घुमा कर वे···।"

उन्होंने टोका दिया—"ढाके बगाले की छड़ी भी तो किसी मंत्र-यंत्र के बल से ही अपना काम दिखाती होगी, सो भी निश्चित रूप से *नहीं।* पर कलाकारों को तो प्रभु ने वह शक्ति प्रदान की है जिसके प्रयोग से वे जो कुछ न कर दिखाएं थोड़ा है। वे यदि चाहें—मेरा भाव तुम जैसे कलाकारों से है—तो अपनी कला और अपने आत्मबल से पंजाब को न केवल फिर से देवताओं [illegible] बना सकते हैं बल्कि समूचे देश को अंगरेजों की गुलामी से भी मुक्त क[illegible]

भगत जी अंशतः घबराकर बोले—"क्षमा करना, गुरुदेव, इतना बड़ा मोहज्जा दिखाना क्या मेरे जैसे तुच्छ और फिर अकेले आदमी के बस का रोग है? इस काम को तो कोई आप जैसा महान पुरुष ही कर पाएगा।"

वे बोले—"बात तुम्हारी ठीक है रामप्रकाश, कि यह काम बहुत बड़ा है। पर बड़े कामों को करने वाले—जिन्हें तुम महापुरुष की संज्ञा दे रहे हो—आकाश से तो नहीं उतरा करते हैं। जनता का मन और मस्तिष्क बदलने से कोई भी व्यक्ति जो चाहे करा सकता है, पर मन तथा मस्तिष्क बदलने की कला जितनी संगीतकारों के पास है दूसरे किसीके पास नहीं है। यदि इतिहास पर विश्वास किया जाए तो मैं यहां तक कहूंगा कि इस कला द्वारा पशु-पक्षियों को भी बल्कि प्रकृति के मन को भी बदला जा सकता है। तानसेन के विषय में क्या इतिहास नहीं बताता कि इसके गाए हुए 'दीपक' राग से दीये जलने लगते थे और 'मेघराग' गाने से बादल बरसने लगते थे? बैजू बावरा की वीणा को सुनते-सुनते जंगली हरिण तक इतने मस्त हो जाते थे कि निर्भीक होकर उसकी बगल में आ बैठते थे। पर हम यदि इन ऐतिहासिक बातों पर विश्वास न भी करें, तो क्या साइंस ने सिद्ध नहीं कर दिया है कि राग के असर को वनस्पति और पशु-पक्षी भी ग्रहण करते हैं? संगीत से प्रभावित होकर गउएं दूध अधिक देने लगती हैं, मधुमक्खियां अधिक शहद उत्पन्न करने लगती हैं, सांपों को तो तुमने कई बार देखा होगा, बीन पर मस्त होकर झूमने लग जाते हैं। फिर तुम ही सोचो भक्त जी—अरे नहीं रामप्रकाश, कि जिस संगीत के प्रभाव से सांप जैसे विषैले जन्तु भी नहीं बच सकते क्या मानव उसके प्रभाव में आकर अपने साधारण अवगुणों को नहीं त्यागेगा?

"और दूसरी बात जो तुमने कही है कि तुम जैसा अकेला और तुच्छ आदमी क्या कर सकता है, तो भई, मैं भी किसी दिन अकेला था—तुच्छ था। पर मुझे न तो अपने अकेलेपन की परवाह थी न ही तुच्छता की, मुझे तो अपनी कला का सहारा था, और उसीके बल-बूते पर नंगे धड़ इस अखाड़े में कूद पड़ा। मुझमें और तुममें केवल इतना ही अन्तर है कि मैंने कला की शक्ति को पहचान लिया, पर तुम अभी तक उसे नहीं पहचान पाए। जिस दिन तुम्हें अपनी कला में भगवान जितना विश्वास हो जाएगा, उस दिन तुम यदि चाहोगे तो असम्भव को सम्भव बन सकोगे—मृतक में प्राण डाल सकोगे। यह जो आज देश में स्वराज्य-आंदोलन चल रहा है, इसे कितने हजार-कितने लाख लोगों ने आरम्भ किया? गांधी जी

ने ही न ? यह भी सम्भव है कि गांधी जी अपने जीवन-काल में देश को आजाद होते न देख पाए, पर जिसे पूजा करनी है उसे इस बात की चिंता नहीं होनी चाहिए कि देवता कब उसे वरदान प्रदान करेंगे। पुजारी का कर्तव्य है पूजा करना और निरंतर किए जाना।"

थोड़ी देर रुककर—खांसी आ जाने के कारण—वे फिर बोले—"कहा जाता है कि हमारे ऋषियों ने चार वेद रचे थे। पर मेरा विश्वास है कि चार नहीं बल्कि पांच। पांचवें वेद का नाम है 'नादवेद।' और उसीका प्रचलित नाम संगीत-कला है। तुम्हें उसीका पुजारी बनना होगा।"

अब भगत जी को गुरुदेव की बातों में पर्याप्त सत्य और तथ्य का भान होने लगा। पर किसी-किसी बात की सत्यता पर अभी तक उनका सन्देह बना हुआ था। वे सोच रहे थे कि संगीतकला के पक्ष में गुरुदेव जितना कुछ प्रमाणित करने का यत्न कर रहे हैं क्या वह सब यथार्थ है, सम्भव है ? बीच-बीच में उन्हें ऐसा भी आभास होने लगा था जैसे पंडित जी भावावेश में आकर अतिशयोक्ति से काम ले रहे हैं। चाहे कुछ भी हो, पर प्रत्यक्ष में उन्होंने सिर झुकाकर उनकी सभी युक्तियों को स्वीकार किया और उन्हें विश्वास दिलाया कि वे भविष्य में यथाशक्ति, यथा-सम्भव उनके आदेश का पालन करेंगे।

३०

"तुम कला के सच्चे पुजारी हो भगत जी। और यदि इसमें कुछ कमी भी है तो मेरा विश्वास है कि तुम इसे शीघ्र ही पूरा कर लोगे।"

गुरुदेव ने चाहे ये शब्द भगत जी को साधारणतया अपने दूसरे शिष्यों की उपस्थिति में कहे थे, पर भगत जी के लिए ये किसी देवता के वरदान से कम नहीं सिद्ध हुए। उसी दिन से भगत जी 'पुजारी जी' कहकर पुकारे जाने लगे।

फिर जब एक दिन गुरुदेव ने उनकी निरन्तर लगन और सेवा-भाव पर अति प्रसन्न होकर पुरस्कार रूप में उन्हें अपना तानपूरा प्रदान किया, उन्हें मुंह मांगे से भी बढ़कर प्रोत्साहन मिला।

पुजारी जी—वे अब इसी नाम से पुकारे जाते थे—वस्तुतः गुरुदेव के सभी शिष्यों में, सबसे अधिक विद्वान थे—विशेषतया संस्कृत में, जिससे गुरुदेव के

लिए वे और भी महत्त्व की चीज़ थे।

गत कुछ समय से गुरुदेव ने एक नया कार्यक्रम जारी कर रखा था—पुरातन संगीत-नाट्यग्रन्थों को नवीन प्रणाली के अनुरूप शास्त्रीय संगीत में ढालने का। चाहे इससे पहले भी इस प्रणाली के कुछएक ग्रंथ उनकी ओर से प्रकाशित हो चुके थे, जिन्होंने भारतीय संगीतकला को एक नया मोड़ दिया, पर वह तो इस महान कार्य का श्रीगणेश-मात्र ही था और अभी वहुत कुछ करना उनके लिए वाकी था। इसीका भार इन दिनों उन्होंने पुजारी जी के कन्धों पर डाल रखा था, जिसे वे इतनी लगन से किए जा रहे थे कि दिन को दिन देखते न रात को रात। और इसी के उपलक्ष्य में उन्हें गुरुदेव द्वारा 'पुजारी' की उपाधि के साथ तानपूरा प्रदान किया गया। पर विधाता को शायद स्वीकार नहीं था कि गुरुदेव अपने आरम्भ किए हुए इस कार्य को सम्पन्न कर पाते। अतः अपने जीवन के अन्तिम श्वासों में—जब पुजारी जी उनकी सेवा में संलग्न थे—इस काम की पूर्ति का भार उन्हें सौंपकर वे संसार से विदा हुए।

सन् १९३१ से—जब से भारत के महासंगीताचार्य पंडित विष्णु दिगम्बर का देहावसान हुआ—पुजारी जी अपने गुरुदेव की अन्तिम अभिलाषाएं पूरी करने में जुटे रहे। इसीके अन्तर्गत उन्होंने पंजाव के कई शहरों में संगीत विद्यालयों की नींवें डालीं। कहां तो पंजाव की यह स्थिति कि शास्त्रीय संगीत का प्रचलन यहां नाम-मात्र को ही था, और कहां यह परिवर्तन कि वड़े-वड़े शहरों में शास्त्रीय संगीत की तूती वोलने लगी। पहले यदि जालन्धर और अमृतसर में ही संगीत-सम्मेलनों का प्रचलन था, तो अव दूसरे शहरों में भी।

पुजारी जी जैसे-जैसे अपने कार्यक्रम में प्रगति करते गए उसी क्रम से संगीत-कला के सम्वन्ध में उनके दृष्टिकोण में नये से नया परिवर्तन आता गया। और तव कहीं जाकर उनपर अपने गुरुदेव के कहे हुए उन वाक्यों का रहस्य खुला, जो वे कहा करते थे कि—"कला और आध्यात्मिकता का चोली-दामन का साथ है, जिसका सवसे वड़ा उदाहरण सिख गुरुओं की संगीतमय वाणी है···"

पुजारी जी इसी लक्ष्य को सामने रखते हुए गुरुवाणी का अध्ययन भी करने लगे। उनके समक्ष गुरुदेव की कही हुई यह वात भी स्पष्ट हो आई जो वे प्रायः कहा करते थे कि "गुरु नानक का मत और भगवान कृष्ण का उपदेश—दोनों साथ-साथ चलते हैं।" कई वार जव वे मुख्य रूप में गुरुवाणी और गीता के सिद्धान्तों का एक-

दूसरे से मिलान करते तो उन्हें स्पष्ट जान पड़ता कि इन दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं है।

गुरुदेव के स्वर्गवास हो जाने के बाद पुजारी जी पंजाब लौट आए—अपने स्वर्गीय गुरुदेव का उन्हें यही आदेश था। सन् १६३१ से ४१ तक—पूरे दस वर्ष तक वे पंजाब में संगीत-प्रचार करने में जुटे रहे। तत्पश्चात् जब उन्हें पता चला कि बंगाल में भुखमरी का प्रकोप लाखों बंगालियों का भक्षण किए जा रहा है तो वही मानव-पूजा के उद्‌गार उन्हें खींचकर वहा ले गए और बंगालियों को अकाल के दावानल से बचाने के काम में वे वहां तल्लीन हो गए।

३१

तीन वर्ष बंगाल में व्यतीत करने के बाद पुजारी जी फिर पंजाब लौट आए। इस लेखे वे सन् १६२० से लेकर ४६ तक छब्बीस-सत्ताईस वर्ष तक लगातार अपने गुरुदेव के आदेशों का पालन करने में लगे चले आ रहे थे। पर काम इतना छोटा नहीं था जो दो-तीन दशकों में सम्पन्न हो पाता—इसके लिए तो कोडियों वर्षों की जरूरत थी। सम्भवतः यही सब सोचकर वे बंगाल के कार्यक्रम से निबटकर सीधे पंजाब पहुचे, और अपने स्थायी निवास अमृतसर में आ टिके।

जिस कठिन परिश्रम और लगन के साथ पुजारी जी ने पंजाब में संगीत का प्रवाह चलाया इसमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली। पंजाब के शहरों-कसबों में जहां-जहां भी उन्होंने कुछ दिन टिककर अपनी कला का प्रदर्शन किया वहा की जनता खूब प्रभावित हुई। लोगों में धर्म-भावना बढ़ने लगी—उनके मनो में से कठोरता घुलने लगी—कोमलता बढ़ने लगी। लोग दानवीय प्रवृत्तियां त्याग कर दैवी रुचियों की ओर अग्रसर होने लगे, जिससे पुजारी जी का उत्साह और भी बढ़ता चला गया।

पर्वत-शिखर पर से गिरने पर यदि कोई पथिक फिर उसी तलहटी पर जा रहे जहा से उसने चढ़ाई आरम्भ की थी, तो उसे एक नहीं दो प्रकार की पीड़ाओं का शिकार होना पड़ता है। एक शारीरिक पीड़ा का, दूसरी असफलताओं के कारण मानसिक पीड़ा का। पंजाब में आए हुए पुजारी जी को दो ही वर्ष बीते थे कि सहसा १६४७ के आरम्भ में समूचा पंजाब धू-धू करके जलता उन्हें दिखाई

दिया, जिसने न केवल उनका पुरुषार्थ ही चौपट कर दिया बल्कि उनकी आत्मा पर भी कड़ी चोट की। सहसा पंजाबियों को उन्होंने राक्षसी रूप में पाया, जिन्हें वे देवता बनाने चले थे। कहां पंख लगाकर उड़ गया विगत २६ वर्षीय प्रचार का उनका वह असर और कहां विलुप्त हो गई वह कोमलता और सहृदयता, जिसे पंजाबियों में भरने के लिए उन्होंने दिन को दिन देखा था न रात को रात? आज वे देख रहे थे, पंजाबियों का एक हाथ दूसरे हाथ को काट रहा है, अपनी बहू-बेटियों पर उन्हींके द्वारा बलात्कार हो रहा है—पंजाबी लोग अपने मुंह पर अपने ही हाथों से कालिमा पोत रहे हैं—अपनी जूतियां अपने ही सिर पर मार रहे हैं।

सन् सैंतालीस का मार्च का महीना था—होलियों के दिन। इन्हीं दिनों अमृतसर के शीतला मन्दिर के प्रांगण में प्रतिवर्ष संगीत-दरबार हुआ करता था। पुजारी जी आरम्भ से ही इस कार्यक्रम के सर्वेसर्वा चले आ रहे थे, इस बार भी यह भार उन्हींपर था।

गत कुछ वर्षोंसे पुजारीजी ने जिसप्रकार पंजाब के कई दूसरे शहरोंमें संगीत-विद्यालयों की स्थापना की थी, इस वर्ष अमृतसर में भी ऐसा ही एक केन्द्र बनाने का उन्होंने निश्चय कर रखा था। यों भी यहां के संगीत-प्रेमियों की तीव्र इच्छा थी कि पुजारी जी अपना निवास स्थायी तौर से यहीं रखें। एक तो वे वृद्ध हो चुके थे, दूसरे बनने वाले संगीत-केन्द्र के लिए भी उनकी आवश्यकता थी।

जिन लोगों ने कभी शीतला मन्दिर (अमृतसर) के दर्शन किए हों वे अवश्य ही एक महान कला-प्रेमी के नाम से परिचित होंगे। मन्दिर के प्रवेश-द्वार के सामने एक पूरे आकार की संगमरमर की मूर्ति दृष्टिगोचर होगी—चौकड़ी में स्थित एक शान्त और गम्भीर सज्जन की। यही थे शीतला मन्दिर के संस्थापक 'लाला गुरुसहाय', जिनके पुरुषार्थ से न केवल इस मन्दिर की नींव डाली गई, बल्कि यहां पर संगीत-दरबारों का क्रम भी इन्हींके द्वारा आरम्भ हुआ।

लाला गुरुसहाय पुजारी जी के गुरु-भाई थे। उन्होंने भी पंडित विष्णु दिगम्बर से दीक्षा ली थी। बजाज़ी के सोल एजेंट और अमृतसर के बहुत बड़े धनाढ्य थे। शहर के बाहरी भाग में उनकी बहुत-सी ज़मीन थी। उसी ज़मीन का एक टुकड़ा किसी समय उन्होंने अपने इस गुरुभाई (पुजारी जी) के नाम लगवा दिया था। इस ज़मीन का मूल्य तब से और भी बढ़ चुका था जब से वहां पर आबादी कायम

हुई। लाला गुरसहाय स्वर्गवास होने से पहले अपनी वसीयत द्वारा संगीत-आश्रम की स्थापना के लिए पांच हज़ार रुपये का अनुदान लिख गए थे।

ज़मीन चाहे पुजारी जी की निजी सम्पत्ति थी और बहुत बड़े मूल्य की, पर उन्हें तो अपने लिए मात्र एक कमरा-भर के लिए चाहिए थी। अतः गत कई वर्षों से उन्होंने इसी ज़मीन पर आश्रम बनाने का संकल्प कर रखा था। इसीके अंतर्गत आश्रम का अस्थायी श्रीगणेश हुआ, जिसके अनुरूप निश्चय हुआ कि फिलहाल आश्रम के लिए चलाऊ-सा मकान, और साथ में पुजारी जी का निवासगृह बनाकर काम आरम्भ कर दिया जाए। रुपया कुछ तो पहले से ही मौजूद था कुछ और इकट्ठा कर लिया गया। तो फिर देर किस बात की थी। अतः इमारत बननी शुरू हो गई। सबसे पहले पुजारी जी के लिए जगह बननी आरम्भ हुई, जहां पर बैठकर वे अपनी निगरानी में बाकी काम करवाते रहें और अस्थायी आश्रम भी चलता रहे। इस प्रकार पुजारी जी के रहने-भर के लिए जगह तैयार हो गई, और वे उसीमें जा टिके।

कौन जानता है कि होनहार के मन में क्या है? इधर पुजारी जी ने अपने निवास में डेरा डालकर कार्य आरम्भ किया, उधर जहां-तहां से फसादों की खबरें आने लगीं। होली का वह त्योहार जो आया तो ऐसी स्थिति में कि लोग रंग-गुलाल की बजाय मानवीय रक्त द्वारा होली खेलने लगे। वार्षिक संगीत-दरबार का कार्यक्रम धरा-धराया रह गया।

३२

पश्चिमी पंजाब की ओर से इस रक्त कांड का आरम्भ हुआ, और देखते ही देखते पूर्वी पंजाब में भी फैल गया, जिसका श्रीगणेश जो हुआ तो अमृतसर से। कल तक जो नगर आनन्दमग्न था, दूसरे दिन का सूर्य चढ़ते न चढ़ते लोगों ने उसे 'धू-धू' करके जलते देखा।

कहां गई शीतला मन्दिर में संगीत-सम्मेलन की तैयारियां और किधर विलुप्त हो गई संगीत-आश्रम के निर्माण-कार्य की योजना? प्रलय के समय क्या ऐसी बातें किसीको याद रह जाती हैं?

पुजारी जी इधर आशाएं लगाए बैठे थे अमृतसर में एक पंजाब-व्यापी

संगीत-केन्द्र स्थापित करने की पर इस ताण्डव ने उन्हें एकदम हतोत्साह कर दिया। वही पर्वतारोही की-सी हालत उनकी हुई, जो शिखर पर पहुंचकर फिर उसपर से लुढ़कता हुआ पहली ही जगह पर आ रहा हो। कितना मार्मिक असर हुआ उनपर अपनी आंखों के सामने मानवी रक्त की नदियां बहती देखकर? उनकी आंखें पथरा गईं—नसों में रक्त जम-सा गया—समूचे तौर पर वे जड़वत् होकर रह गए।

मकान का वह भाग जो उनके लिए तैयार करवाया गया था—सब प्रकार से सुखदायक था—उनकी आवश्यकता से कहीं बढ़कर। वहां पर उनके आराम के लिए सब कुछ मौजूद था। इसके अतिरिक्त उनके शिष्यों-श्रद्धालुओं का भी वहां पर आना-जाना आरम्भ हो गया था। सवेरे-शाम का सत्संग भी जारी हो चुका था और शिक्षा का भी। पर इस सबके होते हुए भी पुजारी जी के शरीर का कण-कण दुखी था। रोम-रोम उनका चीत्कार कर रहा था—'हे प्रभो! क्या यही सब देखने के लिए तूने मुझे जीवित रखा?'

बहुत दिनों तक उनकी यही हालत बनी रही। कुछ भी उन्हें अच्छा नहीं लग रहा था। वे बहुतेरा चीखते-चिल्लाते—फसादी लोगों के पांव पकड़ते—गुरु-भगवान के नाम पर उन्हें इन दानवीय कामों से रोकने-वरजने का यत्न करते, पर वहां कौन था उनकी बातें सुनने वाला—कोई भी तो नहीं। सब किसीके सिर पर एक ही धुन सवार थी—'मारदो—जला दो—लूट लो—पकड़ लो'''।'

और उनका प्राणाधार—वह संगीत? उसकी ओर से भी वे उपराम हुए-से नज़र आने लगे। शिक्षार्थी आते और गुरुदेव की तबियत बिगड़ी देखकर लौट जाते। यदि उनमें से किसीको रुकना भी पड़ता तो गुरुदेव के दिनों-दिन गिर रहे स्वास्थ्य की चिन्ता से—उपचार करने के विचार से। पर पुजारी जी थे कि उन्होंने एक ही 'न' अक्षर पकड़ रखा था—"दवाई?—नहीं"। "खाने को? कुछ नहीं चाहिए।"

शनैः-शनैः उनकी हालत यहां तक जा पहुंची कि पूजा-पाठ तक को भी भूल बैठे। यदि किसी समय अपने को बांध-जकड़कर कुछ करने भी लगते तो मन नहीं टिकता।

कुछ तो वृद्धावस्था ने ही उनके शरीर को क्षीण कर रखा था, ऊपर से मानसिक कष्ट ने और भी बुरा असर किया। नींद जाती रही, भूख नाम को भी नहीं लगती। आरोग्य से उनका नाता टूटा जा रहा था और तेजी से, जिससे अब निकट

वर्तियों को और भी चिन्ता होने लगी। उन्होंने तो पुजारी जी पर बड़ी-बड़ी आशाएं बांध रखी थीं।

कुछ दिनों तक तो उन लोगों का ताता बंधा रहा। फिर शनैः-शनैः यह क्रम स्वतः बंद-सा होने लगा। कारण ? पुजारी जी के इस श्रद्धालु समुदाय में भी साम्प्रदायिकता के कीटाणु आ घुसे थे, और वे लोग इधर से हटकर अपने 'पुण्य-कार्य' में जा लगे—भाग चुके मुसलमानों के घरों पर कब्ज़ा करने के लिए अथवा बचे-खुचे मुसलमानों का विध्वंस करने को।

पुजारी जी का स्वभाव इन दिनों कुछ विलक्षण-सा हो गया था—नास्तिकों जैसा। प्रायः वे सोचने लग जाते—'कुछ नहीं, सब बकवास है, सब मनगढन्त बातें हैं। ईश्वर-ईश्वर-ईश्वर ! कोई ईश्वर-वीश्वर नहीं है—सब भ्रम का जाल फैला हुआ है—ईश्वर का कोई अस्तित्व नहीं है। यदि सचमुच कोई है तो क्या वह आंखों से अन्धा है ? क्या उसे दिखाई नहीं दे रहा यह सब ? कौन कहता है कि वह न्यायकारी है, अन्तर्यामी है ? यदि ऐसा ही है तो क्यों नहीं उनका सर्वनाश करता जो दूसरों का सर्वनाश करने के लिए उधार खाए हुए हैं ?...

ऐसी ही एक रात थी जिसके पहले अढाई प्रहर उन्होंने इसी प्रकार के तर्क-वितर्कों में व्यतीत कर दिए थे। आज उनकी स्थिति और सब दिनों की अपेक्षा गम्भीर थी और मन विचलित था। अपना अस्तित्व आज उन्हें सीसे जैसा बोझिल जान पड रहा था। एक से अधिक बार उनके अन्तर में आत्महत्या करने की उकसाहट पैदा हो चुकी थी।

सहसा उन्हें ख्याल हो आया—'धर्म-पुस्तकों में से मुझे आत्मबल प्राप्त हुआ करता था—सान्त्वना मिला करती थी, क्या वह मेरा भ्रम ही था ? चाहे भ्रम ही सही, पर उससे कुछ न कुछ लाभ तो होता ही था—संकल्प-विकल्पों के जंगल में भटकते हुए मन को कोई ऐसी पगडंडी तो दिखाई पड़ती थी जिसपर चलने से मन में टिकाव आ जाता और मैं दुविधाओं के चक्रव्यूह से बाहर निकल पाता था।'

फिर सोचने लगे—'पर अब वैसा क्यों नहीं होता ? क्या पोथी-पत्रे में अब वह शक्ति नहीं रही है ? यदि रह गई है तो उनके पठन-पाठन में मुझे अरुचि क्यों? क्या एक बार फिर आज़माइश कर देखूं ?'

यही सोचते हुए वे चारपाई से उठे और ढीले-से पग उठाते हुए उस अलमारी के सामने जा पहुंचे, जिसमें उनकी मुख्य धार्मिक पुस्तकें थीं। 'गीता' और 'सुखमनी'

उठाईं और फिर से खाट पर आ बैठे। तब दोनों में से कोई भी एक पुस्तक, कहीं से भी खोलकर पढ़ने लगे और बिना इस बात का ख्याल किए कि यह गीता है या सुखमनी।

पुस्तक 'सुखमनी' थी, और उसके खुले हुए पृष्ठ पर उनकी नज़र पड़ी। उसकी आरम्भिक पंक्तियां थीं :

"हरन-भरन जांका नेत्र फोर।
तिसका मंत्र न जानै और।"

इन पंक्तियों के अर्थ को विचारते हुए वे मन ही मन सोचने लगे—'क्या आंख झपकने जितनी देर में यह प्रभु विनाश भी कर सकता है और गहमा-गहमी भी? इस लेखे तो यह आजकल जो खून-खराबा और तोड़-जार का क्रम चल रहा है इसे स्वयं वही करवा रहा है। नहीं। ऐसा कभी नहीं हो सकता—नितान्त असम्भव है। यदि सच ही वही करवा रहा है फिर तो उस प्रभु पर 'चिड़ियों मौत गवारों खेल' वाली लोकोक्ति ही घटती है।'

यही सोचते-सोचते कुछ दूसरी पंक्तियों पर उनका ध्यान जा टिका :

"इसका बल नाहीं इस हाथ।
करन करावन सरब को नाथ।
सरब भूत आप बरतारा।
सरब नैन आप पेखनहारा।"

अब आश्चर्य और उदासीन भाव से वे इन पंक्तियों पर तर्क करने लगे—'इस मनुष्य का बल इसके अपने हाथ में नहीं है तो फिर किसके हाथ में है? तब अवश्य ही किसी दूसरे के हाथ में होगा। शायद ऐसा ही हो। वस्तुतः मनुष्य है भी क्या। रबर का गुब्बारा-मात्र ही तो, जो अपने अन्तर में भरी हुई हवा के बूते पर मंडराता है। यदि उसमें से हवा निकल जाए, अथवा निकाल दी जाए तब? तो क्या मात्र वह हवा ही इससे सब अच्छा-बुरा करवाती है? तब तो अवश्य ही वह कोई न कोई होगा ही जिसे 'करन करावन' और 'सर्व का नाथ' कहा गया है।'

अब वे दूसरे पक्ष को लेकर सोचने लगे—तब क्या मैं ही गलती पर हूं, जो सड़क को छोड़कर ऊबड़-खाबड़ मार्ग में भटक गया? गीता में भी तो भगवान कृष्ण ने ऐसा ही लिखा है :

"अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥
मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥"[1]

अब वे अंशतः सन्तुष्ट होकर सोचने लगे—'जब ये दोनों ही ग्रंथ एक स्वर में यही कहते हैं कि सब कुछ इस सृष्टि के कर्ता के हाथ में है तो फिर मैं और किसके हाथ में हूं? मैं भी तो उसी अनादि और अनन्त नियम के अन्तर्गत आता हूं—उसी-का चलाया चलता हूं। हवा से भरा हुआ गुब्बारा, और इस गुब्बारे की डोरी उसी 'करन-करावन' और 'सब के नाथ' के हाथ में है। तब क्या मैं एक गुब्बारा होते हुए कुछ भी नहीं हो सकता चाहे मेरा संचालक खुद वह करन-करावन है? जल की एक बूंद होते हुए भी मैं नगण्य नहीं हूं, जबकि मैं भी समुद्र का ही एक नन्हा-सा अंश हूं—बालू का कण होते हुए भी हिमालय का भाग हूं। मैं इस विशाल ब्रह्माण्ड का एक हिस्सा हूं। मैं तुच्छ हो सकता हूं, पर शून्य नहीं। यदि मेरा रचयिता 'अविनाशी' है तो फिर मैं कैसे नश्वर हूं? और यदि मैं उसका एक जीवित भाग हूं तो फिर ये निर्बलताएं क्यों? ये निराशाएं क्यों? शायद इसलिए कि मैंने अपने को अपने रचयिता से अलग-थलग समझ लिया है। क्या मेरा ऐसा सोचना अपने कर्ता के प्रति कृतघ्नता नहीं है? अपने अस्तित्व के साथ अन्याय नहीं है?'

रात बीती, दिन हुआ और इसके साथ ही पुजारी जी ने अपने अन्तर में किसी नई शक्ति का संचार होते पाया, मानो रात ही रात में उन्हें कहीं से कोई जीवन-बूटी मिल गई हो। अब पहले की सी निर्बलता या शिथिलता उन्हें नहीं प्रतीत हो रही थी, बल्कि इसके स्थान पर वे अपने को बलवान और दृढ़ पा रहे थे। कल तक जिन दुखद घटनाओं से प्रभावित होकर वे आत्महत्या तक करने की बातें सोच रहे थे, आज कुछ दूसरे ही प्रकार से सोचने लगे—'यह सब जो हो रहा है इसे वह ईश्वर मानो 'लीला' या 'खेल' के तौर पर ही नहीं कर रहा है, बल्कि यह तो मानव

---

१. मैं अक्षरों में अकार और समासों में द्वन्द्व नामक समास हूं तथा अक्षय काल अर्थात् काल का भी महाकाल और विराट् स्वरूप अथवा सबका धारण-पोषण करने वाला भी मैं ही हूं। सबका नाश करने वाला और मृत्यु तथा भविष्य में होने वालों की उत्पत्ति का कारण हूं। नारियों में कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा भी मैं ही हूं।

के अपने ही अन्तर में युग-युगान्तर से छुपी हुई दानवता एवं पाशविकता उभर आई है, और ऐसा आदिकाल से ही तो चला आ रहा है।'

'अब पुजारी जी की विचार-श्रृंखला में कुछ नई कड़ियां जुड़ने लगी थीं—'मानव-भक्षी' जिस युग में पैदा होते रहे हैं, 'मानव-रक्षक' भी तो उसी युग की देन थे। पर जिन लोगों ने मानव-रक्षा का समय-समय पर बीड़ा उठाया, क्या वे मेरी तरह भीरु होकर बैठ गए? मुझे भीरुता से ऊपर उठना होगा। 'बीड़ा' उठाने की बात न सही—वह तो बहुत महान है—पर अपनी शक्ति-भर कुछ न कुछ तो कर ही पाऊंगा—किसी न किसी मर्ज़ का इलाज तो हो ही सकूंगा, जबकि मेरा प्रभु—मेरा करन-करावन मेरे साथ है—जिसके हाथ में मेरी डोरी है।

३३

तत्पश्चात् पुजारी जी मानसिक और शारीरिक तौर से अंशतः स्वस्थ दिखाई देने लगे। कुछ तो उन दोनों धार्मिक पुस्तकों के अध्ययन ने उनकी सहायता की और कुछ इस कारण भी कि अब फसादों का अंधड़ थम रहा था। प्रातः सत्संग फिर से आरम्भ होने लगा, और कतिपय शिक्षार्थियों ने भी आना आरम्भ कर दिया, जिससे उनके निवास पर एक बार फिर चहल-पहल दिखाई देने लगी।

अब सत्संग के अन्तर्गत जो एक नया क्रम उन्होंने जारी कर रखा था इससे लोगों की रुचि और भी बढ़ी। अर्थात् गीता और सुखमनी के कुछ श्लोकों को स्वर-लिपि में ढालकर वे गाने और साथ-साथ उनकी व्याख्या भी करने लगे, जिसके परिणामस्वरूप अब हिन्दुओं के अतिरिक्त सिख भी आने लगे। अब उनपर यह रहस्य खुलने लगा कि 'कृष्ण-वाणी' और 'गुरु-वाणी' दोनों का समावेश ही वास्तविक आध्यात्मिकता का प्रतीक है। दूसरी ओर सिख सत्संगियों के बहुत-से परंपरागत भ्रम दूर हो रहे थे। थोड़े दिनों के सत्संग ने ही सब किसीको विश्वास करा दिया कि हिन्दू और सिख एक ही वृक्ष की दो शाखाएं हैं। शनैः-शनैः उन लोगों पर पुजारी जी द्वारा एक नया सिद्धान्त पैंठते चला जा रहा था कि न केवल सिख और हिन्दू ही एक वृक्ष की शाखाएं हैं बल्कि समूची मानवता एक ही वृक्ष है और मनुष्य-मात्र उसीकी शाखाएं हैं—कोई भी इस महावृक्ष से पृथक् नहीं है। और इसी सिद्धान्त के अनुरूप पुजारी जी ने एक दिन इस कथा-भवन का

एक नया अनोखा नामकरण किया—'मानव-मन्दिर'! अतः इसी नाम का एक साइन बोर्ड कथा-भवन के बाहर लगवा दिया गया।

जैसे-जैसे पुजारी जी के मन में टिकाव आता गया, अपने ऊपर लिए हुए एक और दायित्व को निभाने की प्रेरणा भी उनके अन्तर में अगड़ाई लेने लगी—वही जो गुरुदेव द्वारा उन्हें सौंपा गया था—उनकी लिखित पाण्डुलिपियों के सुधारने का काम। अतः अब दिन का बहुत समय वे इसी काम में बिताने लगे। संगीत सिखलाने का काम भी चाहे खासी सिरदर्दी का था, पर उनके कुछ शिक्षार्थी जो पहले से ही संगीत की अच्छी समझ रखते थे—अब उनका बोझ बटाने लगे थे जिससे उन्हें अधिक माथापच्ची नहीं करनी पड़ती।

यह संशोधन का काम उन्होंने जितना सरल समझ रखा था उतना ही जटिल सिद्ध हुआ, और जिसे सम्पन्न करने के लिए उन्हें किसी ऐसे सहायक की आवश्यकता जान पड़ने लगी जो शत-प्रतिशत उनकी कसौटी पर पूरा उतर सके—जो उनका उत्तराधिकारी बनने की योग्यता रखता हो। ऐसा उत्तराधिकारी जो कला में भगवान जितना विश्वास रखता हो जैसा किसी समय पंडित विष्णु दिगम्बर जी ने उन्हें सुझाया था।

वैसे तो इस नगर में बहुतेरे लोग उनकी शागिर्दी का दम भरते थे, पर उनमें ऐसा एक भी उन्हें दिखाई नहीं दिया जो सांसारिकता के स्तर से ऊंचा उठकर कला के शिखरों तक पहुंचने की क्षमता रखता हो। इसी अभाव के कारण पुजारी जी का यह संशोधन-कार्य संतोषजनक ढंग से नहीं हो पा रहा था, जिसकी चिन्ता कभी-कभी उन्हें विचलित कर देती।

देश में, विशेष रूप से पंजाब में, फसादों का बवण्डर मार्च महीने के बाद थम चुका जान पड़ रहा था। वह वास्तव में थमा नहीं बल्कि भीतर ही भीतर सुलगता चला आ रहा था, जो दुर्भाग्यवश चार ही पांच महीने पश्चात् एक बार फिर धधक उठा, और इतने भयानक रूप में कि पहले के फसाद उसकी तुलना में कुछ भी नहीं थे।

१५ अगस्त, १९४७ को जैसे ही देश का बटवारा सम्पन्न हुआ कि दोनों ओर की जनता एक बार फिर रक्त की नदियों और आग की लपटों में डूब गई। लाखों की गिनती में लोग उखड़कर इधर से उधर, उधर से इधर मारे-मारे फिर रहे थे।

पुजारी जी ने अब से चार-पांच महीने पहले भी इस प्रकार के दृश्य देखे थे, जो दो ही तीन सप्ताह में समाप्त हो गए। पर यह दूसरी बार का हत्याकाण्ड!

यह एक बार जो आरम्भ हुआ तो महीनों तक नहीं रुका।

पुजारी जी अब पहले जैसे नहीं थे। यदि होते तो सम्भव था कि उनकी हृदय-गति ही रुक जाती। अब वे मानसिक एवं आत्मिक बल से परिपूर्ण थे, अतः हताश होकर सिर धुनने के बजाय वे पूरी दृढ़ता से लोक-सेवा के काम में जुट गए और विना किसी प्रकार के आडम्बर के। सत्संग और शिक्षा-दीक्षा का क्रम अब भी थोड़ा-घना चल रहा था, पर उनका अधिक समय अब शरणार्थियों की देख-रेख के काम में बीतने लगा।

चारदीवारी में घिरा हुआ उनका मकान चाहे वही दो कमरों और एक बरामदे तक ही सीमित था, पर इतनी थोड़ी जगह में ही इन दिनों बहुत-से शरणार्थियों को टिकाया जा रहा था। यह मानव-पुजारी दिन को दिन देखता न रात को रात। जहां तक भी उनसे बन पड़ता अपने कुछ सहकारियों-सहित प्रयत्नों में संलग्न रहते पर उनका यह प्रयास प्रायः वैसा ही था जैसे जंगल की दावानल को बुझाने के लिए बालटियों का प्रयोग। फिर भी वे अपने काम में व्यस्त रहते।

३४

"क्यों कपड़े गन्दे करते हो बाबा। दफा करो इसे।"

"पड़ी रहने दे बाबा। कमेटी वाले ले जाएंगे उठवाकर।"

"इसमें अब है ही क्या। दो घड़ी में खत्म हो जाएगी।'

"सनकी जान पड़ता है यह बाबा।"

"अरे सनकी नहीं, भाई। कोई महापुरुष जान पड़ता है, नहीं तो क्या इस गन्दी-सड़ी लाश को हाथ लगाता!"

मुहल्ले के मोड़ पर खासी भीड़ थी। मुसलमानी इलाका होने से फसादों का सबसे पहला हल्ला यहीं की आबादी पर हुआ था, और यहां के बहुत-से मकान जला दिए गए थे। उन्हीं जले हुए मकानों का एक खंडहर था यह। मलबा कुछ उठ चुका था और कुछ अभी पड़ा था। उसी मलबे के बीच—जहां जल चुके मकान की छत का कुछ भाग अभी तक गिरा नहीं था—चारों ओर भीड़ जुड़ी हुई थी। सब कोई कौतूहलवश उस व्यक्ति पर टीका-टिप्पणी कर रहे थे। पर वह इस ओर कुछ भी ध्यान न देते हुए अपने काम में व्यस्त था।

जैसे ही लोगोंने पुजारीजीकी बाँहों पर फैला हुआ बालिका का शरीर अथवा शव देखा कि उन्होंने पीछे हटते हुए रास्ता छोड़ दिया—कुछ ने तो इस बीभत्स दृश्य को देखकर, और कुछ ने बदबू के मारे। बालिका के शरीर का कुछ भाग तो पुजारी जी के अंगोछे ने ढांप रखा था और कुछ गन्दे के चिथड़े या मक्खियों ने। शरीर अकड़ा हुआ नहीं था, इसीसे उसके जीवित होने का भान होता था। पर उसकी लटक रही गर्दन को देखकर उसके मुर्दा होने में कुछभी सन्देह नहीं जान पड़ता था।

बालिका के सिर के बाल बिखरे हुए नहीं, बल्कि मधुमक्खियों के छत्ते की तरह जमे हुए थे। उसके अंगों पर मैल की परत चढ़ी थी, जिससे यह समझ पाना कठिन था कि उसके शरीर का रंग कैसा है। मैल की परत कई जगहों से उखड़ गई थी—सम्भवतः खुजलाने से, और वहा के निचले भाग पर मटमैली-सी तरलता दिखाई दे रही थी, जिसपर मक्खियों के झुण्डों ने मानो एक दूसरी परत चढ़ा रखी थी।

भीड़ से बाहर आकर पुजारी जी ने इधर-उधर झाका, शायद किसी टांगे-रिक्शे की खोज में। और फिर वे उस शव अथवा शरीर को सभालते हुए एक ओर चल दिए। शायद यही सोचकर कि कोई भी टांगे-रिक्शे वाला उन्हें बिठाना पसंद नहीं करेगा। लोगों के देखते-देखते वे सड़क का मोड़ मुड़कर सबकी आँखों से ओझल हो गए।

यह वही जमाना था—सन् ४७ का, जब एक ओर हमारे देश में आजादी के जशन मनाए जा रहे थे और दूसरी ओर उखड़े हुए लोग टिड्डीदलों की तरह इधर से उधर, उधर से इधर मंडरा रहे थे—जब पांच दरियाओं की इस धरती पर मानवीय रक्त की नदियां बह रही थीं, जब पंजाबियों की बहू-बेटियों के नारीत्व को पंजाबियों द्वारा ही अपमानित किया जा रहा था, जब सड़कों के फुटपाथ मानवीय शरीरों से यहा तक अटे पड़े थे कि यदि किसी पथिक के पांव को ठोकर लग जाती तो वह 'होगा कोई रिफ्यूजी' कहकर आगे बढ़ जाता।

इस मनहूस वर्ष के अगस्त, सितम्बर और अक्टूबर महीने हमारे देश—विशेषतया पंजाब—के लिए कयामत के महीने थे। अमृतसर एक तो सीमा के निकट होने से, दूसरे, सिखों का तीर्थ होनेके कारण शरणार्थियों का केन्द्र बना हुआ था। इसकी आबादी दुगनी से भी अधिक हो चुकी थी। पर भीड़ वाली गलियों-

और बाज़ारों में इतनी क्षमता नहीं थी जो इन लाखों लोगों को अपने में समा सकें; और फिर उस स्थिति में जबकि शरणार्थियों में अधिक गिनती या तो बीमारों की या घायलों की थी, जिनकी देख-भाल के लिए शहर में न तो पर्याप्त मरहम-पट्टी का प्रबन्ध था न ही दवा-दारू का। फलतः आरम्भ में इस शहर के बाज़ारों में, उद्यानों में, गली-मुहल्लों में अगणित घायल और रोगी शरणार्थी कराहते और एड़ियां रगड़ते दिखाई देने लगे।

उसी रक्तपात की उपज थी यह बालिका, जो गत कई महीनों से अमृतसर के गली-मुहल्लों में फटे हाल चक्कर काटती दिखाई देती थी। मस्तिष्क असन्तुलित होने से वह सब किसीको गालियां देती—'तुम्हारे बच्चे मरें—तुम्हारा बेड़ा गरक हो—तुम्हें भगवान की मार पड़े...' इत्यादि। शनैः-शनैः उसकी हालत और भी बिगड़ गई। वह गालियों के साथ-साथ पत्थर-ढेले उठा-उठाकर लोगों पर फेंकने लगी।

समय ही ऐसा था कि किसीको भी किसी ओर ध्यान देने की फुर्सत नहीं थी। और यदि कोई ध्यान देता भी तो किस-किसकी ओर, जबकि उस बालिका जैसे, बल्कि उससे भी कहीं अधिक बुरे हालों में अगणित लोग जहां-तहां भटकते दिखाई देते थे। फिर यह बालिका थी भी तो हिंसा की प्रतीक, जिसकी वाणी में, हरकतों और आंखों में हिंसा ही हिंसा, प्रतिशोध ही प्रतिशोध भरा था। फिर कौन उसे मुंह लगाता—कौन उसपर दया दिखाता। जैसे-जैसे दिन बीतते गए उसकी हालत क्रमशः खराब से खराब होती चली गई—उसका हुलिया बिगड़ता चला गया—उसकी हिंसा उग्र रूप धारण करती चली गई।

मानव अन्ततः है तो मानव ही। परिस्थितियों के बवण्डर चाहे उसकी आत्मा को कितना ही धूलि-धूसरित कर डालें—पाशविकता चाहे कितनी ही उसकी मानव-सुलभ सुरुचियों को मसल-कुचल डाले—फिर भी तो पशुओं जैसे सींग-पूंछ उसके शरीर पर नहीं उग आएंगे। उसके अन्तःकरण के किसी न किसी कोने में तो मानवता का कोई न कोई कण बचा रह ही जाएगा।

इस शहर में भी कुछ ऐसे व्यक्ति थे जो उस घृणित बालिका के प्रति अंशतः सहानुभूति रखते थे। यदि न होते तो कैसे उस खण्डहर में रातोंरात कहीं से दो-चार चपातियां और सकोरा-भर पानी आ जाया करता? पर उसे खाते-पीते किसीने कम ही देखा होगा। यदि खाते देखा तो कुत्तों के कुछ पिल्लों को। कदा-

चित् वह लड़की मनुष्यों की अपेक्षा कुत्तों के पिल्लों पर अधिक विश्वास करती होगी।

गत कुछ दिनों से मुहल्ले वालों ने उसे कहीं जाते-आते नहीं देखा। वह दिन-रात उसी खण्डहर में—अधजली छत के नीचे पड़ी रहती। कुत्तों के दो-चार पिल्ले उसके आसपास 'कूं-कूं' करते घूमते रहते। और उस दिन सवेरे जब मुहल्ले वालों ने उस खण्डहर के निकट भीड़ देखी तो सबको विश्वास हो गया कि वह घृणित जीव इस संसार से उठ गया है।

सहसा उसी भीड़ में एक वृद्ध को देखा गया था जो भीड़ को ठेलकर आगे बढ़ा था। और जब वह लौटा था तो उसकी बांहों पर उसी बालिका का शरीर अथवा शव फैला हुआ था, जिसे देखकर सब किसीको उबकाइयां आ रही थीं। कोई रुमाल की सहायता से अपनी नासिका को बन्द कर रहा था तो कोई नाक-भौंह सिकोड़ रहा था।

बालिका को उठाए जब वे घर पहुंचे तो उनके दूसरे सहकारी भी वहां पर उपस्थित थे। पर उन सबको पीछे हटाकर और भीतर जाकर उन्होंने बालिका को फर्श पर बिछी हुई चटाई पर लिटा दिया। नब्ज़ देखी, जो अभी तक बन्द नहीं हुई थी। उन्होंने डाक्टर को बुलवाने का विचार किया, पर यही सोचकर इसे बदल डाला कि क्या कोई डाक्टर इस दुर्गन्ध की गठरी का उपचार करने का साहस करेगा?

बाहर निकलकर उन्होंने अपने सेवक को आवाज़ दी, जो उन्हींके पास रहता था, जिसका नाम था सन्तोष। उमर में पुजारी जी से पांच-सात वर्ष कम होगा। उसके आने पर उन्होंने उसे पानी गर्म करने का आदेश दिया।

ठण्ड कड़ाके की पड़ रही थी। सम्भवतः ठण्ड के मारे ही लड़की बेहोश हो गई थी। भीतर आकर उन्होंने कमरे का द्वार बन्द कर लिया और बालिका के गले में का चीथड़ा कुर्ता उतार दिया, जो नाम-मात्र को ही उसे ढापे हुए था।

कमरे में बदबू फैल गई थी, जिससे दरवाज़ा खोलना उन्हें आवश्यक जान पड़ा। पर लड़की के नग्न शरीर को कहीं और अधिक ठण्ड न लग जाए, इस विचार से उन्होंने बन्द ही रहने दिया।

चीथड़े को अलग करने के बाद ध्यानपूर्वक वे बालिका के शरीर को,

करने लगे कि कहीं पर किसी घाव इत्यादि का चिह्न तो नहीं है? पर ऐसा कहीं भी कुछ उन्हें दिखाई नहीं दिया। चिपचिपी मैल ने उसके समस्त शरीर पर आवरण-सा डाल रखा था। सिर की हालत तो और भी बुरी थी। वाल जटाओं की तरह होने पर भी साधारण जटाओं की तरह लम्बे नहीं थे, वल्कि गुड़ की भेली की तरह जमे हुए।

उन्होंने कम्वल लाकर उसपर डाल दिया और घवराहट में सोचने लगे—'हे भगवान ! यह ईंट की तरह जमे हुए वाल कैसे सुलझ पाएंगे ? क्या इन्हें कैंची की सहायता से काट दिया जाए ? और शरीर पर जमी हुई मैल की परत को किस ढंग से साफ किया जाए? क्या इसका मृत प्राय: शरीर इतना कष्ट सहार लेगा ?'

गर्म पानी की वाल्टी आ गई। फिर पुजारी जी का संकेत पाकर सन्तोष ने अंगीठी जलाकर कमरे में रख दी।

शरीर साफ करने का विचार थोड़ी देर के लिए उन्होंने स्थगित कर दिया, और उसे होश में लाने का प्रयास करने लगे, जिसके अनुसार सबसे पहले वालिका के शरीर को गर्माने की जरूरत थी। उन्हें याद हो आया कि घर में कहीं पर रवड़ की आइस कैप मौजूद है। वे उसे ले आए, और उसमें गर्म पानी भरकर पहले उन्होंने वालिका के सिर पर टिका दिया। पर जमे हुए वालों के कारण वहुत देर में लड़की के सिर तक गर्मी पहुंच पाई। उसके पैरों में पुजारी जी ने अपनी गर्म जुरावें पहना दीं। तव वे कपड़े की गद्दी वनाकर और अंगीठी द्वारा उसे गर्म कर-करके उसके शरीर को गर्माने में लग गए।

इस प्रकार दो-अढ़ाई घंटे के यत्न से लड़की के शरीर में कहीं थोड़ी-सी गति आनी शुरू हुई और साथ ही उसकी आंखों के पपोटे भी हिलने लगे। नव्ज़ की गति अव पहले की अपेक्षा कुछ स्पष्ट थी, जिसे देखकर पुजारी जी को कुछ न कुछ सन्तोष हुआ।

इसके और थोड़ी देर वाद जव वालिका ने शनैः-शनैः आंखें खोलीं तो पुजारी जी भगवान को धन्यवाद देने लगे। उन्हें लड़की के वच जाने की आशा हो गई। वस्तुत: विगत रात को शीत ने ही उसे वेहोशी की हालत तक पहुंचा दिया था अत: शरीर गर्माया जाने पर—विना किसी दवा-दारू के ही—उसकी हालत सुधरने लगी।

वड़े डरावने ढंग से लड़की आंखों की पुतलियां दाएं-वाएं फेरते हुए ताकने

लगी। पुजारी जी पहले से ही सुन चुके थे कि लड़की पागल है। पागल इसी तरह ही तो ताका करते हैं। आँखें खोलने के बाद वह दूसरे अंगों को भी हिलाने-डुलाने लगी। सबसे पहले वह दायां हाथ उठाकर सिर की ओर ले गई। और फिर उसके हाथ में फुर्ती-सी पैदा हुई। झटके से उसने सिर पर रखी हुई आइसबैग को पकड़कर इतने जोर से पुजारी जी पर दे मारा कि वे बड़ी चौकसी से अपने को इसके प्रहार से बचा पाए।

अब वह हड़बड़ाई-सी उत्तेजित-सी मुद्रा में अपनी आँखों की पुतलियां इधर-उधर घुमाते हुए ताके जा रही थी। उसकी नज़र कभी पुजारी जी पर, कभी ओढ़े हुए कम्बल पर और कभी अपने हाथों पर टिक जाती। पर अभी तक भी उसकी ज़बान में गति नहीं आ पाई।

उसके माथे पर हाथ रखते हुए पुजारी जी ने उसे सम्बोधित किया—"बेटी! कैसी है तबियत?" पर उत्तर देने को लड़की के होंठ नहीं खुले। केवल उसकी प्रश्नसूचक आँखें उनके चेहरे पर गड़ी थीं। जैसे उन्हें पूछ रही हों—'तुम कौन हो —तुम्हें क्या अधिकार है मुझसे पूछने का?'

बाल्टी का पानी ठण्डा न हो जाए, उसे अंगीठी पर रख देना चाहिए, यह सोचकर वे उस नुक्कड़ की ओर बढ़े जहां बाल्टी रखी थी। और जब लौटे तो उन्होंने लड़की को बैठे हुए पाया और नग्न अवस्था में! कम्बल को उसने हटाकर फेंक दिया था।

जैसे ही वे बाल्टी को अंगीठी पर टिकाकर मुड़े कि लड़की उठ खड़ी हुई और यह कहते हुए उनपर झपट पड़ी—"तू...तू कौन ए? किन्ने मैंनू इस कोठड़ी विच डक्क दित्ता ए?...मैं तैनू कच्चे नू खा जावांगी...।"[1] और उसने गालियों की बौछार आरम्भ कर दी—"गुंडा! कमीना... शैतान!...पापी...!" जैसे-जैसे उसकी आवाज तेज होती गई, उसकी आंखों में खून-सा उतरने लगा। मानो सचमुच ही पुजारी जी को चबा डालेगी। इतने पर ही सन्तोष न करके उसने आगे बढ़कर पुजारी जी के सिर के बालों को दोनों मुट्ठियों में भर लिया और उन्हें इतने जोर से खींचने लगी मानो उखाड़कर ही दम लेगी।

इन दहाड़ों को सुनकर बाहर से उनका नौकर और उसके साथ दो-तीन दूसरे

१. तुम कौन हो? किसने मुझे इस कोठरी में बन्द कर रखा है? मैं
खाऊंगी।

व्यक्ति दरवाज़ा खोलकर अन्दर घुस आए, जिन्होंने बड़ी कठिनाई से पुजारी जी का सिर लड़की के चंगुल से छुड़ाया।

पुजारी जी ने आगन्तुकों को आदेश दिया—"आप सब बाहर चले जाइए बच्ची का शरीर नंगा है।"

"पर गुरुदेव", उधर से किसीने कहा—"यह तो बिलकुल पागल है।"

"चिन्ता मत कीजिए," वे बोले—"आप जाइए—सब ठीक हो जाएगा।"

अब किसीको भी रुकने का साहस नहीं हुआ। उनके निकल जाने पर पुजारी जी ने दरवाज़ा फिर से बन्द कर दिया। वे लोग किसी अनिष्ट की सम्भावना से बाहर देहरी के पास खड़े हो गए।

लड़की फिर अपनी जगह पर आ बैठी, और इतनी ज़ोर-ज़ोर से हांफने लगी जैसे बहुत थक गई हो। उसकी आंखें पहले से भी अधिक भयंकर थीं।

पुजारी जी उसके निकट बैठ गए और उसका कंधा सहलाते हुए बोले—"लेट जा बच्ची।" और वह लेट गई। तब पुजारी जी ने फिर से उसपर कम्बल डाल दिया, जिसके थोड़ी ही देर बाद बालिका ने आंखें मूंद लीं और भारी-भारी, लम्बे-लम्बे सांस लेने लगी, जो उसके सो जाने के लक्षण थे।

३५

दिन-भर की नींद के बाद जब शाम को बालिका जगी तो उसके शरीर पर की मैल कुछ न कुछ कम हो चुकी थी। उसके सोते में ही पुजारी जी ने गर्म पानी, साबुन और मुलायम तौलिये के प्रयोग से इतना-सा काम निपटा लिया, पर डरते-डरते, कि कहीं वह उठकर उनके गले का हार न बन जाए। पर इस क्रिया में ऐसी कोई बाधा नहीं पड़ी।

उसके जगने पर जब पुजारी जी ने दूध का गिलास लाकर उसके मुंह से लगाया तो वह उसे गट-गट पी गई—बिना हील-हुज्जत के। कदाचित् भूखी होने के कारण ही। दूध पीने का असर हुआ कि उसके शरीर में थोड़ी-बहुत स्फूर्ति आ गई। पर उसके पागलपन में अन्तर नहीं पड़ा। पहले ही की तरह वह भयभीत एवं भयानक नज़रों से इधर-उधर ताक रही थी। बीच-बीच में वह कुछ अण्ट-शण्ट भी बोलने लग जाती और फिर बिना रोके ही चुप हो जाती। पुजारी जी पूर्ववत् ही उसे

प्यारने-दुलारने में संलग्न थे। उनके लिए यदि सन्तोष की बात थी तो इतनी ही कि लड़की ने फिर उनपर आक्रमण नहीं किया।

पहले दिन के बाद दूसरा, फिर तीसरा दिन बीता। पुजारी जी के लिए खासा संकट-सा पैदा हो चुका था। वे न तो उसे हर समय अपने कमरे मे बन्द रख सकते थे न ही उसे अकेली छोडकर कहीं जा-आ सकते थे। लडकी के लिए खाट-बिस्तर उन्हे अपने ही कमरे मे बिछाना पड़ा। सकटग्रस्त होते हुए भी वे सन्तुष्ट थे कि एक मरणासन्न जीव को पुनर्जीवन प्रदान करने मे भगवान उनकी सहायता कर रहे थे। इसके लिए यदि उन्हे दैनिक सत्सग और शिक्षा-दीक्षा के कार्यों में अनुपस्थित रहना पड़ा तो इससे वे चिन्तित नही थे, जबकि उनके शिष्यो और श्रद्धालुओं द्वारा दोनों काम यथासमय चल ही रहे थे।

तीन दिन बीत जाने पर लडकी की दशा मे कुछ और परिवर्तन दिखाई देने लगा। पुजारी जी के गत तीन दिन के परिश्रम के फलस्वरूप अब तक उसका शरीर तो निर्मल हो चुका था पर सिर के बालों की हालत वैसी ही थी। अब लड़की उनके किसी भी काम में किसी प्रकार की बाधा नही डालती—मेमने की तरह चुपचाप बैठी या पड़ी रहती और वे अपने काम में सलग्न रहते।

शरीर साफ हो जाने के बाद अब सिर की बारी थी। नमदे की तरह जुड़े हुए इतने घने बालो को एक-दूसरे से छुड़ाना पुजारी जी के लिए एक समस्या बन गई। चाहे पास-पडोस की कुछ औरतों ने इस काम के लिए अपनी सेवा प्रस्तुत की, पर लड़की किसी दूसरे व्यक्ति को निकट ही नही फटकने देती थी। अन्ततः उन्हें इस काम को अपने ही हाथ में लेना पडा। पड़ौसिनो की सहायता यदि उन्होने ग्रहण की तो कपड़ों के रूप में। लड़की के लिए कई जोड़े आ गए। पहले उन्होंने सोडा और गर्म पानी मिलाकर उसके बालों में रचाया। फिर लोहे की सलाई द्वारा एक-एक, दो-दो बाल करके छुड़ाने लगे। इसके साथ-साथ वे लड़की का मन बहलाने का भी कुछ न कुछ उपाय जारी रखते। अततः यह काम भी सम्पन्न हुआ।

पुजारी जी ने इतना ही पर्याप्त समझा कि भले ही लड़की के मस्तिष्क में चाहे कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ, पर बच गई। केवल प्राण ही नही, बल्कि पुजारी जी के निरन्तर परिश्रम ने बालिका की एक दूसरी चीज़ को भी बचा लिया—उसकी सुन्दरता को। जिन लोगो ने उसे पहले दिन मानव-मन्दिर में देखा था, उनके गुमान में भी यह बात नही आई होगी कि मैल और दुर्गन्ध का पुलिन्दा—

वह लड़की वास्तव में इतनी मुंह-माथे की होगी। जैसे-जैसे उसके शरीर की मैल उतरती गई उसका रूप निखरता गया। और जिस काम में पुजारी जी को सबसे अधिक मेहनत करनी पड़ी थी वही लड़की की सुन्दरता का प्रतीक सिद्ध हुआ, अर्थात् उसके केश।

पुजारी जी बार-बार भगवान के चरणों में प्रार्थनाएं करते—"हे अन्तर्यामी, तूने तो इसके शव में प्राण डाले हैं तो क्या इतनी और कृपा नहीं करेगा कि बेचारी का मस्तिष्क भी ठीक हो जाए?"

तभी एक दिन एक घटना हो गई जिसने पुजारा जी की निराशा को आशा में बदल दिया अथवा प्रभु ने उनकी वह दूसरी विनय भी सुन ली।

गाने-बजाने का शौक भी अफीम जैसा होता है, और पुजारी जी तो इस अफीम के पुराने आदी थे। कभी भी इस काम में उन्होंने अन्तर नहीं आने दिया था। पर जब से उस पगली से उनका पाला पड़ा तब से वे इससे वंचित चले आ रहे थे और इस अलगाव ने आज उन्हें इतना आकुल कर दिया कि हजार सोचने पर भी कि ऐसा करने से लड़की की नींद उचट जाना सम्भावित है वे अपने पर नियन्त्रण नहीं रख पाए। सहसा तानपूरा ले बैठे। बत्ती के प्रकाश में उन्होंने लड़की की ओर ताका। वह गहरी नींद में सो रही थी। रात का तीसरा पहर बीत रहा था।

तानपूरे का ठाट बांधकर उन्होंने भैरव राग का आलाप शुरू किया, और फिर इन पंक्तियों का उच्चारण:

"तू मेरा पिता तू है मेरी माता,
तू मेरा बन्धु तू मेरा भ्राता,
तू मेरा राखा सभनी थाई,
तां भउ केहा काड़ा जीओ।"

तानपूरे की स्वर-लहरी में मिले हुए उनके इस गान ने कमरे के वातावरण में जैसे अमृत भर दिया। शायद बहुत दिनों के बाद गाने का अवसर पाकर ही आज उनके कंठ में पहले से कहीं अधिक लोच थी। मानो आज वे मिलन-विह्वल होकर अपने भगवान को पिता, माता, बन्धु और भाई के सम्बोधनों द्वारा पुकार रहे हों—मानो अपने भगवान की गोद में बैठने को विह्वल हो उठे हों।

आमतौर से पुजारी जी का कुछ ऐसा ही स्वभाव था कि जब कभी गाने के अन्तर्गत से प्रभु-प्रेम की अवस्था में आ पहुचते तो सहसा उनकी आंखें मुंद जाया

करतीं। कभी-कभी तो उनमें से अश्रुधारा भी बहने लगती। आज भी वे कुछ उसी रंग में गा रहे थे।

इसी अवस्था में वे गाए जा रहे थे, और तब तक गाते ही चले गए जब तक उन्हें अपने स्वर के साथ किसी दूसरे व्यक्ति के स्वर का आभास नहीं हुआ। सहसा उनकी आंखें खुल गईं, और उन खुली आंखों ने एक अलौकिक दृश्य देखा। बगल वाली चारपाई पर लड़की बैठी थी और बैठे-बैठे गुनगुना रही थी।

उनका ध्यान गाने में से उचटकर बालिका पर जा टिका जिसकी आंखें बन्द होने पर भी, उन्हें लगा जैसे इसे पागलपन छू तक नहीं गया है। कितनी प्रसन्नता हुई उन्हें यह देखकर कि उनके रुक जाने पर भी लड़की गुनगुनाए चली जा रही थी। तानपूरे को वहीं बिस्तर पर रखकर उन्होंने पुकारा—"बेटी!" पर लड़की कुछ नहीं बोली—पूर्ववत् ही आंखें बन्द किए रही। तब वे उठकर उसके पास जा बैठे यह कहते हुए—"सो जा पुत्री, अभी दिन नहीं हुआ है।" और जब वह लेट गई तो उन्होंने उसपर कंबल फैला दिया।

'भगवान! तेरा शुक्र है।' पुजारी जी मन ही मन पुकारे। उन्हें अब विश्वास हो चला कि बच्ची का मस्तिष्क अवश्य ही ठीक हो जाएगा और जल्दी ही। इस विश्वास का एक विशेष कारण यह भी था कि आज पहली बार उन्होंने बालिका की पलकें भीगी-भीगी पाईं। उन्होंने सुन रखा था कि पागल व्यक्ति को आंसू नहीं आया करते, और यदि आने लगें तो इसे उसकी आरोग्य का चिह्न समझना चाहिए। और पुजारी जी का अनुमान अथवा उनकी वह सुनी-सुनाई बात सत्य ही सिद्ध हुई जब दूसरे दिन लड़की की हालत उन्हें कुछ सुधरी दिखाई दी। पर उन्होंने इस बात की चर्चा किसीसे नहीं की। वे जानते थे कि इस आश्चर्यजनक बात को सुनकर कई आ जुटेंगे, जिससे ऐसा भी सम्भव है कि बच्ची की हालत फिर से बिगड़ने लग जाए। पहले भी वे किसीको उसके निकट नहीं आने देते थे।

थोड़े ही दिनों बाद एक और घटना घटी। रात डेढ़ बजे का वक्त होगा कि सोए-सोए पुजारी जी की आंखें खुलीं। उन्होंने देखा, लड़की उनका तानपूरा अपने सामने लिटाए उसकी तारों को टुनकार रही है, और इतने ज़ोर-ज़ोर से जिससे तारों के टूट जाने की सम्भावना थी। उन्होंने पुकारा—"बेटी! यह क्या कर रही है? ला यहां, मैं बजाकर सुनाऊं।" और सुनते ही लड़की तानपूरा उठाकर उनके पास ले आई।

'इतनी जल्दी यह बातें समझने लगी है?' आश्चर्यचकित होकर पुजारी जी सोच रहे थे। आज पहली बार उन्हें अपने गुरुदेव की उस बात का विश्वास हुआ जो उन्होंने एक बार कही थी कि—'जिस दिन तुम्हें अपनी संगीतकला में 'भगवान' जितना विश्वास हो जाएगा उस दिन यदि तुम चाहोगे तो इसके बल से असम्भव को सम्भव बना सकोगे।" और सचमुच ही यह असम्भव के सम्भव बन जाने की बात थी।

लड़की को उन्होंने अपने साथ बैठा लिया, और उसकी पीठ को सहलाते हुए बोले—"बता, क्या सुनाऊं?" उत्तर में लड़की मात्र खंखारकर रह गई—बोली नहीं।

पुजारी जी आज फिर वही उस दिन वाली पंक्तियां—"तू मेरा पिता···" उचारने लगे। सुनकर लड़की में उत्तरोत्तर चेतना लौटने लगी।

एक ही पंक्ति के बाद लड़की आज फिर उसी तरह साथ-साथ गुनगुनाने लगी। पुजारी जी ध्यान से उसका गुनगुनाना सुन रहे थे और गाने के साथ-साथ यह समझने का भी प्रयास कर रहे थे कि लड़की के मन को कौन-सी पंक्तियां या कौन-से शब्द अधिक प्रभावित करते हैं। और यह समझने में उन्हें न तो देर लगी न ही माथा-पच्ची करनी पड़ी, जब उन्हें अनुभव हुआ कि जैसे ही वे स्थायी पंक्ति—'तू मेरा पिता···' पर आते हैं, कि लड़की की गुनगुनाहट में एक प्रकार की स्फूर्ति-सी आ जाती है और वह गाने में विशेष तौर से उनका साथ देती है। परिणामस्वरूप थोड़ी ही देर में लड़की का 'ऊं-ऊं' उच्चारण 'तूं-तूं' में बदला, और फिर इसके साथ 'पिता' शब्द का भी।

गीत की समाप्ति पर पुजारी जी ने देखा, लड़की की आंखें उनकी सफेद दाढ़ी पर कुछ इस ढंग से टिकी थीं जैसे वह उन्हें पहचानने का यत्न कर रही हो। इस दृष्टिपात में आज पहली बार उन्हें सार्थकता का अंश दिखाई दिया।

तानपूरा रखने के बाद उन्होंने लड़की के शरीर को थोड़ा सरकाकर अपने वक्ष से सटा लिया। इस स्पर्श में भी आज उन्हें पहले की अपेक्षा कुछ विलक्षणता दिखी। पहले जब वे उसके शरीर को, दुलारते थे तो ऐसे जैसे किसी पाषाण-मूर्ति को, किसी निर्जीव वस्तु को। पर आज उन्होंने पाया कि लड़की अपने मन से ही उनके शरीर से सट गई और उसने अपना सिर उनकी गोद में रख दिया है। पर इतना होने पर भी बातचीत के तौर पर वह पहले जैसी ही गूंगी बनी हुई थी।

पुजारी जी को अब उसके अच्छा होने में कुछ भी सन्देह नहीं रहा, अब केवल लड़की की जबान खुलना ही बाकी था।

फिर जैसे ही उन्होंने उसे सो जाने को कहा कि वह भले-चंगे व्यक्ति की तरह उठी और अपनी चारपाई पर जाकर लेट गई। आज उसे कम्बल ओढ़ाने के लिए पुजारी जी को कष्ट नहीं करना पड़ा—लड़की ने खुद ही उसे ओढ़ लिया।

३६

जितना विलक्षण उस लड़की का पागलपन था उससे भी अधिक आश्चर्यजनक था उसके पागलपन का उतार; जहां उसने बकना-झकना बन्द कर दिया वहां उसपर मौन छा गया था। और यह कुएं से निकलकर गड्ढे में गिरने जैसी ही बात थी, जिसे पागलपन का उतार नहीं कहा जा सकता था। यही हालत थी लड़की की आंखों की। अब उनमें पहले की-सी चंचलता, घृणा या हिंसा का लेश-मात्र भी नहीं था। इसके स्थान पर उनमें गहरी शून्यता और स्थिरता थी। जहां पर भी उसकी नज़र टिकती कि टिकी ही रह जाती—न पुतलियां हिलतीं न पलकें। फिर भी पुजारी जी हताश नहीं हुए। उन्हें अब अपने मन्त्र पर भगवान जितना भरोसा था, जिसका कुछ न कुछ चमत्कार वे देख चुके थे। और उसी मन्त्र का प्रयोग उन्होंने निरन्तर जारी रखा।

पहले कुछ दिन तो वही क्रम चलता रहा—प्रभात समय का गाना और जब उन्हें विश्वास हो गया कि उनके गाए हुए गीतों और बजाए हुए तानपूरे ने बालिका के मर्मस्थल को छूना शुरू किया है तो इस काम के लिए वे और भी अधिक समय देने लगे। यथासम्भव वे ऐसे ही गीत गाते—ऐसी ही ट्यूनें निकालते, जिनके बारे में उन्हें विश्वास था कि लड़की को अधिक प्रभावित करती हैं। प्रभाव ग्रहण करने के लक्षण जो पहले अस्पष्ट थे, अब शनैः-शनैः उन्हें स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे। सुनते-सुनते गुनगुनाते हुए बालिका का झूमने लग जाना, आंखों में आंसू भर आना, निश्वास लेना; कभी-कभी गुनगुनाहट का निरी गुनगुनाहट ही न रहकर शाब्दिक रूप में बदल जाना।

पुजारी जी का हर समय यही यत्न रहता कि लड़की की जबान किसी तरह खुल जाए और वह उनके प्रश्नों का उत्तर देने लगे। अब तक वे उसके मुंह से एक ही

सार्थक शब्द सुन पाए थे—'बापू'। अब उन्हें कुछ और भी सुनने को मिलने लगा—थोड़ा सार्थक और अधिक निरर्थक। इससे उनके उत्साह को और बढ़ावा मिला।

सहसा एक दिन लड़की की जबान में आश्चर्यजनक प्रगति आ गई जब प्रभात समय वे उसे अपने साथ बैठालकर एक पंक्ति गा रहे थे :

"जिसके सिर ऊपर तू स्वामी
सो दुख कैसे पावै।"

जितनी देर तक वे गाते रहे, बालिका भी उनके साथ-साथ वही गुनगुनाती रही—कभी स्पष्ट तो कभी अस्पष्ट स्वर में। पर ऐसे जैसे कोई होश में गाता है। सुनकर पुजारी जी का मन नाच ही तो उठा जब उन्होंने पाया कि लड़की का उच्चारण स्पष्ट होता जा रहा है। नौ-दस वर्ष की बालिका और इतना मंजा हुआ स्वर! कितनी लोच थी उसकी आवाज में, मानो कोयल बोल रही हो। खड़ज और पंचम स्वरों के इस समावेश ने रंग-सा बांध दिया। उन्होंने ध्यान से लड़की की ओर ताका, और यह देखकर उनकी खुशी का पारावार नहीं रहा कि आज उसकी आंखों में नीरोग आंखों जैसी चमक थी—पागलपन की स्थिरता के स्थान पर।

"बहुत अच्छा गाती हो पुत्री।" उसके सिर को सहलाते हुए वात्सल्य जताते हुए वे बोले—"तुम्हें यह गीत अच्छा लगा?"

"हां।"

"और भी सुनाऊं?"

"हां।"

"मैंने कहा, कौन-सा गीत सुनाऊं?"

उत्तर देने की बजाय लड़की उनसे लिपट गई, और उनकी आंखों में आंखें गड़ाए बोली—"बापू!"

"बेटी," कहते हुए पुजारी जी ने नन्हे बच्चे की तरह उसे बांहों में भर लिया और माथा चूमा।

"दाता! तुझे धन्यवाद!" पुजारी जी आंखें ऊपर उठाए हुए पुकारे। उन्हें फिर अपने प्रश्न की याद हो गई। बोले—"और कोई गीत सुनेगी बेटी?"

"सु···सुनूंगी।"

"कौन-सा—बोल।"

"वही, बापू—'तू मेरा पिता···'।"

पुजारी जी ने तानपूरा छेड़ा और गाने लगे—"तू मेरा पिता तू है मेरी माता। तू मेरा बंधु···।" साथ-साथ वह भी गाने लगी और स्पष्टतया। इस बीच पुजारी जी की आखें बराबर लड़की के चेहरे पर टिकी रहीं और उसपर के हाव-भाव का निरीक्षण करती रही। और सब दिनों की अपेक्षा आज लड़की उन्हें स्वस्थ दिख रही थी—स्वस्थ और भावुक। उनके मन में प्रबल इच्छा हो रही थी उसके साथ बातें करने की। तानपूरे को अलग करते हुए वे बच्ची को सहलाने लगे। जैसे-जैसे सहलाते जाते वह बिल्ली की तरह सुकड़कर उनकी गोद में सिमटती जाती।

"बेटी!" उन्होंने पुकारा।

"बापू!" उसने उत्तर मे कहा।

"तुम मेरी बेटी हो न?"

"हां, बापू।"

"और मेरी बेटी का नाम?"

"सुनीता, बापू।"

"सुनीता?"

"हूं।"

"कितना प्यारा नाम है। अच्छा पुत्री सुनीता, मुझसे बातें करेगी न?"

"हा, बापू।" कहते-कहते सुनीता ने अपनी नन्ही बाहें पुजारी जी की गर्दन में डाल दी, पुजारी जी हर्ष के मारे उछल पड़े। उन्हे लगा जैसे सुनीता कुछ भावावेश में आ रही है। उन्हे खतरा-सा जान पड़ने लगा कि कहीं फिर से उसकी हालत बिगड़ने न लग जाए। अतः इस वार्तालाप को यहीं छोड़ने के विचार से उन्होंने और प्रश्न नहीं किया। पर उधर सुनीता एक ही सास मे इस प्रकार के वाक्यांश बोले जा रही थी:

"बापू जी! तुम···तुम वही हो।···तुम्हारा···तुम्हे···।"

पुजारी जी ने अनुभव किया, सुनीता के अन्तर मे उनके प्रति प्रश्नो की जो बाढ़-सी आ चली है उन प्रश्नों अथवा शब्दो को शृंखलाबद्ध करने की क्षमता वह नहीं जुटा पा रही है—इतनी चेतना अभी उसमें नहीं लौटी है। उसकी इस

कठिनाई को भांपते हुए वे उसे दुलारते हुए बोले—"सुनीता ! अगर तुम्हें बोलने में दिक्कत जान पड़ती है तो अभी मत बोल मेरी रानी, और तब तक तुम मेरी ही बातें सुनती चलो। शायद तुम पूछना चाहती हो कि मैं कौन हूं ? मैं तुम्हें यहां कैसे लाया ? यही न ?"

"हां, बापू", उत्तर पाकर पुजारी जी इसके बारे में संक्षिप्त रूप में व्याख्या करने लगे, और वह ध्यानपूर्वक सुनने लगी।

सब बता देने पर उन्होंने एक बार फिर सुनीता की ओर गहरे ध्यान से ताका। शायद अपने स्पष्टीकरण का प्रतिकर्म जानने को। सुनीता इस समय विचारमग्न थी, लम्बी पलकों ने उसकी आंखों के दो-तिहाई भाग ढांपा हुआ था। अतः उन्हें समझने में देर नहीं लगी कि सुनीता का मन और मस्तिष्क, दोनों ही अतीत की दुःखद यादों में खोए हुए हैं। इस स्थिति में सुनीता का अधिक दिमाग थकाना ठीक नहीं है, यही सोचकर उन्होंने चाहा कि उसे उसके बिस्तर में लिटा दें। फिर इस विचार के अपवाद में उन्होंने सोचा—पर इसे मानसिक संघर्ष की स्थिति में छोड़ देना भी तो ठीक नहीं होगा। तब वे उसकी पीठ पर, सिर पर हाथ फेरते हुए स्नेहयुक्त स्वर में बोले—"बेटी, अब ज्यादा मत सोच। जिस परमात्मा ने तेरी ज़िन्दगी बचाई है वही सब बातों में तेरी सहायता करेगा—उसी-पर छोड़ दे। इतनी छोटी उम्र में और इस कमज़ोरी की हालत में तुम्हें उलझन-दार बातें नहीं सोचनी चाहिए। और जिसे तुम बापू कहकर पुकारने लगी हो, वह तुम्हारा बापू बनकर ही दिखलाएगा। मेरा भी इस संसार में प्रभु के बिना दूसरा कोई नहीं है। अगर तेरे रिश्तेदारों को मौत ने तुझसे छीन लिया है तो मेरे रिश्तेदार जीते जी मुझे छोड़कर चले गए हैं।"

सुनीता आंखें फैलाए कुछ इस मुद्रा में उनकी ओर ताक रही थी जैसे पुजारी जी की बातें पूरे तौर से उसकी समझ में न आ रही हों। वस्तुतः पुजारी जी भावावेश में कुछ अधिक गम्भीर बातें करने लगे थे, वे भूल ही गए थे कि एक ओर वे उसे अधिक गम्भीर बातों पर न सोचने की चेतावनी दे चुके हैं और दूसरी ओर खुद ही इतनी गम्भीर बातें करने लगे हैं।

वे उठे, और बिना कुछ बोले सुनीता को ले जाकर उसके बिस्तर में लिटा दिया। सुनीता ने कोई आपत्ति नहीं की।

३७

जब तक सुनीता सोकर नहीं उठी, पुजारी जी को यही आशंका बनी रही कि कहीं फिर से उसके मस्तिष्क का सन्तुलन न बिगड जाए। पर उनकी आशंका निर्मूल सिद्ध हुई जब सुनीता के जगने पर उन्होंने उसे भली-चंगी पाया। फिर भी वे इस बात की चौकसी रखने लगे कि सुनीता को उसकी पिछली बातों की याद न दिलाई जाए।

सुनीता दिन-प्रतिदिन स्वस्थ हो रही थी—मानसिक और शारीरिक तौरसे। इस बीच पुजारी जी के बिना पूछे ही कभी-कभी वह अपने अतीत की बातें उन्हें सुनाने लग जाती। बातें चाहे बिखरे-बिखरे रूप में होती, पर पुजारी जी ने उन टुकड़ों को जोड़कर इतना तो जान ही लिया कि सुनीता 'जेहलम' नगर की रहने वाली है, उसके पिता का नाम 'रामचन्द्र' था, जिसे मार डाला गया इत्यादि। पर इतना-भर सुन लेने से पुजारी जी की जिज्ञासा नहीं मिट पाई। वे सविस्तार सुनना चाहते थे। पर चाहते हुए भी इस डर के मारे उससे कुछ पूछने का साहस नहीं कर पाते कि फिर से उसकी हालत न बिगडने लगे। वैसे उन्हें विश्वास था कि मस्तिष्क सुधर जाने पर वह खुद ही सब बता देगी।

फिर सुनीता की हालत अब धीरे-धीरे नहीं, बल्कि जल्दी-जल्दी बदलने लगी। यहां तक कि घर-द्वार का काम भी उसने अपने ऊपर ले लिया—विशेष रूप से पुजारी जी की सेवा का। वह सवेरे के सत्संग में भी भाग लेने लगी, और संगीत में भी उसकी रुचि बढ़ने लगी। सब कोई पुजारी जी की धर्मपुत्री के नाते उसे छोटी बहन मानकर उसका आदर करते थे। अब वह बातें भी खुलकर करने लगी थी।

पर सब प्रकार से ठीक हो जाने पर भी सुनीता की एक अनोखी-सी आदत थी, जिसे देखते हुए पुजारी जी को कहना पडता कि अभी तक उसमें पागलपन का कुछ न कुछ अंश बाकी है। अर्थात् वह हर समय परछाईं की तरह पुजारी जी के साथ-साथ बनी रहती। उनके मना करने पर, झिडकने पर भी एक [illegible] लिए उनसे अलग नहीं होती। चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते, [illegible] उनके दाएं-बाएं, आगे-पीछे मौजूद रहती। कहीं भूले से भी यदि पुजारी [illegible] अलग होते, शौच-स्नान को भी जाते, तो सुनीता का दिल [illegible] समझाते वे उसे कि "देख पुत्री, यह ढंग अच्छा नहीं है, [illegible]

होते हैं, और तेरे इस अनोखेपन के कारण कहीं जा-आ भी नहीं सकता। आखिर कब तक यह चलेगा ?" पर सुनीता थी कि सुनकर भी अनसुना कर देती—मानकर भी अनमाना कर देती।

कभी-कभी तो पुजारी जी मन ही मन झुंझला उठते कि यह क्या आफत उन्होंने मोल ले रखी है। फिर भी वे प्रकट तौर पर उसे प्यार-दुलार से ही समझाते—"पर नीती, (अब वे उसे इसी संक्षिप्त नाम से पुकारने लगे थे) यह तो बता कि आखिर इसकी वजह क्या है ?" और उत्तर में लड़की भिन्न-भिन्न ढंगों से 'वजह' की जो व्याख्या करती वह प्रायः इस प्रकार की होती—"बापू जी, क्या आप जानते नहीं कि शहर में रौला-रप्पा है। अगर कोई आपपर वार कर दे···इतनी भीड़ रहती है बाजारों में, कहीं धक्का-पेल में फंस गए तो ?···रास्ते में कहीं गड्ढे, कहीं कीचड़ ! अगर पांव फिसल जाए ?···" तब मन ही मन वे उसकी बेसमझी पर कुढ़ते हुए सोचते, 'किस प्रकार इस मूर्ख लड़की के मन से यह वहम निकालूं कि यदि ऐसा कोई समय आ भी बनेगा तो क्या यह नन्ही-मुन्नी बालिका मेरी सहायता कर पाएगी ?' और वे कहते—"पर घर में तो ऐसा मुझे कोई खतरा नहीं है न, बेटी। फिर यहां भी क्यों तू मेरे साथ-साथ लगी फिरती है ?" उत्तर में वह चट से कह देती—"बदमाशों-गुण्डों का क्या ठीक है, बापू ? न जाने घर में ही कोई घात लगाए छुपकर बैठ जाए।"

कितने उत्साह और प्रसन्नता से सुनीता पुजारी जी के सब छोटे-बड़े काम करती और कितनी सुघड़ता से ! इसे देखकर पुजारी जी फूले न समाते। सोचते—'यदि मेरी सगी बेटी भी होती तो क्या इतने चाव से ये सब करती ?'

अन्ततः पुजारी जी ने उस हठीली बालिका के सामने हार मान ली, वे जहां भी जाते उसे लेकर जाते। घर में रहते तो हर समय उसे 'बापू जी' के लिए कुछ न कुछ करते ही पाते, और इसी शर्त पर कि 'बापू जी' उसकी आंखों से ओझल न हों।

फसादों का बवण्डर थम चुका था। पाकिस्तान से आए हुए शरणार्थी या तो इस शहर में कोई न कोई धंधा अपनाकर बैठ गए थे या दूसरे शहरों को चले गए थे। वातावरण के शान्त होते ही मानव-मन्दिर की इमारत बनाने की योजना तैयार होने लगी। यों भी पुजारी जी के छोटे-से घर में सत्संगियों और शिष्यों की भीड़ का मिट पाना कठिन हो रहा था, जिनकी गिनती दिन-प्रतिदिन बढ़ी चली

जा रही थी।

शिक्षार्थियों में उन लोगों की नन्ही बहन यह सुनीता भी सम्मिलित रहती। उसकी तीव्र बुद्धि और संगीत-ग्राही रुचि को देखकर सब कोई मुंह में उंगली डाले सोचा करते, 'इतनी छोटी उमर और इतनी समझ!'

आरम्भ से ही पुजारी जी को शाम को लम्बी सैर करने की आदत थी। सवेरे यह उनके लिए असम्भव था, जबकि प्रभात होते ही वे शिक्षार्थियों से घिर जाते, और सत्संग का कार्यक्रम शुरू होता सो अलग। अतः सवेरे की कसर भी वे शाम को पूरी कर लिया करते। और जब से सुनीता उनके साथ जाने लगी तब से वे दो घण्टे की बजाय एक या सवा घण्टे में ही लौट पड़ते—बच्ची के थक जाने के भय से। सुनीता चाहे अब हर प्रकार से स्वस्थ थी, पर उसका शरीर अभी तक भी क्षीण था।

पुजारी जी की वह लालसा अभी तक ज्यों की त्यों बनी हुई थी—सुनीता द्वारा उसका सविस्तार जीवन-वृत्तान्त सुनने की। एक दिन वह अनायास ही पूरी हो गई।

रोज़ की भांति आज भी वे दोनों सैर को निकले। इधर कई दिन से पुजारी जी सोचा करते कि सुनीता एक विशेष उद्यान की सैर को ही क्यों पसन्द करती है। जब-जब भी वे किसी दूसरी ओर का रुख करते तो वह—जिसका हाथ उनके हाथ में रहता—हाथ छुड़ाकर उसी ओर चल निकलती और उधर ही उनसे चलने का आग्रह करती।

वह ज़मीन का एक त्रिकोण टुकड़ा था, जिसका रकबा होगा यही तीन एकड़ के लगभग। बटवारा होने के पहले वहां किसी मुसलमान ने नर्सरी खोल रखी थी, जिसमें हज़ारों की गिनती में छोटे-छोटे पौधे थे, जिन्हें सम्भवतः नर्सरी के मालिक ने बेचने के लिए लगाया होगा। बटवारे के बाद जब से रिफ्यूजी आबाद हुए, तो उन लोगों ने बड़े-बड़े वृक्षों को तो ईंधन के लिए काट-काटकर प्रायः समाप्त कर दिया था, पर वे पौधे अभी तक अच्छी-बुरी हालत में खड़े थे।

आज भी जब सुनीता पुजारी जी को नर्सरी की ओर खींच लाई तो वे उससे पूछ ही बैठे—"अच्छा, बता तो नीती, भला इस नर्सरी से तुम्हारा इतना मोह क्यों है?"

उत्तर में वह बोली—"बापू जी, बागों, नर्सरियों से मेरा बड़ा मोह है।"

और फिर इस 'मोह' के शीर्षक को लेकर उसने कितना ही कुछ सुना डाला। वे जेहलम के रहने वाले थे। सुनीता का पिता आरम्भ से ही बागवानी और नर्सरी का धन्धा करता था। जेहलम नगर के बाहर उनका इसी त्रिकोण टुकड़े जैसा और इससे कहीं बड़ा एक बाग था। इसके अतिरिक्त उसका पिता प्रतिवर्ष कई मेवेदार बागों को ठेके पर लिया करता था। अपना मकान इसने अपने उसी बाग में बना रखा था, जहां पर सुनीता, उसकी मां और उसका बाप रहते थे। कुछ मुसलमान मालियों को उन्होंने नौकर अथवा हिस्सेदार के रूप में रखा हुआ था। उन लोगों की झोंपड़ियां भी उसी बाग में थीं।

चलते-चलते वे दोनों अब उद्यान के एक कटे हुए वृक्ष के तने पर बैठ गए। पुजारी जी को जान पड़ा, आज सुनीता अपनी पिछली बातें सुनाने को लालायित है।

बैठने के बाद उन्होंने उससे पूछा—"अच्छा, तो फिर ?"

सुनीता मानो पहले से ही बताने के लिए उतावली थी। बोली—"जब जेहलम शहर में दंगा शुरू हुआ तो मुसलमान बलवाइयों का एक टोला हमारे बाग में भी आ घुसा। हमारे नौकर मुजारे चाहे मुसलमान थे, पर उन्होंने डटकर लुटेरों का मुकाबिला किया, जिससे वे भाग गए। उसके बाद जब खतरा और भी बढ़ने लगा तो हमारे आदमियों ने अपनी जानें खतरे में डालकर हमें सरकारी कैम्प में पहुंचा दिया। मेरी मां जो पहले से ही बीमार थी—हार्ट फेल हो जाने पर वहीं कैम्प में ही···।" कहते-कहते सुनीता का गला भर आया और वह आगे नहीं बोल पाई। इस साधारण-से परिवर्तन के अतिरिक्त उसमें और कोई फर्क नहीं आया, जिससे पुजारी जी को विश्वास हो गया कि अब पहले की तरह उसकी हालत बिगड़ने का भय नहीं है। अतः उनके धीरज बंधाने पर सुनीता की वह मानसिक पीड़ा जल्दी ही दूर हो गई।

पुजारी जी ने उसे दुलारते हुए पूछा—"अच्छा तो पुत्री, तेरे पिता उसी कैम्प में मारे गए या रास्ते में ?" प्रश्न करने के बाद पुजारी जी को थोड़ा पश्चात्ताप हुआ अपनी जल्दीबाज़ी पर। सुनीता पर इसकी प्रतिक्रिया कहीं बुरी तो नहीं हुई है—इस विचार से उन्होंने उसे ध्यान से ताका, पर खतरे की उन्हें कोई बात नहीं दिखी। सुनीता सहज भाव से कह रही थी—"न कैम्प में, और न रास्ते में। वे तो यहीं—अमृतसर में मारे गए। मेरे बापू को मुसलमानों ने नहीं बल्कि हिन्दुओं

और सिखों ने मार डाला।"

"आय !" पुजारी जी ने स्तम्भित होकर पूछा—"हिन्दुओं-सिखों ने ?"

सुनीता ब्यौरे से बताने लगी कि जिन दिनों वे लोग यहां पहुंचे तब तक यहां बहुत-से मुसलमान घिरे हुए थे, जिन्हें सीमा पार जाने का अवसर नहीं मिल पाया था। उन्हींको लूटने-मारने में यहा के लोग लगे थे। ऐसे ही एक मौके पर वे दोनों बाप-बेटी जब एक जगह से गुजर रहे थे तो उन्होंने देखा, हिन्दुओं-सिखों का एक बहुत बड़ा हजूम चला आ रहा है निकट रहने वाले मुसलमानों को लूटने-मारने के लिए।

सुनाने के अन्तर्गत जब सुनीता इस वृत्तांत पर पहुंची तो पुजारी जी को उसकी मुख-मुद्रा में कुछ परिवर्तन-सा दिखाई देने लगा, जैसे उसमें पागलपन के चिह्न विद्यमान हों। सुनीता को रोकने का बहाना बनाकर वे बोले—"अच्छा नीती, अब बाकी बातें घर चलकर सही। आज बहुत देर कर दी हमने।"

सुनीता शायद उनके इरादे को भांप गई थी। बोली—"आप डरिए मत, बापू जी। मैं बिलकुल ठीक हू।" और फिर उसने बताना आरम्भ किया कि उसके बाप ने आगे बढ़कर उस भीड़ को रोकने-वरजने में कुछ भी उठा न रखा, पर किसी-ने भी उसके चिल्लाने-गिड़गिड़ाने पर ध्यान नहीं दिया। अन्ततः वह भीड़ के सामने लेट गया। पर जोश मे आए हुए वे लोग फिर भी नहीं रुके। रास्ता तंग था, जो रुक गया। और हजूम इसकी कुछ भी परवाह न करते हुए उसे रौंदकर गुजर गया। उस अभागे का पिंजर हजारों पैरों तले आकर चुरमुर हो गया—हड्डी-पसली तक साबित नही रही। और उसी दुर्घटना के फलस्वरूप सुनीता अपने मस्तिष्क का सन्तुलन खो बैठी।

पुजारी जी इस करुण कथा को सुनकर द्रवीभूत हो उठे। उन्होने एक बार फिर उसी आशंका से सुनीता की ओर ताका, पर वह पूर्ववत् ही अविचलित थी। बोली—"आप नाहक में डर रहे है, बापू जी। यकीन रखिए, मैं अब पागल नहीं होऊंगी।" फिर थोड़ी देर के लिए दोनों चुपचाप बैठे रहे। सध्या की कालिमा गहरी हुई जा रही थी।

"चल बेटा," हाथ पकड़कर सुनीता को उठाते हुए पुजारी जी बोले—"जो भगवान की इच्छा।"

सुनीता रुक गई यह कहते हुए—"बापू जी, मेरा जी चाहता है कि यहां से बहुत-से पौधे ले जाकर हम अपने आंगन में रोप दें। मुझे ये बहुत अच्छे लगते हैं, बापू जी। कितना अच्छा बाग बन जाएगा कुछ ही दिनों में।"

सुनीता का यह आग्रह या अनुरोध सुनकर पुजारी जी बहुत प्रभावित हुए। उन्हें समझने में देर नहीं लगी कि अपने जन्म-जात संस्कारों के अधीन ही बच्ची के मन में यह लालसा चली आ रही है। आज उनपर इस बात का रहस्य खुला कि क्यों सुनीता हर रोज सैर के अन्तर्गत उन्हें इधर ही खींच लाया करती है। वे बोले—"बहुत अच्छी बात सुझाई तुमने नीती, मैं इन पौधों को वहां लगवा दूंगा।"

सुनकर जैसे सुनीता को नौ निधियों की प्राप्ति हो गई। खुशी में भरकर बोली—"कितना सुन्दर बाग लगेगा, बापू जी! और बापू जी! मालीगीरी का काम मुझे खूब आता है—बड़ा ही अच्छा लगता है मुझे।"

३८

जैसा कोई पात्र होता है उसीके अनुरूप उसमें पदार्थ की समाई होती है। सुनीता का जन्म कोमलता के वातावरण में हुआ था। जहां पर फूल-पौधों के साथ खेलते उसने होश संभाला, पक्षियों की उड़ानें देखते, उनके गीत सुनते उसने किशोरावस्था में पदार्पण किया। फलों से लदी शाखाओं से उसने रस और रूप ग्रहण किया। इस प्रकार के वातावरण में परवान चढ़ी किसी बालिका को यदि संगीत-रस ने अपने में डुबो दिया हो तो यह अचम्भे की बात नहीं कही जा सकती। पर इसे पा जाने पर भी जो लालसा अभी तक उसके अन्तर में निहित थी—जिसे शायद वह खुद भी नहीं जान पाई—वह भी पूरी होने लगी जब पुजारी जी के आंगन में सैकड़ों पौधे लहलहाते दिखाई देने लगे। और सुनीता इस नये शुगल में इतनी डूब गई कि उसे तन-बदन का होश नहीं रहा। मानो अपने पुनर्जीवन की भांति उसकी इच्छित बागबानी ने भी दूसरी बार जन्म लिया हो। रात में सोए-सोए भी उसकी रुचि पेड़-पौधों में टिकी रहती।

पुजारी जी का भी गृहस्थ जीवन के तौर पर एक प्रकार से पुनर्जन्म हुआ। चाहे वे निःसन्तान नहीं थे—दो बच्चों के बाप थे, पर अपने वास्तविक पिता होने का जो सुख उन्हें सुनीता को पाकर हुआ वह पहले कभी नहीं हुआ था। निजी

सन्तानों पर और उन सन्तानों की माता पर उन्हे जो आशाएं थी वे न केवल पूरी न हुई बल्कि समाप्त हो चुकी थीं। और इसीके अभाव से वे यदा-कदा उदास हो जाया करते, और कभी-कभी एक-आध निःश्वास भी भरा करते—'काश, इस दुनिया में मेरे लिए 'मेरा' कहने को कोई होता—किसीके लिए 'मेरा' कहने को मैं होता !'

प्रकृति का नियम ही कुछ ऐसा है कि मनुष्य के हृदय मे उसने जो 'मोह' की पूंजी भर रखी है उस पूंजी का कोई न कोई अधिकारी हो इसकी आकांक्षाएं उसे सदैव बनी रहती हैं। और यही अधिकारी का अभाव सदा से एक प्रकार की टीस बनकर पुजारी जी के मानस पर उठता रहता था। संयोगवश अथवा सौभाग्यवश जब से इस बालिका की उन्हें प्राप्ति हुई, उनकी वे सदैव की कसकें मिटने लगी, उन्हे जान पड़ने लगा कि अपने समूचे जीवन मे वे जिस चीज से वंचित चले आ रहे हैं वह चीज उन्हें इस बालिका के रूप में प्राप्त हो गई है। वे देख-देखकर आश्चर्य में डूब जाते कि कितना कोमल मन है इस बालिका का—कितनी गुण-ग्राही बुद्धि है इसमे कि जो कुछ भी एक बार इसे समझा दिया जाता, उसे दोबारा समझाने की उन्हें आवश्यकता नही होती। एक ही समय में सुनीता कितना ही कुछ अपने अन्तर में संजोए चली जा रही थी। एक ओर संगीत-शिक्षा का क्रम चल रहा है तो दूसरी ओर पठन-पाठन का। तिस पर उसके लिए यह तीसरी व्यवस्था जुट गई बागबानी की। और सुनीता थी कि सब कामों को अपने-अपने समय पर सभाले चली आ रही थी। सुनीता की प्रारम्भिक विद्या हिन्दी की चार कक्षाओं से अधिक नहीं थी। अब पुजारी जी द्वारा उसे हिन्दी के साथ-साथ पंजाबी भी पढाई जाने लगी।

महीनों पर महीने, फिर वर्षों पर वर्ष बीतने लगे, और इसके साथ-साथ सुनीता का मस्तिष्क और शरीर विकसित होता चला जा रहा था। फलत. पन्द्रह वर्ष की आयु तक पहुचते न पहुचते वह जहा एक उच्चकोटि की गायिका एवं वादिका बन गई वहां कवयित्री भी। न जाने कैसे और किन उद्गारो से प्रेरित हो-कर उसपर कविता करने की भी धुन सवार हो गई।

पुजारी जी चाहे कवि नहो थे, पर काव्य-रसिक तो थे ही, साथ सीमा तक काव्य-समीक्षक भी। और उनके इसी गुण के फलस्वरूप ... काव्य-गुरु बनाने के लिए किसी दूसरे का मुह नही देखना पड़ा।

३९

पन्द्रह-सोलह वर्ष की आयु में पहुंचकर लड़कियों के स्वभाव में जहां कैशोर्य का रंग फीका पड़ने लगता है वहां यौवन की घटा उनपर छाई चली जाती है। सुनीता भी अब उसी अवस्था में थी और सुनीता और सुनीता के बाग पर एकसाथ ही जवानी आई। उसकी इच्छाओं-आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए पुजारी जी ने न जाने कहां-कहां से और कई प्रकार के फूलों-फलों के पौधों को वहां पर एकत्र कर डाला, जिसके फलस्वरूप यह आंगन नन्दन-वन-सा बन गया।'

जब-जब भी सुनीता अपनी प्रिय बगीची में प्रविष्ट होती, उसके अन्तर में कविता की देवी मानो साक्षात् हो उठती। फूलों से लदा और फलों से झूमता हुआ यह उद्यान उसे संसार-भर के सुख-ऐश्वर्यों का प्रतीक दिखाई देता। उसमें उड़ते हुए पंछियों के कोलाहल में वह भी अपने को पंछी-सा अनुभव करने लगती। उन्हीं-की तरह स्वच्छन्द होकर गाने में तल्लीन हो जाती, और गीत भी वे जो उसके अपने लिखे हुए होते—कभी हिन्दी में तो कभी पंजाबी में।

सुनीता की काव्य-रचना का ढंग कुछ निराला था। जितना कुछ भी 'कविता' रूप में उसने लिखा होता उसे सबसे पहले अपने बगीचे में जाकर, फूलों, कलियों और पंछियों को सुनाती और उसके बाद संशोधनार्थ उन्हें पुजारी जी के सामने प्रस्तुत करती। पर पाण्डुलिपि के रूप में नहीं, बल्कि कण्ठलिपि के रूप में अर्थात् किसी न किसी राग में—किसी न किसी ट्यून में गाकर। वाद्यों में उसे तानपूरा सबसे अधिक पसंद था, अतः उसीके साथ गाकर सुनाती। पुजारी जी धन्य हो उठते जब अपनी धर्मपुत्री को दिन-प्रतिदिन संगीत और काव्य—दोनों कलाओं में प्रगति कर रही पाते। इस होनहार बच्ची को देखकर—इसके गुणों को पाकर उनका एक पुराना स्वप्न साकार हो उठता—'उत्तराधिकारी' बनाने का।

पंजाबी-हिन्दी की पढ़ाई समाप्त हो जाने पर पुजारी जी ने उसे संस्कृत पढ़ाना आरम्भ किया, जिसमें सुनीता खासी चल निकली। प्रमाणस्वरूप सोलहवें वर्ष का उत्तरार्ध समाप्त होने से पहले ही उसने 'मेघदूत' का अध्ययन समाप्त कर लिया। यह कृति उसे पढ़ाने में पुजारी जी के दो मनोरथ थे। एक तो महाकवि कालिदास की समस्त रचनाओं में यह सबसे छोटी और सरल थी, दूसरे, वे यह भी चाहते थे कि इसके द्वारा सुनीता को भारत की प्राचीन काव्यकला का विशेष ज्ञान हो जाए।

पठन-पाठन के साथ-साथ सुनीता की तर्क-शक्ति भी उभरने लगी थी। वह जब भी पुजारी जी को अवकाश मिला देखती, काव्य, नाटक अथवा संगीतकला के किसी न किसी विषय को लेकर उनसे माथापच्ची करने लग जाती।

जाड़ा बीत रहा था। वसंत ऋतु की मादक हवाएं कलियों के मूंदे हुए होंठों को विकसित करने लगी थीं। सुनीता की फुलवारी—जो जाड़े ने रुण्ड-मुण्ड बना दी थी—नये सिरे से पल्लवित हो रही थी।

अब सुनीता को सैर-तफरीह के लिए कहीं बाहर जाने की कम ही जरूरत रह गई थी। उसे हजारों सैरों से बढ़कर आनन्द और सन्तोष मिलता, जब वह अपनी बगीची की रविशों पर घूमते हुए पुस्तक पढ़ने अथवा कोई गीत गाने या रचने में तल्लीन होती।

रोज की तरह आज भी वह शाम होते ही एक पुस्तक हाथ में थामे बगीची में जा निकली—वह मेघदूत की प्रति थी। एक क्यारी की हरी दूब पर बैठकर उसके पृष्ठों में वह खो-सी गई। तभी पुजारी जी वहां आ निकले जिन्हें देखकर वह उठ खड़ी हुई और बोली—"बापू जी, आपकी बड़ी लम्बी उम्र है; अभी-अभी आपको ही याद कर रही थी।"

पुजारी जी हंसते हुए उसके पास बैठ गए—"अरे पगली! अब और कितनी लम्बी उम्र करना चाहती है। क्या सत्तर वर्ष ही कम हैं मेरे लिए?"

सुनकर सुनीता की मुद्रा पर उदासी-सी छा गई। वह मीठी घुड़की में बोली—"बापू जी, ऐसी बात करेंगे तो मैं आपसे कभी नहीं बोलूगी।"

बच्ची पर उदासी का रंग देखकर पुजारी जी ने बात बदली—"हां, किस लिए वक्त मांगा था सवेरे तुमने? आज तो दिन-भर आश्रम की योजना में उलझा रहा।"

सुनीता की मुख-मुद्रा बदल गई। बोली—"मुझे कालिदास के बारे में कुछ पूछना है, बापू जी। तभी तो याद कर रही थी आपको।"

"तो पूछ जो पूछना है। फिर मुझे किसी काम से जाना है।"

सुनीता ने पुस्तक के कुछ पन्ने इधर-उधर उलटाए, फिर बोली—"सोचती हूं, यह कालिदास भी अजीब किस्म का कवि है, बापू जी, जिसकी रचना में शृंगार रस के अलावा दूसरा कोई रस देखने को भी नहीं मिलता है। क्या दूसरे आठ रसों का प्रयोग न करने की उसने सौगंध खाई हुई है?"

पुजारी जी बोले—"जहां तक मेघदूत का सम्बन्ध है, ठीक ही उसने इस शृंगार रस को प्रधानता दी है, पर इसका यह मतलब नहीं कि कालिदास की दूसरी रचनाएं भी ऐसी ही हैं। असल बात यह है कि कालिदास को 'प्रकृति' का कवि माना जाता है। प्राकृतिक सौन्दर्य का निरूपण करने में उसका सानी कोई नहीं है, और इस 'मेघदूत' में भी तो उसने इसका कुछ कम बखान नहीं किया है।"

"सो तो पढ़ ही चुकी बापू जी।" सुनीता बोली—"पर यहां तो प्रकृति के वर्णन में भी वही शृंगार का ही पुट दिखाई देता है।"

"सो तूने ठीक ही कहा बेटा, पर मेघदूत की कहानी ही कुछ ऐसी है कि उसके सब भागों में शृंगार ही प्रधान है। पर कालिदास के दूसरे ग्रन्थों में जो प्रकृति-वर्णन आया है वह दूसरे प्रकार का है।"

सुनीता ने यह सब पूरे ध्यान से सुना, पर इससे सन्तुष्ट न होकर वह नये से नया प्रश्न करने लगी, जिनके उत्तर में पुजारी जी यथाशक्ति उदाहरण-प्रमाण देते चले गए। और इन्हीं प्रश्नोत्तरों में जब रात हो गई तो पुजारी जी को अपने काम की याद आई। वे हंसकर बोले—"भई तू तो कौवे की जीभ खाकर जन्मी है, मुझे अब छुट्टी दे। बाकी बातें फिर सही।"

और दोनों उठकर घर में प्रविष्ट हुए।

४०

पार्थी ग्राउण्ड का मैदान बहुत खुला था, जिसके चारों ओर पक्की सड़कें थीं। पहले से ही वहां पर यदा-कदा नाटक कम्पनियां और कार्नीवाल आकर खेल-तमाशे दिखलाया करते थे।

अंततः इमारत का काम प्रायः डेढ़ वर्ष में सम्पन्न हुआ, और तत्पश्चात् एक समारोह में पुजारी जी के हाथों उसका उद्‌घाटन किया गया। नगर के बड़े-बड़े धनाढ्यों के अतिरिक्त कई संगीत-प्रेमी भी मैनेजिंग कमेटी के सदस्य थे और इसके अध्यक्ष थे पुजारी जी। उम्र उनकी सत्तर के लगभग और शरीर कमज़ोर होने के कारण उनपर कामकाज का अधिक बोझा नहीं डाला जा सकता था। दूसरे सभी काम उनके सहकारियों-शिक्षकों के ज़िम्मे लगाकर उनपर केवल शास्त्रीय संगीत की बड़ी कक्षाओं के दो-एक पीरियड ही रखे गए। जब कभी कोई मीटिंग बुलाई

जाती उसमे उनकी उपस्थिति आवश्यक थी।

अब पुजारी जी के शिष्यों की गिनती बहुत बढ़ चुकी थी, और उन्हींमें से कुछएक को आश्रम के अध्यापक नियत कर दिया गया। फिर भी इस काम के लिए कई कलाकारों को बाहर से भी मगवाना पड़ा, जिनके क्वार्टर उसी आश्रम की चारदीवारी मे थे। इच्छा तो सबकी यही थी कि पुजारी जी भी वही टिकें, जो उन्हे प्रतिदिन के आने-जाने का खटराग न रहे, पर वे इससे सहमत नही हुए। कारण? उनकी धर्मपुत्री अपने बगीचे से सम्बन्ध-विच्छेद किसी भी कीमत पर स्वीकार नही कर सकती थी, जिसकी शोभा एवं सुन्दरता दिन-प्रतिदिन बढ़ी जा रही थी, जिसके फलों-फूलों को देखकर सब किसीका मन मुग्ध हो उठता था।

इस समय तक पुजारी जी को ख्याति दूर-दूर तक फैल चुकी थी और केवल संगीताचार्य के तौर पर ही नही, एक महान् पुरुष, एक सच्चे मानव-पुजारी होने से। गत फसादो के दिनो मे जिस प्रकार उन्होने प्राणपण से शरणार्थियों की सेवा की थी, वह किसी महापुरुष ही का काम था। विशेषतया जिस प्रकार उन्होंने एक अनाथ और मरणासन्न बालिका को शरण देकर उसे सगीत इत्यादि विद्याओं से भूषित करके प्रतिभाशालिनी बना दिया, इसे कौन नहीं जानता था।

जब से आश्रम अपने स्थायी मकान मे चला गया तभी से सुनीता ने भी अपने कार्य-भार को संभाला। आश्रम मे स्त्रियों की सिखलाई का विभाग अलग था, जिससे छात्राओ को सिखलाने के लिए भी स्त्रियों की आवश्यकता थी, अत. सुनीता इस काम में किसीसे पीछे नहीं रही। अब उसका अधिक समय आश्रम मे ही व्यतीत होने लगा। एक तो मंजी हुई कलाकार, दूसरे, गुरुदेव की धर्मपुत्री के नाते सब किसी के मन में उसके लिए उच्च स्थान था। इसके अतिरिक्त उसका व्यक्तिगत प्रभाव भी कुछ कम आकर्षक नही था।

आश्रम का निजी थियेटर-हाल अभी तक पूरे तौर से तैयार नही हो पाया था, जिससे जब कभी कोई नाटक स्टेज करने की ज़रूरत पड़ती तो शहर के प्रसिद्ध थियेटर 'टैम्प्रेंस हाल' को प्रयोग में लाया जाता।

'शकुन्तला' नाटक रंगमच पर खेलने की तैयारी हो रही थी, जिसमे 'शकुन्तला' की भूमिका सुनीता को दी गई। उसके लिए मुख्य नायिका के रूप में स्टेज पर आने का चाहे यह पहला ही अवसर था, पर उसे अपनी सफलता की पूरी आशा थी, जो अन्ततः यथार्थ सिद्ध हुई। इसका विशेष कारण कदाचित् यही था

कि इस नाटक में शकुन्तला के पिता 'कण्व ऋषि' का रोल पुजारी जी ने किया और शकुन्तला की सखियों प्रियंवदा, अनसूया इत्यादि का भूमिकाएं सुनीता की छात्राओं को मिली थीं। 'दुष्यन्त' की भूमिका प्रोफेसर भठनागर ने ली, जो महाराष्ट्र के संगीत विद्यालय का शिक्षार्थी था और अब इसी आश्रम में काम कर रहा था।

शकुन्तला चाहे आज से लगभग बीस शताब्दी पूर्व का लिखा हुआ नाटक है, पर प्राचीन होने पर भी नाटक-संसार में इसकी महानता आज तक वैसी ही चली आ रही है। हज़ारों बार खेला जा चुका होने पर भी इसकी ताज़गी में कोई अन्तर नहीं आया है। अमृतसर की इस रंगभूमि पर इसे जिस कुशलता और नये-पन से खेला गया उसने तो सोने में सुगन्धि भर दी। अर्थात् इसके मूल (संस्कृत) श्लोकों को एक तो पुजारी जी ने आधुनिक ट्यूनों में ढालकर प्रस्तुत किया, दूसरे, साथ-साथ उन्हीं श्लोकों का पंजाबी कविता में रूपान्तर करके पंजाबी दर्शकों के लिए और भी आकर्षक बना दिया गया। पंजाबी जनता के लिए यह एक अनोखा आविष्कार था।

इस प्रकार पुजारी जी और सुनीता के एक्टिंग और गान ने जो रंग बांधा उसे देख-सुनकर दर्शकों को यह 'नाटक' न होकर वास्तविकता ही जान पड़ा, विशेषतया उन दोनों की आंखों में से सचमुच के आंसुओं की धाराएं बहती देखकर।

वस्तुतः यह नाट्य-प्रदर्शन एक विशेष मनोरथ से किया गया था—अर्थात् बन रही नाट्य-शाला के लिए धन एकत्र करने को।

उत्तरोत्तर पांच दिन तक यही नाटक टैम्प्रेंस हाल में चलता रहा। अन्तिम दिन जब पुजारी जी ने अपने मनोरथ का प्रगटाव करते हुए दर्शकों के सम्मुख थियेटर-हाल की आवश्यकता पर बल देते हुए मार्मिक शब्दों में अपील की तो उपस्थित लोगों ने धड़ाधड़ रुपया देना आरम्भ कर दिया, जिसके फलस्वरूप टिकटों की बिक्री के अतिरिक्त—जो अब तक चार हज़ार तक पहुंच चुकी थी—इतनी ही रकम अनुदान के रूप में इकट्ठी हो गई। पर जितने रुपये की आवश्यकता थी उसकी तुलना में सब मिलाकर उसका पचास प्रतिशत ही जुट पाया।

नकदी के अतिरिक्त श्रमदान के रूप में भी कुछ लोगों ने अपनी-अपनी सेवाएं प्रस्तुत कीं, जिसका आरम्भ सुनीता द्वारा हुआ, जब उसने खड़े होकर संक्षिप्त शब्दों में कहा,

"···मैं एक रिफ्यूजी हूं, जिससे अपने धर्मपिता की अपील के उत्तर में नकदी

के तौर पर कुछ नहीं दे सकती, पर जो कुछ मेरे पास है, यदि आप लोग उसे स्वीकार कर लें तो मैं अपने को धन्य समझूंगी।"

और तब उसने बताया :

"अपने धर्मपिता और गुरुदेव के अनुग्रह से मुझे 'संगीत' के रूप में जितना कुछ प्राप्त हुआ है, उसीको इस महान कार्य में अर्पण करने की मेरी इच्छा है। मुझे विश्वास है कि टयूशनो द्वारा मैं हर महीने कुछ न कुछ कमा सकूंगी और उस कमाई को तब तक इस कार्य में देती रहूंगी जब तक कि नाट्यशाला की इमारत पूरे तौर से तैयार नहीं हो जाती।"

सुनीता के इस प्रस्ताव को न केवल स्वीकार ही किया गया, बल्कि इससे प्रभावित होकर दूसरे भी कई स्त्री-पुरुषों ने उसका अनुकरण किया।

४१

अमृतसर को पंजाब-भर में संगीत का केन्द्र माना जाता है, जिसकी बुनियाद सम्भवतः सिख गुरुओं के समय में रखी गई थी। गुरु नानक जी ने सबसे पहले धर्म-प्रचार के लिए संगीत को मुख्य साधन बनाया, जिसका प्रमाण इसीसे मिलता है कि उनका बालसखा 'भाई मरदाना'—जो जाति का मुसलमान डोम होने से जन्मजात कलाकार था—जीवन-पर्यन्त उनके साथ रहा, और अपने रबाब (पंजाब व सीमान्त प्रदेश का एक विशेष तन्तुवाद्य) द्वारा उनकी रचित वाणी को गा-गाकर पंजाब के अतिरिक्त काबुल, कन्धार और गजनी तक में 'नानक मत' के प्रचार में तल्लीन रहा।

उसी 'भाई मरदाना' के वंशधर—जिन्हें 'रबाबी' कहा जाता है—शताब्दियों से अमृतसर में सैंकड़ों परिवारों के रूप में बसे चले आ रहे थे, जो शहर का एक विशेष भाग 'चौक पासीया' में आबाद थे। यहा के 'स्वर्ण-मन्दिर' में परम्परागत रूप में इन रबाबियों द्वारा शब्द-कीर्तन का प्रवाह चलता था। पर अकाली लहर के ज़ोर पकड़ने पर इस प्रथा को समाप्त कर दिया गया। इसीके फलस्वरूप आरम्भ से ही यहा के निवासियों को संगीत से उन्स थी। सिख सम्प्रदाय में जितने भी बड़े-बड़े सिख अथवा हिन्दू संगीतज्ञ हुए हैं, किसी न किसी रूप में रबाबियों द्वारा ही उन्होंने संगीत-विद्या ग्रहण की।

यहां की हिन्दू जनता का पहले-पहल इस ओर कम ही ध्यान था, पर जब से यहां के दुर्गयाना (शीतला मन्दिर) में संगीत-सम्मेलनों की प्रथा चली, तब से ये लोग भी रुचि लेने लगे। फिर जब से यहां के स्वर्णकार, भगत रामप्रकाश (अब पुजारी जी) और उनके गुरुभाई लाला गुरुसहाय ने इस दायित्व को संभाला तब से तो हिन्दुओं में इसका शौक अधिक बढ़ने लगा। विशेषतया इधर जब से यहां संगीत-आश्रम की नींव पड़ी तब से तो इस शौक को और भी बढ़ावा मिला। पहले यदि इसमें हिन्दू ही शामिल थे तो फिर सिखों का भी इधर रुझान बढ़ने लगा। कदाचित् इस कारण कि बंटवारे के बाद रबाबियों के सब परिवार (मुसलमान होने के कारण) पाकिस्तान चले गए थे, जिससे संगीत-प्रेमी सिखों को इसी ओर आकर्षित होना पड़ा।

यही कारण था कि सुनीता को ट्यूशनें मिलने में कुछ भी दिक्कत नहीं हुई, और इतनी बहुतायत में मिलने लगीं कि उसके लिए संभालना कठिन हो गया। कुछ तो छात्राओं की कमी नहीं थी, कुछ सुनीता का प्रभाव ही ऐसा था।

अब वह दिन-भर साइकल पर सवार, यहां से वहां, वहां से यहां भागी फिरती और इस परिश्रम से जितना कुछ कमाती प्रति मास इमारत फंड में दे देती।

इतनी व्यस्त रहने पर भी वह पुजारी जी के प्रति अपने कर्तव्यों की ओर से कभी भी उदासीन नहीं रहती थी। अतः जब उसने देखा कि ट्यूशनें बढ़ जाने से पुजारी जी के सेवा-कार्य में बाधा पड़ने लगी है तो उसे कुछ ट्यूशनों को छोड़ देना पड़ा।

पुजारी जी चाहे वृद्ध होने के कारण अब पहले जैसे सक्रिय नहीं थे, फिर भी यथाशक्ति वे अपनी क्रियासाधना में कभी शिथिल नहीं हुए। प्रभात-जागरण और प्रभात-स्नान-क्रम पहले ही की तरह चलता, आश्रम में अधिक नहीं तो एक पीरियड वे अवश्य ही लिया करते। इसके अतिरिक्त शाम की सैर भी उन्होंने पूर्ववत् ही जारी रखी, चाहे अब पहले की तरह सुनीता उनका साथ नहीं दे पाती थी। फिर समय बचाने के लिए उन्होंने सैर और पीरियड का एक ही समय निश्चित कर दिया। जैसे ही शाम की सैर से लौटते सीधे आश्रम को चल देते और रात के नौ-दस बजे से पहले नहीं लौटते। कभी-कभी तो इससे भी अधिक देर करके।

सुनीता को चाहे कितना ही ज़रूरी काम क्यों न हो, पुजारी जी के लौटने से पहले वह अवश्य ही घर पहुंच जाती। रसोई का काम करने को चाहे रसोइया

मौजूद था, पर सुनीता की यही इच्छा रहती कि यदि पकाकर नही तो परोसकर तो वह उन्हें खिलाए ही।

इसीके अन्तर्गत एक रात जब सुनीता घर पहुंची तो उसने पुजारी जी को पहले से ही वहा पाया। वह जानती थी कि बिना बीमारी के वे कभी भी सैर अथवा अपनी ड्यूटी का क्रम नही तोडते। पुजारी जी का चेहरा कुछ उतरा देखकर वह कुछ घबराई,

"आप जल्दी ही लौट आए, बापू जी, तबियत तो ठीक है?"

"तबियत तो ठीक ही है बेटी, पर आज जरा मन भारी है।"

"मैं तो आपका चेहरा देखकर ही समझ गई कि आज आप किसी चिन्ता में डूबे हुए हैं। बताइए तो, बात क्या है?"

पुजारी जी ने बिना हेर-फेर के कह दिया—"तुमने ठीक समझा बेटा। सच ही आज मैं चिन्तित हूं और वह भी तेरी वजह से।"

"मेरी वजह से, बापू जी? क्या मुझसे कोई भूल हुई है?

"ऐसा नही पुत्री—दूसरी ही बात है।"

"तो अब ज्यादा उलझन मे न डालिए मुझे। जो कुछ भी है, एक ही सास में बता दीजिए। मेरा दिल डूबा जा रहा है।"

"पगली बेटी!" पुजारी जी का ममतायुक्त हाथ उसके सिर पर आ टिका—"ऐसे घबराने की कोई बात नही है, मेरी रानी। तेरे भविष्य के बारे में पिछले कई दिनों से मन मे न जाने कैसे-कैसे खयाल पैदा हो रहे हैं। पर आज तो कुछ ज्यादा ही। इसीलिए जल्दी लौट आया कि दिल का बोझ हल्का कर लू, तुझे सब बताकर।"

और बताने से पहले उन्होने सुनीता से एक प्रश्न किया—"अच्छा, यह तो बता मीती, कि तेरा कोई दूर-निकट का रिश्तेदार भी है कहीं पर?"

सुनीता चकित हो उठी इस अनोखे प्रश्न को सुनकर। क्या पुजारी जी उससे ऊब गए हैं? क्या वे उसे उसके किसी सम्बन्धी के हवाले कर देने की बात सोच रहे हैं? बोली—"दूर के भी और निकट के भी, मेरे रिश्तेदार तो आप ही हैं बापू जी और या भगवान हैं, दूसरा कोई नहीं है। पर यह आप क्यों पूछ रहे हैं?"

"सुन ध्यान से।" वे और भी गम्भीर होकर बोले—"तुम अगर अपना सब कुछ मुझे ही समझती हो तो मेरा भी तो तेरे सिवा इस ससार में दूसरा कोई नहीं

है, और जो कोई थे भी, तो उनके बारे में तुम्हें सब बता ही चुका हूं। तुम जानती हो कि नाम को मैं दो पुत्रों का बाप हूं, जो मेरे रक्त-मांस से बने हैं, पर रक्त-मांस का रिश्ता उन्होंने नहीं निभाया है। इधर तुम मेरी आत्मा की उपज हो। तुम्हें समझ लेना चाहिए कि खून के रिश्ते से रूहानी रिश्ता कितना महान होता है, कितना पवित्र और कितना चिरस्थायी! आदमी के शरीर से खून निकल जाए फिर भी किसी अंश तक उसके जीने की आशा हो सकती है। पर जिसके शरीर से आत्मा निकल जाए वह तो एक क्षण के लिए भी जी नहीं सकेगा।

"जब तक पुत्री, तुम बच्ची थीं मैंने इसके बारे में चिन्ता नहीं की थी। यों तुम अब भी मेरी नजरों में दुधमुंही बच्ची ही हो, पर वास्तव में तुम अब इतनी छोटी नहीं हो कि तुम्हारे भविष्य के बारेमें मुझे सोचने की जरूरत न हो। 'बेटी' न होकर अगर तुम 'बेटा' होती तो शायद मुझे ऐसी बातें सोचने की ज़रूरत न पड़ती, पर'''पर मेरी बच्ची, ज़माना खराब है। कभी-कभी इसी बात को लेकर मेरा मन गोते खाने लग जाता है कि जब आंखें मूंद जाऊंगा तब तेरा क्या होगा। अब तेरी ब्याह-शादी की उम्र है बेटी। इधर कई दिनों से कुछ लोग मुझसे इस बारे में पूछताछ भी करने लगे हैं। शहर में अच्छा रसूख रखता हूं। चाहूं तो तेरे लिए कोई न कोई सुपात्र ढूंढ़ ही सकता हूं। पर सोचता हूं इस बारे में तेरे विचार भी तो जान पाऊं। मुझे आशंका है कि इस मामले में तुम खुलकर बात नहीं करना चाहोगी। पर मैं आग्रह करता हूं कि तुम्हें इस बारे में मुझे बताना ही होगा। आज नहीं, कल, कल नहीं परसों, जब भी तेरा मन चाहे।"

उत्तर में सुनीता ने जो कहा इसे सुनने की अभिलाषा चाहे उन्हें कितनी भी हो, पर ऐसी आशा वे नहीं करते थे कि इतने निस्संकोच और सरल भाव से सुनीता उनके सामने मन पलट देगी। वह बोली—"इतनी-सी बात के लिए मैं आपको चिन्ता में पड़ा रहने दूंगी बापू जी, यह कैसे हो सकता है? आपके उत्तर में मुझे जो कुछ भी, जितना कुछ भी कहना है, अभी कह डालती हूं, इसमें मुझे कुछ भी संकोच नहीं होगा।"

"शाबास!" पुजारी जी ने उसका कंधा थपथपाते हुए कहा—"तुम मेरी आशा से कहीं बढ़कर निकलीं, नीती।"

सुनीता और भी प्रोत्साहित होकर बोली—"तो सुन लीजिए मेरा उत्तर। पहली बात तो यह है कि जब आपका साया मेरे सिर पर मौजूद है, मैं भूलकर भी

'ब्याह-शादी' का नाम नहीं लूंगी, चाहे मुझे आपके किसी आदेश की अवज्ञा ही क्यों न करनी पड़े। क्या मैं नहीं जानती बापू जी, कि मैं आज जो कुछ भी हूं यह सब आप ही की बनाई हुई हूं। आपने मुट्ठी-भर मिट्टी को लेकर उसे सोने की डली बनाया, क्या मैं इससे अनजान हूं? पर आप भूलते हैं, अगर सोचते हैं कि सुनीता इतनी कृतघ्न भी हो सकती है जो इस ऋण का कुछ अंश चुकाए बिना ही यहां से चली जाएगी। अगर आप मुझे धक्का ही देना चाहते हों तो बेशक दे दीजिए। आप चाहे जिसके हाथ मुझे सौंप दीजिए, पर आपकी सुनीता उस हालत में जीती रह सकेगी, इसकी गारण्टी मैं आपको नहीं दे सकूंगी।"

पुजारी जी का वात्सल्य अधीर हो उठा। उसे आलिंगन में लेते हुए—आंखों से आंसू टपकाते हुए वे गद्गद कण्ठ से कुछ बोलने का प्रयत्न करने लगे, पर सफल नहीं हो पाए।

सुनीता उसी आवेश मे कहे जा रही थी—"मुझे अभी कुछ और भी कहना है बापू जी। आप शायद सोचते होंगे कि सुनीता राजरानी बनने के स्वप्न लिया करती होगी। पर मैं आपसे सच कहती हू कि मुझे स्वप्न बहुत कम आते हैं, और जो कभी आते भी हैं तो एक ही तरह के कि मैं अपने बापू जी की वैसी ही उत्तराधिकारिणी बन पाऊं जिसकी वे मुझपर आशा लगाए बैठे हैं। फिर भी एक बात स्पष्ट कहे देती हूं कि अगर कभी अपना जीवन-साथी ढूंढने की मुझे जरूरत पड़ गई तो ऐसा ढूंढना चाहूंगी जो मेरे बापू जी मे उतनी ही श्रद्धा रखता हो जितनी मैं रखती हूं। बस, मुझे इससे अधिक कुछ नहीं कहना है।"

पुजारी जी के होठों पर मुस्कान दौड़ गई—"पगली! तेरी यह इच्छा तो आकाश के फूल सूंघने जैसी है। तेरे जैसा या तेरे जैसे दिलवाला तो कोई वही बन सकता है जो तेरे ही जैसी परिस्थिति मे से गुज़र चुका हो। फिर भी यह बात विश्वास करने योग्य नहीं है कि उन परिस्थितियों में से गुजरकर भी कोई तेरे जैसा बन पाएगा। इसका तो यही मतलब ठहरा कि···।" और यहां पहुंचकर पुजारी जी रुक गए, पर सुनीता ने इन शब्दों से उनका वाक्य पूरा कर दिया—"बेशक, इसका यही मतलब है कि मुझे तब जिन्दगी-भर कुमारी ही रहना पड़ेगा। यही कहना चाहते हैं न आप?"

पुजारी जी पहले तो निरुत्तर-से हो गए, फिर बोले—"इतनी लम्बी डींग नहीं हांकते बेटा।"

"डींग ?" वह तुनककर बोली—"बेशक यह बहुत बड़ी डींग है बापू जी, और शायद सम्भावना की सीमा से बाहर भी, पर जिसे मेरे बापू जी का आशीर्वाद प्राप्त हुआ हो उसके लिए तो कुछ भी असम्भव नहीं है।"

"तुम भूलती हो पुत्री—बिल्कुल बचकानी बात है यह तुम्हारी। जीवन का पथ बहुत लम्बा और बहुत ही ऊबड़-खाबड़ है। विशेषतया हमारे देश की लड़कियों को तो इस सफ़र में कदम-कदम पर अपने हमसफर की ज़रूरत होती है, तुम्हें इस सत्य को आंखों से ओझल नहीं करना चाहिए।"

"यह सब आप मुझी पर छोड़ दीजिए, बापू जी! और जो आप 'हमसफर' की बात करते हैं तो वह आपने पहले से ही मुझे दे रखा है—'संगीत' के रूप में।"

उत्तर में पुजारी जी से कुछ भी कहते नहीं बना। वे टुकुर-टुकुर सुनीता की ओर ताके चले जा रहे थे।

४२

"समय का अश्वारोही प्रतिवर्ष अपने घोड़े की रकावें बदलकर आता है। जिस वर्ष उसकी रकावें लोहे की हों उसका अर्थ होता है देश में जंग छिड़ेगी। पत्थर की हों तो अकाल पड़ने की सूचना समझी जाती है, और यदि सोने की हों तो खूब अच्छी फसल होने की सम्भावना मानी जाती है।"

ये वाक्य 'अरस्तू' के हैं। इनमें कहां तक तथ्य है, इसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। पर यदि हम इसे मान लें तो कहना नहीं होगा कि गत सन् १९४७ में जब उपर्युक्त अश्वारोही इस देश में पधारा था तो उसके घोड़े की रकावें या तो आग की बनी थीं अथवा मानवीय हड्डियों की। और उससे सात-आठ वर्ष पश्चात् जब वही सवार फिर यहां प्रविष्ट हुआ तो उसकी रकावें शायद विष से बनी हुई थीं।

सन् सैंतालीस के तांडव का जन्म साम्प्रदायिकता की कोख से हुआ था। और अब के जो एक नई आफत इस देश में विशेषतया पंजाब प्रान्त की सुख-शान्ति को हड़पने के लिए मुंह खोले चली आ रही थी इसकी मां चाहे तो वही साम्प्रदायिकता थी, पर बाप—जो एक नहीं दो थे—'पंजाबी सूबा' और 'महा पंजाब' नामों से पुकारे जाते थे।

पूरे दो वर्ष—सन् १९५५-५६ से पंजाब की धरती में यह विष का पौधा पनपता चला आ रहा था, जिसके फलस्वरूप पंजाब में बसने वाले हिन्दू और सिख एक-दूसरे के विरुद्ध भीतर ही भीतर घृणा को पाल रहे थे, और 'तिल का ताड़' बनाकर अर्थात् 'भाषा' की बात को लेकर।

जंगल में जब दावानल धधक उठती है तो पशु-पंछी से लेकर चींटियां तक सब उसकी लपेट में आ जाया करते हैं। वही हालत इन दिनों पंजाब की थी। आग लगाने वाले मजे से दूर खड़े यहां की जनता को हलाशेरी दे-देकर एक-दूसरे के विरुद्ध भड़का रहे थे, और अंधे पंजाबी बिना सोचे-समझे उन लोगों के पीछे चलते हुए अपनी मूर्खता को प्रमाणित कर रहे थे, जिसकी प्रतिक्रिया से यहां की वे संस्थाएं भी इस दावानल की उष्णता से नहीं बच पाईं जिनका किसी भी सम्प्रदाय से सम्बन्ध नहीं था—जो केवल विद्या अथवा कला के विकास के मनोरथ से चलाई जा रही थी।

अमृतसर के जिस संगीत-आश्रम का कला-प्रेमियों ने, जिनमें हिन्दू और सिख समान रूप में सम्मिलित थे, गत वर्षों के निरन्तर पुरुषार्थ और पुजारी जी की प्रेरणाओं द्वारा स्थापित किया था, वह भी साम्प्रदायिक भूत-मण्डली के प्रकोप से सुरक्षित नहीं रहा। इसके संचालकों में भी हिन्दू-सिख का प्रश्न पैदा होने लगा। फलतः दिनोंदिन आश्रम की हालत डावाडोल होने लगी।

मन जब बदल जाते हैं तो मनमानी करने के लिए बहाना-तराशियों की कमी नहीं रहती। बदले हुए मन वाला पति अपनी पत्नी को इसके लिए भी दोषी ठहरा सकता है कि आटा सानते समय वह सिर क्यों हिलाती है। आश्रम के बारे में भी इसी प्रकार के दोषारोपण एक-दूसरे पर होने लगे। सिखों का कहना था, 'इस काम में जब कि उन्होंने भी चन्दे दिए हैं तो फिर क्या कारण है कि मैनेजिंग कमेटी में उनके मेम्बर कम और हिन्दुओं के अधिक हैं?' दूसरी ओर से 'नहले पर दहला' मारने की क्रियाएं की जातीं—'जब रुपया दुगने-तिगने से भी अधिक उन्हींका लगा है तो फिर क्यों न उन्हें इसके संचालन-कार्य में हर प्रकार का अधिकार हो?' इस तू-तू, मैं-मैं के फलस्वरूप सिख लोग इस आश्रम से अलग होने लगे। यहां तक कि शिक्षार्थियों में भी यही कौमी जोश जाग उठा।

इस प्रकार की मूर्खता को देखते हुए पुजारी जी इन दिनों बहुत दुखी रहने लगे थे। वे इस प्रकार की गलतफहमियां दूर करने का भरसक प्रयत्न करते, पर

उनकी कोई नहीं सुनता। सुन भी कैसे सकते थे, जबकि 'धर्म की रक्षा' का जनून सबके सिर पर सवार था। मामला यहां तक बिगड़ा कि जिन लोगों की निष्पक्षता और सेवा-भाव पर पूरा-पूरा विश्वास था वे भी मेंढकों की पंसेरी बनकर रह गए।

पुजारी जी के लिए सबसे बड़ी समस्या थी नाट्यशाला के निर्माण-कार्य की, जो उनके और सुनीता के प्रयत्नों के फलस्वरूप अब सम्पन्न ही होने वाला था, जिसके लिए अब थोड़े ही रुपये की और आवश्यकता थी। और इस काम में विघ्न जो पड़ा तो एक साधारण-सी बात को लेकर नाट्यशाला के नामकरण के बारे में।

पुजारी जी के मतानुसार हाल का नाम 'कला-भवन' स्वीकार किया जा चुका था, पर बाद में दोनों पक्षों द्वारा इसपर विवाद उठ खड़ा हुआ। एक पक्ष का कहना था कि नाम होना चाहिए 'हिन्दी कला-भवन' और दूसरे पक्ष वाले चाहते थे कि इसकी बजाय 'पंजाबी कला-भवन' होना चाहिए।

किसी सार्वजनिक भवन के नामकरण के बारे में मतभेद होना बुरी बात नहीं समझी जाती है। पर जिन लोगोंके भेजे में साम्प्रदायिकता का गोबर भरा हो उनकी सूझ-बूझ भी तो निराली ही रहती है। यही कारण था कि नामकरण की इस तुच्छ-सी बात को लेकर पहले विरोध का चक्र चला, फिर विरोध 'वैर' में बदलने लगा। अब तो खुले-बन्दों एक-दूसरे पर आक्षेप किए जा रहे थे—"सब लुटेरे इकट्ठे हुए हैं" "हम ऐसा हर्गिज नहीं होने देंगे" "अरे, हमें ऐसे बकवासियों की क्या परवाह है" "हम मुकदमा लड़ेंगे" "हम देख लेंगे उन बड़े मुकदमाबाज़ों का दम-खम—।"

और इसका परिणाम हुआ कि रंगमंच का काम वहीं पर ठप्प हो गया।

कितना असह्य सदमा पहुंचा पौन शताब्दी की आयु वाले उस मानव-स्नेही के मन को, इसका अनुमान दूसरा कोई चाहे न लगा सके, पर सुनीता इससे अनजान नहीं थी। सुनीता को पुजारी जी ने वे सब बातें एक-एक करके सुना रखी थीं, जो उनके गुरुदेव पंडित विष्णु दिगम्बर द्वारा उन्हें कही गई थीं, जिनके द्वारा उन्हें पंजाब को फिर से 'देवभूमि' बनाने का साग्रह आदेश मिला था। और इन्हीं आदेशों की पूर्ति में पुजारी जी ने अपनी उम्र के प्रायः आधे वर्ष व्यतीत किए थे, और अभी तक भी आशा लगाए बैठे थे मृत्यु के पहले इसमें सफलता पाने की, पर इसके प्रतिकूल आज वे क्या देख रहे थे—पंजाब को 'देवभूमि' के रूप में या

'दैत्यभूमि' के रूप मे ?

जब-जब भी सुनीता की नजर उनके मुर्झाए चेहरे और निराशा में डूबी आंखों पर पडती, वह दिल मसोसकर रह जाती। चाहे वह स्वयं भी इस वातावरण में कुछ कम दुखी नही थी, पर उन्हें देखकर उसे अपना दुःख भूल जाता।

इन परिस्थितियों मे भी पुजारी जी ने साहस नही छोड़ा। जहा एक ओर वे जनूनी लोगों को समझाने-बुझाने के असफल यत्नों मे लगे रहते, वहां अपने आरम्भ किए हुए काम को भी किसी न किसी तरह निभाए चले जा रहे थे। आश्रम में चाहे शिक्षार्थियो की गिनती पहले की अपेक्षा कम रह गई थी, फिर भी कार्यक्रम पूर्ववत् ही चल रहा था, और इसके अन्तर्गत पुजारी जी भी अपना पीरियड ले रहे थे। सुनीता के कार्यक्रम में भी प्रकट तौर पर किसी प्रकार की शिथिलता नही दिखाई दी। वह पहले ही की तरह ट्यूशनों के काम में संलग्न थी।

सन् १९५६ का साल बीतकर ५७ का चढा। अरस्तू के अनुसार 'समय का अश्वारोही' अब के भी पधारा। पर उसके घोड़े की रकाबें? इन्हें वह बदलना शायद इस बार भूल गया था—वही जहर की बनी हुई, और पहले से कहीं मजबूत।

उधर नया वर्ष चढ़ा, इधर भारत के विधानानुसार दूसरे आम चुनावों की धूम-धाम शुरू हो गई। पंजाब की जनता—जो पहले से ही साम्प्रदायिकता के कोढ़ मे गल रही थी—चुनावों के हो-हल्ले ने इसके रोग को असाध्य बना दिया। चिरसंचित जहर अब पंजाबियों के रोए-रोएं, नस-नस मे मिल गया।

४३

"दोपहर से ही बूंदाबांदी हो रही थी। भीगते हुए जब पुजारी जी रात को घर [illegible] तो उनका गीला कम्बल उतारते हुए सुनीता रोष मे भरकर बोली— [illegible] बाद, बापू जी, मैं आपको घर से बाहर नहीं जाने दूंगी, चाहे कुछ [illegible] [illegible] बार कह चुकी कि पीरियड का वक्त बदल लीजिए, पर आप सुनते ही नहीं मेरी बात।"

गीले कम्बल के बदले में सूखा पट्टू ओढ़ते हुए वे [illegible]

"विना मौत आए कोई मरता है, बेटी ? घबराया मत कर और अब इस फीके जीने में रखा भी क्या है, जो इसे वचाने की इतनी फिक्र की जाए !"

उन्हें विस्तर में विठाते हुए वह उसी रोष में वोली—"आप मेरा दिल दुखाने से नहीं टलेंगे, वापू जी ?"

पुजारी जी उसकी वातों की ओर ध्यान दिए विना अपनी ही धुन में कहते चले जा रहे थे—"अब तो अगर जीने की कुछ लालसा वाकी है तो सिर्फ इसीलिए कि मरने से पहले तेरे हाथ पीले कर पाऊं। नहीं तो हाड़-चाम के इस ढांचे में अब धरा ही क्या है ? और वेटा, तुझे भी अब मेरे मोह में हर वक्त घुलते नहीं रहना चाहिए।"

सुनीता फफक ही तो उठी इन वातों को सुनकर। पुजारी जी को अपनी मूर्खता पर पश्चात्ताप होने लगा। वे क्या जानते नहीं थे कि इस प्रकार की वातों की उस वेचारी पर क्या प्रतिक्रिया हुआ करती है ? अतः उन्होंने तुरन्त उसी ढंग का प्रयोग किया जिसके द्वारा वे सुनीता की सिसकियों को थाम सकते थे—उसका ध्यान पलट सकते थे। विस्तर में वैठते हुए जैसे उन्हें कुछ याद आ गया हो। सहसा वोल उठे—"अच्छा, पहले मुझे यह वतानी थी, कि इधर कई दिनों से तुमने कोई कविता नहीं लिखी है। क्या कवयित्री वनने का शौक छूट गया, इतनी अच्छी कविता करते-करते ?"

और उनका यह साधन सफल हुआ। सुनीता चल रहे प्रसंग को भूल-सी गई। अच्छी तरह से उन्हें रजाई ओढ़ाते हुए वोली—"शौक तो नहीं छूटा है, वापू जी, पर शहर में वह जो हुल्लड़वाज़ी चल रही है उसीसे मन की हालत कुछ अच्छी नहीं रहती है।"

पुजारी जी दुलार से वोले—"यह तो एकदम उल्टी वात हुई। पगली, यही तो वक्त है तेरे लिखने का। कहा है कि हथियार वह जो वक्त पर काम दे। अगर इस हुल्लड़वाज़ी को रोकने के लिए तेरे अन्तर की काव्य-शक्ति नहीं जगी तो फिर वह कव जगेगी ? कलाकार को इसीलिए तो समाज का मार्ग-दर्शक कहा जाता है। जव भी समाज पथ-भ्रष्ट होने लगता है, वह अपनी कलात्मक मशाल दिखाकर उसे सीधे रास्ते पर डालने का यत्न करता है। और तुम हो कि उल्टा इसे भुला ही वैठीं।"

उत्तर में सुनीता कुछ कहती कि उसे याद हो आया कि उसके वापू सवेरे से

निराहार हैं। सप्ताह में एक वक्त का वे अन्न-व्रत रखा करते थे, और आज वही दिन था। वह बोली—"अच्छा, बापू जी, पहले भोजन कर लीजिए, ये सब बातें फिर होंगी।" और कहते हुए वह उठ खड़ी हुई। पर पुजारी जी ने यह कहकर उसे जाने से रोक दिया—"भूख नही है, नीती।"

वह बोली—"तो क्या आज दोनों वक्त का व्रत रखने की इच्छा है बापू जी? ऊ हूं! यह नही होगा। एक तो पहले से ही शरीर इतना कमज़ोर है, ऊपर से दो-दो वक्त निराहार रहना!" कहते-कहते वह रसोईघर की ओर उठ चली।

"अरे सुन तो, आधी!" पुजारी जी ने फिर उसे रोका—"व्रत-व्रत कुछ नही। यों ही आज मन नही चाहता है।"

सुनीता लौट आई—"तो क्या तबियत···!"

वे बीच मे ही बोल उठे—"तबियत को कुछ नही हुआ है, बेटी।"

"फिर और क्या है?" प्रश्न के साथ सुनीता उनके चेहरे पर से अपना उत्तर ढूंढने लगी।

"यों ही, आज दिल की हालत ज़रा अच्छी नही है। इसीसे खाने को तबियत नही करती।"

और सुनीता के बार-बार आग्रह करने पर अन्ततः उन्हें अपने मन की वेदना का बखान करना ही पड़ा। एक दीर्घ निश्वास लेते हुए बोले—"क्या बताऊं नीती। ऐसा जान पड़ता है कि मैं एकदम बेकार हो चुका हूं—मेरी वाणी मे कुछ भी असर नही रह गया है। अब तक यही समझे बैठा था कि मुझे अपने जीवन-मनोरथ में काफी सफलता मिली है, गुरुदेव के स्वप्न को साकार करने मे, पर यह मेरा भ्रम था या मेरा अहं! जिन लोगों पर आशा रखे बैठा था कि ये कला मे दक्ष होकर मेरा हाथ बटाएंगे इस काम मे, देखता हूं कि वे आज दूसरे ही रंग में रंगे जा रहे हैं—उन्हें मानव-सेवा से कही बढ़कर मानव-हत्या से प्रेम हो गया है।"

सुनकर सुनीता जैसे समाधिस्थ हो गई—कुछ भी नहीं बोल पाई।

"क्या सोचने लगी, नीती?"

"बापू जी," खंखारते हुए वह बोली—"एक बात पूछू?"

"पूछ बेटा।"

"मुंह छोटा और बात बड़ी कहने जा रही हूं, बापू जी। आप शायद कहेंगे कि मेरी बिल्ली, मुझीको म्याऊं। चाहे कुछ भी समझें, पर आज कहे बिना नहीं मानूंगी। बापू जी, दीया अपने प्रकाश की कीमत को नहीं समझ सकता, शायद इसलिए कि उसके नीचे अंधेरा छुपा रहता है। आप समझने लगे हैं कि आपकी वाणी में असर नहीं रहा ? यही कहा न आपने ? भला बताइए तो, जिस गीता और सुखमनी का पाठ आप मुझे आज तक पढ़ाते चले आ रहे हैं—जिसकी शिक्षा मुझे हर रोज देते हैं—क्या उन धर्म पुस्तकों में भी असर नहीं रह गया है ?"

"यह कैसे हो सकता है, बेटी। भगवान कृष्ण और गुरु अर्जुन की वाणी तो···"

वह उतावली होकर बीच में ही बोल उठी—"वही तो कहने जा रही हूं बापू जी। अच्छा, इतना और बता दीजिए कि जिन लोगों ने पंजाब और इस शहर के वातावरण को जहरीला बना रखा है वे कौन लोग हैं ?"

"हिन्दू और सिख।"

"और क्या वे हिन्दू गीता का पाठ नहीं पढ़ते हैं, या सिख गुरुवाणी नहीं पढ़ते हैं ?"

"पढ़ते क्यों नहीं !"

"तो बताइए कि उनपर इसका असर क्यों नहीं हो रहा है ? आप ही ने एक बार मुझे एक सवैया सुनाया था न ?"

"कौन-सा, बेटी ? मुझे तो याद नहीं आ रहा है।"

"वही जिसकी दो पंक्तियां मुझे अब तक भी याद हैं :

"यह वेद का पाठ सुजानन को, अभिमान मदादि विकास विनाशै।
पुनकेचित नीचन को वह पाठ मदै, अभिमान विकार निवासै॥

इसका अर्थ यही आपने बताया था न कि वेद का पाठ शुभ पुरुषों के अन्तर से अहं आदि विकारों का नाश करता है। पर नीच लोगों में उल्टा यह पाठ अहंकार और बुरे मनोविकार भर देता है। यही बताया था न आपने ?"

पुजारी जी उसकी इस उक्ति से प्रभावित होकर बोले—"तुम तो नीतिज्ञ-ज्ञानियों के भी कान कुतर···!"

वह आवेश में बोल उठी—"मेरी बातों को हंसी में न उड़ाइए, बापू जी। और हां, सवैये की तीसरी पंक्ति की भी याद हो आई—'अचअमृत जास हलाहल

हूँ कछु औषध बैद न ही कछु तासे।' इस पंक्ति का यही अर्थ है न कि जिस आदमी का पिया हुआ अमृत भी उसके अन्तर में जाकर जहर बन जाए उसके लिए संसार में न तो कोई वैद्य-हकीम है न हो कोई दवा-दारू। तो मेरे कहने का मतलब यही है बापू जी कि जो लोग अमृत पीकर उसे जहर बनाने के आदी बन चुके हैं उन्हें देखकर हम क्या यह मान लें कि अमृत में असर करने वाली शक्ति नहीं रह गई है ? जो लोग अभी कल तक आपके वचनों को सुनकर अपने को धन्य समझते थे, अगर आज वे आपसे विमुख हो चले हैं तो इसका आपने यह मतलब कैसे लगा लिया कि आपकी वाणी में असर नहीं रह गया है ?…"

पुजारी जी सुन रहे थे और सोच रहे थे कि यह उनकी लड़की बोल रही है या उनकी गुरुआइन ? सुनीता उसी आवेश में कहे जा रही थी।

"…और यह भी आप किस तरह कह सकते हैं बापू जी, कि किसी एक ने भी आपकी शिक्षाओं पर अमल नहीं किया है। अगर आप ऐसा सोचते हैं तो अन्याय ही करते हैं।"

पुजारी जी अर्धसहमति की-सी मुद्रा में बोले—"भगवान करे मेरा विचार गलत निकले, पर देख नीती, तुझे भी इतनी बढ़कर डींग नहीं हांकनी चाहिए बेटा। कबीर ने कहा है कि—'अजहूं नाव समुद्र में, क्या जानूं क्या होय।'"

सुनीता इस उक्ति से कुछ भी प्रभावित न होते हुए बोली—"नाव बेचारी अपने-आप में कुछ नहीं होती, बापू जी—वह तो मांझी के हाथ में है कि उसे पार लगाए चाहे डूब जाने दे। जिस नाव का खेवैया चतुर हो वह क्या उसे डूबने देगा ?"

"हा—हा—हा—हा"—पुजारी जी हंस दिए—"अरे नादान लड़की, जिसे तुम खेवैया माने हुए हो, तुझे यह भी सोचना चाहिए कि पचहत्तर साल का वह तेरा खेवैया अब कबर में पाव लटकाए बैठा है, जिसके बूते पर इतनी आशावादिनी बनी बैठी हो।"

"आप फिर लगे मेरे दिल पर छुरियां चलाने, बापू जी ! तो जाओ, मैं नहीं बोलूंगी आपसे।" और कहते हुए वह रसोईघर की ओर भाग निकली सम्भवतः पुजारी जी के निराहार होने की बात सोचकर। पीछे से वे आवाज़ें देते रह गए, पर वह नहीं लौटी।

४४

भारतीय विधान के अनुसार श्राम चुनावों का मतलब है देश के सुयोग्य लोगों के हाथों में राज-प्रबन्ध की बागडोर संभालना, पर शायद अभी तक भारतीय जनता ने इस बात को नहीं समझा। विशेषतया पंजाब का तो बाबा आदम ही निराला है। यहां पर चुनावों की ग्राड़ में लीडर लोग अपनी दुकानें चमकाने के यत्नों में लग जाया करते हैं, और लोगों को उल्लू बनाकर अपने पीछे लगा लेते हैं। यहां की जनता—जिसे आंखों की बजाय कानों द्वारा देखने की आदत है—किसी भी लीडर के दो-चार भड़कीले लैक्चर सुनकर उसके पीछे हो लेती है और उसकी उंगलियों पर नाचने लगती है। खास तौर से जब किन्हीं लीडरों के हाथ में कोई जादू की बंसरी भी हो।

इन दिनों हमारे पंजाबी लीडर—जो दो विरोधी पक्षों में बटे हुए थे—दोनों ओर अपनी-अपनी बंसरी के छेदों में फूंकें मार-मारकर सुनने वालों के दिलों में आग सुलगाने का काम कर रहे थे। एक पक्ष वालों ने अपनी बंसरी का नाम यदि 'पंजाबी सूबा' रखा तो दूसरों ने अपनी बंसरी का नाम रखा 'महा पंजाब'। इन बंसरियों को कुछ लोग दूसरे नामों से भी पुकारते थे—'पंजाबी बोली' और 'हिन्दी भाषा'।

नाम कुछ भी हो—सूबे के आधार पर, चाहे भाषा के आधार पर, पर इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि पंजाब की इन दोनों बंसरियों ने जनता पर बहुत गहरा प्रभाव किया। यों तो संपेरे की बीन में भी यह शक्ति रहती है कि वह सांप को कुछ समय के लिए मंत्र-मुग्ध कर देती है, पर इन बंसरियों का असर कुछ इस प्रकार का था कि पंजाबियों के अमृतमय कलेवर भी विषमय हो उठते इनकी

से अब तक साम्प्रदायिकता से बचा रहा था। पर गत कुछ समय से जब से चुनावों का क्रम शुरू हुआ—इन लोगों का ढंग भी बदला दिखाई दे रहा था। और पुजारी जी को सबसे अधिक यही सन्ताप खाए जा रहा था।

इधर कुछ दिनों से सुनीता की ट्यूशनों में भी कमी होने लगी थी, और इसका कारण भी वही था। जिस प्रकार हिन्दू घरों में से सिख नौकर और सिख घरों में से हिन्दू नौकर अलग कर दिए गए, प्रायः यही हाल ट्यूटरों का भी हुआ, और इसी के अन्तर्गत सुनीता की भी कुछ ट्यूशनें छूट गईं।

ट्यूशनें छूट जाने का सुनीता को एक प्रकार से लाभ ही हुआ। इधर कुछ दिनों से अवकाश न मिलने पर उसके कविता-लेखन में जो बाधा पड़ रही थी, वह स्वतः ही दूर हो गई। अब उसे जितना भी अतिरिक्त समय मिलता इसी काम में लगाने लगी।

गत कई दिनों से वर्षा के कारण सर्दी कड़ाके की पड़ रही थी, और पुजारी जी सुनीता के बरजने पर भी पूर्ववत् ही संगीत की क्लास ले रहे थे। आज सर्दी पिछले सब दिनों से अधिक थी। कुछ तो वर्षा और कुछ आंधी के कारण। शाम को जब पुजारी जी आश्रम जाने लगे तो सुनीता ने फिर वही 'नहीं जाने दूंगी—नहीं जाने दूंगी' की जिद पकड़ ली। पर पुजारी जी इस बात पर अड़ गए कि जब तक सुचारु रूप में उनके पीरियड का टाइम बदला नहीं जाता तब तक उन्हें जाना ही पड़ेगा, नहीं तो काम में विघ्न पड़ेगा। सुनीता फिर भी नहीं मानी। बोली—"बाहर देखिए तो बापू जी, अन्धड़ का कितना ज़ोर है, और बादल भी घिरे हुए हैं। अगर रास्ते में ही बरसने लगे तो?" पर जब पुजारी जी ने उसकी एक नहीं सुनी तो उसे एक दूसरा ढंग सूझा। वह जानती थी कि बापू उसकी कविता सुनने के लोभ में सब कुछ भूल जाया करते हैं। आज उसने एक नया गीत लिखा था और लिखा था उन्हीं की प्रेरणा के अनुरूप। उसने सोचा यह गीत उसे अपनी विशेष ट्यून में गाकर सुनाना है जिसमें कम से कम आध-पौन घण्टे का समय तो लग ही सकता है, और यदि वह चाहे तो इससे भी अधिक—घण्टे-सवा घण्टे तक उसे जारी रख सकती है। और इतने तक पुजारी जी की क्लास का समय बीत ही जाएगा। फिर तो उनके जाने का प्रश्न ही नहीं रहेगा।

इसी निश्चय पर पहुंचकर वह बोली—"सच, बापू जी, वह मेरी दो-चार पंक्तियां तो सुनते जाइए जो आज मैंने लिखी हैं, और लिखी भी हैं बिलकुल आप

ो के मतलव की।"

"गीत लिखा है ?" रुकते हुए उन्होंने पूछा—"कितना लम्बा है ?"

"बिलकुल छोटा-सा, वापू जी।"

"गाकर सुनाएगी या यूं ही ?"

"गाकर, क्योंकि उसकी ट्यून भी मैंने ही तैयार की है।"

"फिर तो काफी वक्त लग जाएगा। तो उसे लौटकर सुनूंगा, अभी रहने ो।" और उत्तर में सुनीता कुछ आपत्ति करती कि इससे पहले ही पुजारी जी ल दिए। सुनीता उनकी जल्दवाज़ी और अपनी वेवसी पर झल्लाई, पर जल्द-ाज़ी जल्दवाज़ी ही रही और वेवसी वेवसी ही।

४५

र में सुनीता अकेली थी। उनका नौकर छुट्टी लेकर अथवा नौकरी छोड़कर चला ाया था, जिसे किसीने यह कहकर डरा दिया था कि अमृतसर में जल्दी ही खून ी नदियां वहने वाली हैं।

पुजारी जी के जाने के वाद वह और भी विचलित हो उठी। जैसे-जैसे मौसम ख़राव होता जाता, उसकी घवराहट वढ़ती ही जाती—समय काटे नहीं कट रहा था। कभी लेट जाती तो कभी उठकर खिड़की द्वारा वाहर झांकती हुई मौसम का ंग-ढंग देखने लगती। पानी वरसना जव तनिक कम हो जाता तो उसका मन धीरज वंधाने लगता, और वर्षा के ज़ोर पकड़ते ही उसके दिल की धड़कन वढ़ने लगती। कभी उसे पुजारी जी की हठधर्मी पर क्रोध हो आता तो कभी उनके कर्तव्य-ालन पर श्रद्धा। पर उनकी शारीरिक कमज़ोरी की उसे जितनी वार भी याद आती, उनके प्रति सहानुभूति और करुणा से उसका मन छलकने लगता।

इसी प्रकार के मनोविकारों में उलझते उसने एक घंटा व्यतीत किया, और उसके वाद क्षण-क्षण गिनते हुए प्रतीक्षा करने लगी।

घंटे के वाद सवा, फिर डेढ़ और फिर दो घंटे वीत जाने पर भी जव पुजारी जी नहीं लौटे तो सुनीता का धीरज छूटने लगा। डेढ़-पौने दो घंटे से अधिक देर लगने का उसे कोई कारण नहीं दिखाई दे रहा था। यदि मौसम अच्छा होता तो वह समझ लेती, पीरियड के वाद सैर को चले गए होंगे। पर आज क्या सैर का

दिन था ? आंधी-पानी का जोर, और काली अंधी रात, तो फिर देर का क्या कारण हो सकता है ?

आध एक घंटा और व्यतीत हो जाने पर जब मूसलाधार वर्षा होने लगी तो सुनीता के लिए और प्रतीक्षा करना असह्य हो उठा। वह हुलारे से उठी, छाता और टार्च उठाया, और वायु-वेग से घर से निकल भागी। दरवाजा तक बन्द करना भूल गई।

आश्रम अधिक दूर नहीं था। वहां पहुंचने पर जब उसे चौकीदार द्वारा पता चला कि पुजारी जी तो पीरियड समाप्त होते ही चले गए हैं, तो वह उल्टे पांव भागी। चौकीदार ने उसे बताया कि उन्हें बहुत रोका गया, पर वे नहीं रुके और यह कहते हुए चल दिए कि—"घर में बेटी अकेली है।"

सुनीता को विश्वास था कि उसके यहां पहुंचने से पहले ही पुजारी जी आश्रम से निकलकर किसी दूसरे रास्ते से चले गए होंगे और उसके लौटने से पहले ही वे घर जा पहुंचे होंगे। उसने सोचा—यह भी अच्छा ही हुआ कि मुझे दरवाजा बंद करने की याद भूल गई। फिर भी वह टार्च का प्रकाश सड़क की दोनों ओर फेंकते बढ़ी जा रही थी—वर्षा के मारे न जाने किसी वृक्ष के नीचे या किसी छज्जे या बरामदे की ओट में खड़े हो गए हों।

घर पहुंचने पर उसका ऊपर का सांस ऊपर और नीचे का नीचे रह गया जब उसने द्वार को वैसे का वैसा खुला पाया। पुजारी जी अभी तक नहीं लौटे थे। सुनीता के लिए सांस तक लेना दूर हो उठा—"हे भगवान ! वहां से चल पड़े और यहां अभी तक पहुंचे नहीं !"

अब वह कैसे टिककर बैठे—किस प्रकार धीरज बांधे ? कभी बाहर सड़क पर, कभी इधर, कभी उधर जाती। कई बार उसकी इच्छा हुई, पास-पड़ोस वाले किसी व्यक्ति को जगाने की, पर ऐसा नहीं कर पाई।

दस, ग्यारह फिर बारह बज गए। पर पुजारी जी का कहीं पता नहीं। एक बार फिर वह छाता ताने आश्रम की ओर भागी। अब तक वर्षा कुछ थम चुकी थी, पर हवा का जोर नहीं घटा था। उसका शरीर सुन्न हो रहा था—दांत बज रहे थे—छाते के होते हुए भी वह भीग गई थी।

मुहल्ले से निकलकर प्रायः आध फर्लांग का रास्ता ही चल पाई होगी कि सामने से प्रकाश का एक बिन्दु-सा उसे इसी ओर को आता दिखाई दिया। अपने

टार्च को उस विन्दु के लक्ष्य पर सीधा करते हुए जब उसने कोई काली-सी आकृति इसी ओर आते देखी, तो वह विजली की सी तेज़ी से भागी, और निकट जाकर उसने देखा, उसका माली था।

"विटिया !"

"माली !"

"घर लौटो विटिया, गुरुदेव को चोटें आई हैं।"

"हे भगवान !" इससे अधिक सुनीता के मुंह से कुछ नहीं निकला पाया। पूछ-ताछ करने की क्षमता उसमें नहीं रह गई। उसकी ज़वान सूखकर जैसे चाम का टुकड़ा वन गई, उसकी आंखों के आगे अंधेरा छा गया, सिर चकराने लगा, गिरते-गिरते वची।

कमरे में पहुंचकर जव माली ने पुजारी जी के वेहोश शरीर को चारपाई पर लिटा दिया तो सुनीता ने देखा, उनके कपड़े खून से लथपथ थे। सांस धीमी-धीमी चल रही थी। माली ने अपनी साधारण जानकारी के आधार पर उसे सब बता दिया, जिसका मतलब था पुजारी जी जव आश्रम से लौटकर एक भीड़-भरे वाज़ार में से गुज़र रहे थे तो उनपर किसी सिख युवक ने लाठी से हमला कर दिया। न जाने कितनी देर तक वहीं वेहोश पड़े रहे। तव किसी रास्तागीर ने उन्हें पहचान लिया, और फिर किसी प्रकार माली को—जिसका घर निकट ही था—इसकी सूचना दी।

सिर पकड़कर वैठ गई सुनीता—"हे अन्तर्यामी ! क्या तूने मेरी किस्मत में यही कुछ लिखा है ?"

जब माली ने जाकर मुहल्ले वालों को खवर की, और फिर जाकर आश्रम में, तो देखते ही देखते पुजारी जी का घर लोगों से भर गया।

डाक्टर आया, मरहम-पट्टी हुई, होश लाने वाले टीके लगाए गए, और कई प्रकार की गरमाई दे-देकर उपचार किया जाने लगा।

सारी रात पुजारी जी वेहोश पड़े रहे। प्रातःकाल कहीं उन्हें अंशतः होश हुआ और सवसे पहला वाक्य उनके मुंह से निकला—"नीती ! तुम कहां हो ?"

सुनीता, जो इस समय पुजारी जी के पट्टियों में लपेटे सिर को गोद में रखे वैठी थी, वोली—"वापू जी ! मैं तो आपके पास ही वैठी हूं—देखिए तो।"

उन्होंने आवाज़ के लक्ष्य पर ताका, और सुनीता की भीगी हुई आंखों पर

रोगी अब किस स्थिति में है, और उसके उपचार के लिए क्या कुछ करना आवश्यक है, इस ओर तो गिनती के ही लोगों का ध्यान था, बाकी सब कोई मुट्ठियां भींचते और होंठ काटते हुए इसी एक बात पर परामर्श करने में व्यस्त थे कि इसका बदला किस ढंग से चुकाना होगा।

एक-आध दिन के बाद जब पुजारी जी की हालत कुछ और सुधरी तो उन-पर प्रश्नों की बौछार शुरू हो गई। और उत्तर में पुजारी जी द्वारा जो कुछ बताया गया उसे सुनने वाले या तो एकदम झूठ मान रहे थे या यह कि पुजारी जी अभी पूरे तौर से होश में न होने के कारण अण्ट-शण्ट बोल रहे हैं। वैसे पुजारी जी की बातें थीं भी तो अविश्वसनीय प्रकार की ही। उनका यही कहना था कि आश्रम से लौटते समय अंधेरा और कीचड़ होने से वे फिसल गए, और इसीसे उन्हें चोटें आईं। पर वास्तविकता छिपी नहीं रही, जबकि आंखों देखा हाल बताने वालों ने मामला स्पष्ट कर दिया कि किसी सिख युवक का यह काम है।

सुनीता ने भी यह सब सुना, और सुनते ही एड़ी से लेकर चोटी तक क्रोध और हिंसा ने उसे दबोच लिया। उसके अन्तर में आज फिर पागलपन के से उद्गार सिर उठाने लगे। पर इन उद्गारों का तोड़ भी उसके मानस पर उभरने लगा। विशेषतया अपने किए हुए एक प्रण की याद के रूप में—"बापू जी, मैं सच्चे अर्थों में आपकी उत्तराधिकारिणी बनूंगी।" इसके साथ-साथ गीता के उन श्लोकों को और सुखमनी की उन अष्टपदियों का प्रभाव भी इसमें उसकी सहायता कर रहा था। इससे भी कहीं बढ़कर उसका लिखा हुआ वह ताज़ा गीत इस समय उसकी हिंसा और क्रोध के रास्ते में बाधा डाल रहा था, जो उसने केवल पुजारी जी के ही आग्रह पर लिखा था, और जिसे वह अभी तक उन्हें सुना भी नहीं पाई थी।

इस घटना के दो-तीन दिन बाद पुजारी जी की हालत, जो पहले कुछ सुधर गई थी, फिर बिगड़ती जान पड़ने लगी। आज का दिन उन्होंने बहुत कष्ट से गुज़ारा था। डाक्टर उत्तरोत्तर तीन बार आ चुका था, और हर बार पीठ पर की पट्टी उसे बदलनी पड़ी। वहीं पर सबसे गहरा घाव था। डाक्टर को इस बात की आशंका थी कि सम्भवतः रोगी के इधर-उधर हिलने से घाव की सिलाई के कुछ टांके टूट गए हैं। पर स्थिति फिर से घाव को सीने की आज्ञा नहीं दे रही थी।

दिन के बाद रात हुई, और साथ ही वर्षा ने उग्र रूप धारण कर लिया।

सेवकों ने सुनीता से बहुत कहा कि वह बराबर दो रातों से जाग रही है। रोगी की देख-रेख का भार उनपर छोड़कर उसे सो जाना चाहिए, पर बेचारी सुनीता के अन्तर में जो प्रलयंकारी मंत्रणा हो रही थी उसे वह कैसे किसीको दिखा पाती। अतः उसने उनके प्रस्ताव को ठुकरा दिया। तब वे लोग—जो चार व्यक्ति थे—उसी बगल वाले कमरे में बिस्तर डालकर जा लेटे—और इस योजना के अनुसार कि उनमें से हरएक बारी-बारी से उठकर रोगी को जाकर देखा करेगा। सुनीता ने उनका यह प्रस्ताव मान लिया। अर्थात् जब-जब भी कोई आएगा, वह उन्हें भीतर आने से नहीं रोकेगी।

आज शाम को जब डाक्टर लौटा तो जाते हुए सेवकों से कह गया था कि आज रोगी की देख-रेख की ओर विशेष ध्यान देना होगा, जिसका परोक्ष रूप मे अर्थ यही था कि आज रोगी की हालत चिन्ताजनक है। सुनीता को ऐसी बात कहने का शायद उसे साहस नहीं हुआ। डाक्टर लोग चाहे शारीरिक तौर से ही उपचार करते हैं, पर उनमे कुछ ऐसे भी होते हैं जो शरीर के अतिरिक्त किसी भी मानसिक हालत को भी समझने की योग्यता रखते हैं। यह डाक्टर शायद उन्हीमें से था। उसने सुनीता की आतरिक वेदनाओ को किसी सीमा तक भांप लिया जान पड़ता था, और इसीसे उसे भय था कि कही उसकी इस बात को सुनकर सुनीता को भी न कुछ हो जाए।

यों सुनीता भी ऐसी नादान नही थी जो रोगी की स्थिति के बारे मे अधिक आशावादी हो। वह सब देख रही थी—सब भांप रही थी। फिर भी उसे इस बात की आशंका नही थी कि भगवान उनके साथ ऐसा अन्याय करेंगे। पुजारी जी की इस शिक्षा को उसने मानो गिरह में बांध रखा था, जो वे जब-तब उसे दिया करते थे—"जहा पर कोई मार्ग दिखाई न दे—आशा के सब दरवाजे एक-एक करके जब बंद हो गए हों, तब भी हमारे लिए एक द्वार खुला रह जाता है—उस सर्वशक्तिमान का द्वार", और सुनीता अपनी आखें इस समय उसी द्वार पर टिकाए हुए थी।

रात आधी के लगभग बीत चुकी थी, और बाहर मूसलाधार बारिश हो रही थी। सुनीता रोगी के पास बैठी थी, और उसकी आखें उसी दाता के द्वार पर टिकी थी। रोगी की मुख-मुद्रा पर जितनी बार भी उसका ध्यान जाता, सुनीता की हार्दिक प्रार्थनाएं प्रबल हुई जाती। गत दो रातों से जागते रहने पर भी नींद

उसके निकट तक नहीं फटक पा रही थी। थोड़ी-थोड़ी देर में वह अंगीठी में कोयले डालकर, बाहर ले जाकर उनकी गैस निकाल लाती, और उसे चारपाई के निकट रख देती। उसकी अपनी चारपाई भी इसी कमरे में थी, जिसे छूए उसे आज तीसरा दिन था। हवा चाहे तेजी से चल रही थी, फिर भी रोशनदान उसने खुला रख छोड़ा था, कि आवश्यकतानुसार ताजी हवा आती रहे।

पुजारी जी के शरीर के जिस-जिस भाग पर आन्तरिक चोटें आई थीं, वहां पर सुनीता सेंक कर रही थी। अब से कुछ घंटे पहले जो इंजेक्शन दिया गया था उसके फलस्वरूप रोगी इस समय नींद में था। पर यह कृत्रिम नींद दो, अढ़ाई या अधिक से अधिक तीन घंटे तक ही बनी रह सकती थी, और तीन घण्टे हो चुके थे।

तभी रोगी ने आंखें खोलीं, और आंखें खुलते ही वह कराहने लगा—"हे भगवान !...हे दाता !" टीके का असर समाप्त हो गया है, सुनीता को समझने में देर नहीं लगी।

"नीती !" उखड़े से सांस में पुजारी जी ने पुकारा।

"बापू जी !" वह उनपर झुक गई।

"क्या करूं बेटा, बहुत दर्द हो रहा है।"

"इन्जेक्शन देती हूं, बापू जी।" कहते हुए वह उठ खड़ी हुई।

"नहीं बेटा।" उन्होंने उसे रोका—"टीके से नींद तो आ जाती है, पर इसके असर से सिर चकराने और दर्द करने लगता है।"

सुनीता घबराई—"डाक्टर को बुला भेजूं, बापू जी ?"

"नहीं !"

"तो फिर ?"

"अब तो तुझे बड़े डाक्टर को ही पुकारना होगा, नीती—भगवान को। आह ! घावों में कितनी टीसें...! हे प्रभु !"

सुनीता भरसक यत्न करने लगी 'बड़े डाक्टर' को पुकारने के लिए। पर मन की अस्थिरता और चिन्ता की प्रबलता ने उसका बस नहीं चलने दिया—उसका ध्यान रोगी को छोड़कर दूसरी किसी ओर जाने से नाही कर रहा था। सुनीता अब क्या करे, क्या न करे।

"बापू जी !"

सांस लेते हुए। उसने अपने उस 'वड़े डाक्टर' को मन ही मन प्रणाम किया—आभार प्रकट किया।

वहुत देर से वैठे रहने पर उसकी टांगें अकड़-सी गई थीं। वह सहज से—कहीं बापू जी की नींद न उचट जाए—संभलकर चारपाई से उतरी और अपने विस्तर में जाकर लेट गई। रजाई खींचकर उसने शरीर को गर्दन तक ढांप लिया। वाहर वर्षा जोर से हो रही थी, वरामदे की वढ़ी हुई टीन पर वौछार पड़ने से शोर-सा हो रहा था। पर इस शोर में भी उसे झपकी आने लगी।

उसे लेटे हुए आधा घंटा वीता था कि फिर से उसे कराहने की आवाज़ सुनाई दी। वह छलांग लगाकर पुजारी जी के पास जा पहुंची, पर उन्हें उसने उसी गहरी नींद में सोते पाया।

'तो फिर यह आवाज़ कहां से आई ? क्या स्वप्न में ?' सोचते हुए जव वह दोवारा जाकर लेट गई तो फिर उसने वही सुना—फिर उसने पुजारी जी की ओर ताका, और फिर भी उन्हें पूर्ववत् सोए पाया।

'कितनी झक्की हो गई हूं मैं ?' सोचते हुए वह फिर लेट गई। और लेटते ही उसे फिर वही कराहने की आवाज़ सुनाई देने लगी—"ओह रव जी !...ओ मेरी मां।"

सुनीता को विश्वास हो आया कि यह आवाज़ पुजारी जी की न होकर किसी और की है, और वाहर से आ रही है। वह फिर उठी और उठकर दरवाज़े की ओर वढ़ गई। खोलने से पहले उसने पट के साथ कान लगाया। आवाज़ अव भी आ रही थी, पर वुझते से स्वर में, मानो चिल्लाने वाले ने हार मान ली हो।

'क्या कोई शरावी आ गिरा है हमारे वरामदे में ?' उसने चिटखनी उतारी और धीरे-धीरे पट को अन्दर की ओर सरकाने लगी, ताकि आवाज़ से कहीं उसके वापू की नींद न उचट जाए। फिर उसने सिर वाहर निकालकर देखा और देखकर डर गई। कोई व्यक्ति फैला पड़ा था—देहरी पर सिर टिकाए। उसे विश्वास हो गया कि अवश्य ही यह कोई शरावी है, जो शायद अधिक पी जाने पर रास्ता भूलकर इधर आ भटका है।

सहसा उसकी नज़र युवक के माथे पर पड़ी, जो खून से लथपथ था। उसके कपड़े कीचड़-पानी में सने हुए थे, जिनपर खून के अस्पष्ट धव्वे उसे दिखाई दिए। उसके सिर के वाल मुंह और माथे पर चिपके होने से वह उसका चेहरा अच्छी

"आप जग गए बापू जी ?"

उत्तर देने के स्थान पर उन्होंने उसपर प्रश्न किया—"यह—यह कौन ?"

सुनीता ने आगन्तुक की ओर ताका। वह बेहोश था। फिर वह पुजारी जी को सब कुछ ब्यौरे से सुनाने लगी।

"इधर आ, बेटा।" पुजारी जी के आदेश पर जब वह उनके और निकट आई तो उन्होंने उसका कन्धा थपथपाया—"शाबाश !"

पुजारी जी कह रहे थे—"न जाने किस पापी ने कुचल डाला बेचारे को ! क्या बहुत खून बह रहा है ?" और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किए उन्होंने आदेश दिया—"जा बेटा, बगल वाले कमरे में से किसीको जगाकर डाक्टर को बुलवा ले।"

सुनीता बोली—"डाक्टर के आने का वक्त तो हो गया है। आने ही वाला है।"

"ऊं हूं !" पुजारी जी ने उत्तेजित होकर कहा—"शायद वह देर से आए। कीचड़-पानी का मौसम जो ठहरा। इधर इस बेचारे की हालत अच्छी नहीं जान पड़ती। न जाने कितना खून निकल गया होगा, और फिर ठण्ड भी खाई है।" सुनीता जब जाने को हुई तो बोले—"अंगीठी में कोयले और डाल दे, और उसके नजदीक रख दे।"

"वह तो रख दी, बापू जी।" कहकर वह बाहर चली गई।

थोड़ी देर में डाक्टर आ पहुंचा। और कदाचित् किसीके लिवाने के बिना ही, जिससे जान पड़ता था कि पुजारी जी को देखने के लिए वह यथासमय ही घर से निकला होगा। साथ ही दूसरे कमरे में सोए हुए व्यक्ति भी आ गए।

इससे पूर्व कि डाक्टर पुजारी जी का हाल-चाल देखता, उनका आदेश पाकर उसे पहले नये मरीज की ओर ध्यान देना पड़ा।

युवक का शरीर एक तो खून से लथपथ था दूसरे कीचड़ से। अतः सबसे पहले उसके कपड़े बदलवाने आवश्यक थे। पुजारी जी का संकेत पाकर सुनीता उनका धुला हुआ कुर्ता और धोती निकाल लाई। फिर सेवकों द्वारा युवक के पहले कपड़े उतरवाकर दूसरे पहनाए गए और बेहोशी की हालत में ही।

इन्जेक्शन देने और मरहम-पट्टी करने के बाद डाक्टर ने पुजारी जी को देखना आरम्भ किया, जिनके बारे में सुनीता ने रात की सब कैफियत दी। उपचार करते

हुए डाक्टर ने उनके बारे में चेतावनी दी कि घावों की हालत चाहे अच्छी है, पर पुराने हाड़ होने के कारण, थोड़ा-सा भी हिलने-डुलने पर दर्द बढ़ जाना स्वाभाविक ही होता है। अतः उन्हें हिलने न दिया जाए और किसी भी प्रकार की उत्तेजना से बचाया जाए। इस प्रकार की हिदायतें देकर डाक्टर चला गया। साथ ही यह भी कहता गया कि कमरे में किसी भी प्रकार का भीड़-भड़क्का दोनों मरीजों के लिए खतरनाक हो सकता है।

४७

दोपहर होते न होते युवक की चेतना लौट आई, और होश आने के बाद शनैःशनैः उसे गत रात की बातें भी याद आने लगीं। अपने को एक अपरिचित स्थान में पाकर वह समझ नहीं पा रहा था कि कहां पर है—मित्र की सुरक्षा में या शत्रु के चंगुल में? और जितना कुछ भी उसे देखने-समझने को मिला उसके पहले प्रश्न की ही पुष्टि में था। वह सोच रहा था—'यदि मैं दुश्मन के कब्जे में होता तो ये पट्टियां कैसे बंध जातीं, कपड़े कैसे बदले जाते, बिस्तर कैसे मिल जाता?' उसे अपनी बाईं बांह पर सुई की सी पीड़ा अनुभव हो रही थी, जिससे उसे टीका लगाए जाने का भी भास हुआ।

सहसा उसका ध्यान बगल वाली चारपाई पर पड़ा, जहां उसकी तरह पट्टियों में लिपटा कोई व्यक्ति उसे दिखाई दिया।

जैसे-जैसे उसकी चेतना लौटती आई साथ-साथ उसके मस्तिष्क में कुछ और बातें भी उभरने लगीं—'बेहोश होने से पहले मैंने शायद कुछ सुना था—क्या सुना था? किसके कराहने की आवाज थी वह? क्या इसीकी? और··· और मुझे कुछ दिखा भी तो था—और किसने गाया था वह 'बरसो-बरसो' जैसा कुछ?'

तभी युवक का ध्यान खुलते हुए दरवाजे की ओर मुड़ा। कोई युवती प्रविष्ट हो रही थी। घने अन्धकार के बाद जैसे बिजली कौंध आने पर किसीकी आंखें चुंधिया जाती हैं, चन्दन की आंखों की कुछ वैसी ही हालत हुई।

"भगवान को धन्यवाद है!" अपने सामने खड़ी उस युवती के मुंह से उसने सुना—"जो आप होश में आ गए।" और कहते हुए सुनीता चारपाई के निकट कुर्सी खींचकर बैठ गई।

पुजारी जी की फिर से आंख लग गई थी। सुनीता के उत्तर में कुछ कहने के स्थान पर चन्दन की आंखें उसके चेहरे पर गड़ी थीं, जैसे यह चेहरा उसका जाना-पहचाना-सा हो। ताकने के साथ-साथ सुनीता के प्रति प्रश्नों का अम्बार भी उसके अन्तर में उठता जा रहा था।

तभी उसने सुना—"अब तबियत कैसी है?" उत्तर में वह कुछ कहता कि इससे पहले एक और प्रश्न हुआ—"कहां-कहां पर बहुत दर्द होता है? बताइए, ताकि सेंक कर दूं।" और फिर तीसरा प्रश्न—"ठण्ड तो नहीं मालूम होती है?"

"आप···आप!" वह रुकते-रुकते बोला—"आप शायद वही···।"

"जी हां।" उत्तर में वह बोली—"ठीक समझा आपने। आप व्रिजेन्द्र जी के मित्र हैं न?"

चन्दन ने सिर हिलाते हुए, 'हां' का संकेत किया, और साथ ही उसने बगल वाली चारपाई की ओर ताकते हुए पूछा—"और···और ये···?"

"मेरे पिता जी हैं। जरा आहिस्ता से बोलिए, रात-भर सो नही पाये हैं न?"

चन्दन ने फुसफुसाते से पूछा—"बीमार हैं क्या?"

"हां, तीन-चार दिन हुए किसीने इन्हें···।" सुनीता की बात पूरी होती कि वह बोल उठा—"घायल कर दिया था?"

"जी हां। आप ज्यादा मत बोलिए, डाक्टर ने मना किया है। थोड़ा दूध पीएंगे न—लाती हूं।" और बिना स्वीकृति पाए ही सुनीता उठ खड़ी हुई। पर चन्दन ने जैसी उसकी बात सुनी ही नहीं। उसके होंठ अधखुले और आंखें पूरी फैली हुई थीं। बोला—"क्या कहा? तीन-चार दिन हुए? किस वक्त?"

"रात में। अच्छा ठहरिए। पहले दूध ले आऊं।" और वह चली गई।

"आंय!" सुनीता दूध वाले गिलास को तिपाई पर रखते हुए धीमे स्वर में बोल उठी—"आप···आप रो रहे हैं? हिश्, जवान होकर रोते हो? बापू जी को आपसे भी कहीं अधिक चोटें आईं, पर क्या मजाल जो एक भी आंसू निकाला हो।" कहते-कहते सुनीता कुर्सी पर बैठ गई—युवक के प्रति सहानुभूति में भरकर और यह कहते हुए—"क्या बहुत दर्द हो रहा है? पहले गर्म-गर्म दूध पी लो, फिर सेंक कर दूंगी—दर्द कम हो जाएगा। नहीं तो मॉर्फिया का टीका लगा दूंगी।"

चन्दन का ध्यान उसकी बातों की ओर नाम-मात्र को ही था। मन ही मन वह किसी उलझन को सुलझाने में लगा था।

"लीजिए।" दूध का गिलास उसके होंठों तक ले आते हुए सुनीता ने साग्रह कहा—"पी लीजिए।" पर युवक के न तो आंसू थमे न ही उसने दूध की ओर ध्यान दिया। बोला—"क्या कहा आपने, रात में किसीने हमला कर दिया था इनपर?"

"जी हां।" वैसे ही गिलास थामे वह बोली।

"कौन था वह—सिख या हिन्दू?"

"सिख बताते हैं।"

"हूं। किस बाजार में?"

सुनीता ने बाजार का नाम बता दिया। युवक की अश्रुधारा और तेज हो उठी—सिसकियां तक भरने लगा।

"आप फिर रोने लगे? बहुत दर्द है?"

"जख्मों के दर्द से नहीं रो रहा हूं।"

"तो और? घरवालों का मोह जाग उठा? वह तो स्वाभाविक ही है। आप जरा हौसला दिखाइए न। दो ही चार दिन में तो आप भले-चंगे हो जाएंगे। और अगर कहेंगे तो उन्हें यहीं पर बुलवा लिया जाएगा। कितनी दूर है आपका गांव? किसीने एक बार मुझे बताया था कि आप व्रिजेन्द्र के क्लासफैलो हैं, और उन्हींके गांव के हैं।"

उत्तर में चन्दन कुछ नहीं बोला, बार-बार उसकी आंखें सोए हुए पुजारी जी पर जाकर टिक जातीं।

सुनीता प्रश्न पर प्रश्न किए जा रही थी, पर चन्दन निरुत्तर था। मानो उसकी जबान की शक्ति आंखों में चली गई हो।

"उधर क्या बार-बार ताकते हैं?" सुनीता ने तनिक चिन्तातुर होकर कहा—"दूध ठण्डा हो रहा है। क्या फिर बेहोशी आने लगी?"

"नहीं।"

"तो फिर क्या बात है?"

उत्तर में वह रहस्य को खोलता कि इससे पहले किसी और द्वारा वह सुन गया।

बाहर से किसीने जोर-जोर से दरवाजा खटखटाया। इतने जोर से कि सुनीता झुंझला उठी इस बदतमीजी पर। उसे पुजारी जी के जग जाने की आशंका थी।

हुई थी। गिलास को तिपाई पर रखकर वह दरवाज़े की ओर बढ़ी। इस धड़ाके ने पुजारी जी को जगा दिया था।

सुनीता ने देखा, बरामदे में लगभग आधे दर्जन व्यक्ति खड़े थे, जो दरवाजा खुलते ही दगड़-दगड़ करते भीतर घुस आए। सुनीता को उन लोगों का यह भोंडा ढंग बहुत अखरा, पर वह बोली कुछ नहीं।

पुजारी जी घबरा-से गए उन लोगों की इस निरंकुशता को देखकर। उन्होंने क्षीण स्वर में उन्हें सम्बोधन किया—"आइए, कैसे आना हुआ ?"

पहले तो पुजारी जी ने सोचा था कि सम्भवतः बीमारपुर्सी के लिए आए हों, जैसे कि हर रोज़ दिन चढ़े लोग आ जाया करते थे। पर बीमारपुर्सी वालों का क्या ऐसा रंग-ढंग होता है ? वे सोच रहे थे।

तब तक दूसरे कमरे में से पुजारी जी के दो-तीन सेवक भी आ पहुंचे। कमरा खासा भर गया।

आगंतुकों में से एक बोला—"क्षमा करना पुजारी जी, हमें पता चला है कि आपने किसी दुश्मन को पनाह दी है। क्या यह सच है ?"

सुनीता खड़ी-खड़ी कांप रही थी किसी अनिष्ट की सम्भावना से। चारपाई पर पड़े युवक की आंखें फैली हुई थीं। पुजारीजी अपने स्वाभाविक स्वर में बोले—"दुश्मन ? यहां तो हमने किसी भी दुश्मन को आते नहीं देखा है। अलबत्ता यह नौजवान, जो आपके सामने है, थोड़ी देर पहले इसे बाहर बेहोश पाकर लड़की अन्दर ले आई थी।"

सबकी आंखें चन्दन पर गड़ी थीं। तब एक-दूसरा बोला—"इसीकी तो हमें तलाश है।"

तीसरा बोल उठा—"पुजारी जी, आपने यह अच्छा नहीं किया।"

चौथा बोला—"बड़े अफसोस की बात है कि इन्हीं लोगों में से किसीने उस रात आपकी हड्डियां तक चूर कर डालीं, और आप हैं कि सांपों को दूध पिला-पिलाकर पाल रहे हैं।"

पुजारी जी सुने जा रहे थे। वे बोले—"तो आप लोग भ्रम में हैं। यह सच है कि किसी दुश्मन ने ही मुझपर हमला किया था और मेरी भी यही इच्छा है कि जैसे भी बन पड़े उस दुश्मन को जहन्नुम रसीद करूं, जबकि वह केवल मेरा ही नहीं, आप सभीका एक जैसा ही दुश्मन है। बैठ जाइए, मैं उसके बारे में सब

बताता हूं।"

सुनीता ने झट से फर्श पर दरी बिछा दी और सब बैठ गए। सुनीता पुजारी जी के पायताने बैठ गई। चन्दन उसी प्रकार फटी-फटी, उड़ी-उड़ी आंखों से सब किसीको ताके जा रहा था।

पुजारी जी की स्थिति चाहे अधिक बोलने की आज्ञा नहीं देती थी—पर बिना इसकी परवाह किए वे बोले जा रहे थे—सुनीता के रोकने पर भी नहीं रुके :

"आप लोग पूछना चाहते हैं कि वह दुश्मन कौन है जिसने यदि आज मुझे घायल किया है तो कल और भी न जाने कितनों को करेगा—यही न ? तो मैं आपको बताऊं कि वह दुश्मन कहीं दूर नहीं, बल्कि आप लोगों के घर में ही छिपा बैठा है। अगर आप चाहें तो उसे पकड़कर मौत के घाट उतार सकते हैं।" बोलते-बोलते वे उत्तेजित हो उठे।

"हमारे घरों में ?" एक साथ कई आवाजें उठीं।

"हां···हां।" पुजारी जी की वाणी में उत्तरोत्तर तेजी आ रही थी—"बल्कि घरों से भी निकट—आप लोगों के दिलों में। उसका नाम पूछना चाहते हैं ? एक नहीं, कई नाम हैं उसके—अन्धविश्वास, साम्प्रदायिकता, और न जाने क्या-क्या। क्या आप लोगों से छुपा है कि उस दुश्मन ने हमारे देश का कितना सत्यानाश किया ? कुल दस वर्ष ही तो हुए हैं जब उसने हमारे देश को—खास तौर से पंजाब को—श्मशान बनाया। उसने मनुष्यों को राक्षस बना दिया, और उन राक्षसों ने भर पेट मानवीय खून पीया, बहन-बेटियों की इज्जत लूटी—जिन्होंने··· जिन्होंने···।" बोलते-बोलते पुजारी जी इतने आवेश में आ गए कि उनकी आवाज लड़खड़ाने लगी, जिसे देखकर सुनीता चिल्लाई—"बापू जी ! मत बोलिए—आपको मेरे सिर की सौगंध है।"

और जब वे फिर भी नहीं रुके तो उसने उनके मुंह के आगे हाथ रखकर बलपूर्वक उन्हें बोलने से रोक दिया।

पुजारी जी की सांस ज़ोर से चलने लगी, जो उनकी हालत के बिगड़ जाने का चिह्न था। उनके सेवकों को भी कम चिन्ता नहीं हुई।

वे आध दर्जन युवक न जाने आपस में क्या काना-फूसी किए जा रहे थे कि सुनीता मानो बरस पड़ी उनपर,

"आप लोग क्या मेरे पिता जी के प्राण लेने आए हैं ? हाथ जोड़ती हूं, आप

जाइए। हम लोगों ने अगर कोई ऐसा ही पाप कर डाला है तो भगवान हमें इसका दण्ड देंगे। आप चले ज.इए कृपा करके।"

सभी उठ खड़े हुए, क्रोध में भरकर। उनमें से एक दांत किटकिटाते हुए बोला—"चलिए जी। सनकी हैं दोनों बाप-बेटी।" दूसरा फुसफुसाया—"तभी तो मज़ा मिला सांपों को दूध पिलाने का।" तीसरा ऊंची आवाज़ में कहने लगा—"सठिया गया है बुड्ढा।" चौथा बोला—"देख लेंगे हम।"

अपने स्नेहपुंज पिता के विरुद्ध यह टीका-टिप्पणी सुनकर सुनीता एक बार फिर चीखला उठी—"क्यों चांद पर थूक रहे हैं आप लोग ? जाइए, हमें आपके उपदेशों की ज़रूरत नहीं है।"

पुजारी जी कठिनाई से इतना-भर ही बोलकर संज्ञाहीन-से हो गए—"चुप ···बेटा···मत बोल।"

सुनीता चुप हो गई।

युवक वैसे ही अंट-शंट बोलते हुए चले गए।

४८

जब से वह 'धर्मवीरों' की टुकड़ी निराश होकर लौटी, लोगों का वर्ताव पुजारी जी के प्रति और भी बदलने लगा। कोई उन्हें 'सिखों का एजेंट' कहता तो कोई 'हिन्दुओं का दुश्मन'। यहां तक कि जिन लोगों की पुजारी जी पर श्रद्धा थी, उनकी श्रद्धा भी डगमगाने लगी। पर इतना होते हुए भी किसीको साहस नहीं हुआ उस 'देख लेंगे' वाक्य को कार्य-रूप में बदलने का।

चन्दन को इस घर में आए आज चौथा दिन है। घाव उसे गहरे आए थे, पर जवानी का खून होने से वे शीघ्रता से भरने लगे हैं। उधर पुजारी जी की स्थिति इससे भिन्न थी, जिनके घावों को केवल मरहम-पट्टी द्वारा ही भरना था। तिसपर इनके भरने में जो एक नई बाधा आ पड़ी—वह था उस रात का उनका अपनी क्षमता से अधिक बोलना अथवा आवेश में आना। डाक्टर ने आकर जब घावों में से ताज़ा खून टपकता देखा तो दूसरे मरीज़ चन्दन की ओर से उसका ध्यान हट-कर इसी ओर आकर्षित हो गया, मानो उसके सप्ताह-भर के परिश्रम को किसीने चौपट कर डाला हो। घावों की हालत तो बिगड़ी ही, साथ में जो बुखार आना

शुरू हो गया तो मामला और भी जटिल दिखाई देने लगा। डाक्टर सुनीता पर चिंघाड़ने लगा—"कितना समझाया कि इनके पास किसीको मत आने देना। जिस बात का मुझे खतरा था आखिर वही होकर रही।"

यदि कोई साधारण डाक्टर होता तो हताश होकर भाग खड़ा होता, पर ये महाशय शायद उनमें से नहीं थे। खूब जी तोड़कर इलाज में जुट गए, तब कहीं थोड़ी-सी हालत सुधरी, पर खतरे से बाहर नहीं।

खाट पर पड़े-पड़े चन्दन यह सब देख, सुन और अनुभव कर रहा था, और साथ ही साथ अपने को कोस रहा था। उसीके कारण तो यह सब हुआ। पहले दिन उसकी जो बातें सुनीता के साथ हुईं, और फिर उन युवकों के आ जाने पर जो प्रसंग अधूरा ही रह गया था, उसे पूरा करने की अब उसे आवश्यकता नहीं थी, जबकि उसके कुछ बताए बिना ही सारा रहस्य खुल चुका था। फलतः जैसे-जैसे उसके शरीर की हालत सुधरती गई, उसी क्रम से उसकी मानसिक स्थिति बिगड़ने लगी। एक ओर उसे अपने दानवीय आचरण पर ग्लानि हो रही थी, दूसरी ओर उन दोनों—बाप-बेटी—के दैवी आचरण को देख-देखकर वह किंकर्तव्यविमूढ़ होकर सोचता—'क्या इस संसार में ऐसे व्यक्ति भी हो सकते हैं जो अपने ही खून के प्यासों को अपना खून पिलाकर जीवित रखते हैं ?'

इसके साथ-साथ चन्दन को पिछली-अगली बातों की याद भी परेशान कर रही थी—मां-बाप की···मित्र-परिवार की···इत्यादि।

आधी रात बीत चुकी थी—प्रायः वही—उस रात वाला ही समय था, जब चन्दन इस घर में प्रविष्ट हुआ था। कमरे में तीनों चारपाइयां साथ-साथ बिछी थीं। चन्दन की आंखों में नाम को भी नींद नहीं थी, पर प्रकट तौर पर उसने सोने जैसा स्वांग भर रखा था—मानसिक उथल-पुथल उसे गेंद की तरह उछालकर कभी कहीं तो कभी कहीं पटके चली जा रही थी। विशेषतया अपने एक निश्चय के बारे में, जो गत रात उसने कर रखा था—जब ये दोनों सोते होंगे, वह चुपके से उठकर यहां से चल देगा, चाहे चलने में उसे कितना ही कष्ट क्यों न हो। पर ऐसा मौका उसे अभी तक नहीं मिल पाया। पुजारी जी करवट पर करवट ले रहे थे—कसीसों पर कसीसें भर रहे थे। सुनीता का यह हाल था कि पांच-दस मिनट ही लेटने के बाद वह फिर से उठकर उनके पास जा पहुंचती। बेचारी को और अधिक कष्ट न हो इसीसे चन्दन कृत्रिम खर्राटों द्वारा उससे अपने सोए होना

प्रकट कर रहा था। फिर भी सुनीता उसकी ओर से उदासीन नहीं थी। थोड़ी-थोड़ी देर में वह उसके निकट आती, और उसे सोया पाकर लौट जाती।

जैसे ही चन्दन को तनिक झपकी आने लगी कि किसी उष्णता का स्पर्श पाकर वह चैतन्य हो गया। उसने देखा, पुजारी जी अपना हाथ बढ़ाकर उसे टटोल रहे हैं। सुनीता इस समय सो रही थी।

"बेटा !" उसने सुना—"क्यों इतने अधीर हो रहे हो ? सब उस भगवान की माया है। इसमें तुम्हारा कुछ भी दोष नहीं—भूल जाओ इसे।"

वे थोड़ा रुके, कदाचित् थकावट दूर करने को, और फिर कहने लगे—"मत झुलसाओ अपने को ग्लानि की आग में। अपने पाप पर पश्चात्ताप करना बुरा नहीं—वही तो उसका वास्तविक प्रायश्चित्त होता है। सो तुमने कर लिया। बस इतना ही काफी है। मनुष्य अपने में कुछ नहीं है, बेटा, संस्कारों के हाथ की कठ-पुतली ही तो है। और संस्कार ही उसे···।" और सांस उखड़-सी जाने पर वे फिर रुक गए।

चन्दन सुन रहा था और सुनने के साथ-साथ सोच भी रहा था—आश्चर्य-जनक बातें।

पुजारी जी की आवाज़ ने सुनीता की नींद तोड़ दी।

"अरे, तुम जग गई, बेटा ?"

"आप फिर बोले जा रहे हैं, बापू जी। डाक्टर की बातें क्या भूल गए ?"

"भूला नहीं हूं पुत्री। पर जो कुछ डाक्टर की बातों से ज़रूरी है उसे भी तो भुलाया नहीं जा सकता। तुम क्या जानो कि कितनी बुरी है इस युवक की मान-सिक दशा।"

सुनीता इसके विरोध में कुछ नहीं कह पाई। वे बोलने से नहीं रुके—"सो बेटा चन्दन—यही नाम बताया था न तुमने अपना ? मैं कह रहा था कि यह सब संस्कारों का ही फल है···" सुनीता को नाराज़ी में खड़े देखकर उन्होंने उससे कहा—"बैठ जा बेटा, तुम्हारे भी काम की बातें हैं।"

सुनीता चारपाई की पाटी पकड़कर बैठ गई, और उनकी नब्ज़ टटोलने लगी।

"बुखार कम है।" वे बोले—"चिन्ता मत करो।" और फिर चन्दन की ओर ध्यान करके बोले—"कोई भी आदमी जन्मजात बुरा नहीं होता। ईश्वर ने सब-को अपने रूप में सिरजा है। फिर भी यदि वह बुराई करता है तो इसे संस्कारों

की प्रवलता नहीं तो और क्या कहा जाए ? तुमने जो कुछ किया वह इसीके अनुरूप था। मुझे खुशी है कि तुम पश्चात्ताप के साबुन से अपनी आत्मा को धोने लगे हो। क्या देख नहीं रहा हूं, तुम्हारी हालत को ? तो मेरा यही कहना है कि तुम्हारे पाप का—यदि पाप भी कहा जाए—प्रायश्चित्त हो चुका। अब तुम संभलो और इस घटना को भूल जाओ।"

सुनीता सब सुन रही थी। यों तो पहले से ही वह मामले को समझ चुकी थी, पर पुजारी जी के इन वाक्यों ने मानो उसके मन के किसी कोने में धधकती हुई आग पर पानी डाल दिया। चन्दन के बारे में उसके अन्तर में जितना कुछ रोष था वह दूर हो गया।

चन्दन की आंखों में आंसुओं को देखते हुए वे फिर बोले—"बन्द करो चन्दन—मत आंखें गलाओ। तुम्हें इसी बात का दुःख सता रहा है न कि तुमने एक वृद्ध शरीर पर प्रहार किया ? फिर यही कहना चाहता हूं कि यह सब तुमने नहीं किया, तुम्हारे अन्तर में बैठकर किसी और ने किया है—उन्हीं संस्कारों की प्रवलता ने। इस समय मैं तुम्हारी भावनाओं को जैसे शीशे में देख रहा हूं। तुम प्रायश्चित्त करने के लिए आकुल हो, यही न ?"

चन्दन रुआंसा होकर बोला मानो उसका दिल पिघल पड़ा—"मेरे···मेरे पाप का प्रायश्चित्त ? यह नामुमकिन है, पिता जी—बिलकुल नामुमकिन।"

"नामुमकिन ?" पुजारी जी के होंठों पर हंसी की क्षीण-सी आभा फैल गई—"इस संसार में कुछ भी नामुमकिन नहीं है बेटा।"

सहसा उन्होंने सुनीता की ओर ध्यान दिया, जो उनके उत्तरोत्तर बोलते चले जाने से घबरा रही थी। वे उसे कहने लगे—"जा बेटा, हम दोनों के लिए थोड़ा दूध गर्म करके ले आ। पीने से आराम मिलेगा।"

सुनीता चली गई। चन्दन गिड़गिड़ाया—"पिता जी, काश ! इससे पहले ये बातें किसीने मुझे समझाई होतीं। ओह ! मैंने यह क्या कर डाला ; कहां से चला था, कहां जा भटका ! अगर प्राण देकर भी इस पाप का प्रायश्चित्त कर सकूं···।"

सुनीता दूध लेकर लौटती कि उससे पहले चन्दन ने संक्षिप्त रूप में अपना परिचय पुजारी जी को करा दिया, और अपने घायल होने अथवा उन्हें घायल करने के सम्बन्ध में भी।

दूध के दोनों गिलास तिपाई पर रखते समय सुनीता ने ध्यान से चन्दन की ओर ताका। उसे जान पड़ा मानो इस दस एक मिनटों में ही वह पूर्णतया स्वस्थ हो गया है। उसके चेहरे पर ग्लानि के स्थान पर गहरी श्रद्धा का रंग था और इसी रंग में वह कह रहा था :

"पिता जी, मां-बाप ने कितना सुन्दर मेरा नाम रखा था 'चन्दन' ! पर मैं आज क्या बनकर रह गया—ज़हरीला, कंटीला झाड़ ! क्या यह सच है, पिता जी कि चन्दन के निकट उगे हुए कँटीले झाड़ भी चन्दन बन जाते हैं ?"

"दाता के घर में सब कुछ है, बेटा।" कहते हुए पुजारी जी ने उसे दूध पीने का आदेश दिया।

दोनों पीने लगे। दूध पीते-पीते पुजारी जी ने सुनीता से कहा—"चन्दन का बिस्तर स्टोर वाले कमरे में लगा देना। यहां इसे तकलीफ होती होगी, जगह तंग होने से।"

४९

चन्दन को लगा जैसे एक ही रात में उसकी आत्मा पर लदा हुआ बोझ उतर गया है—पुजारी जी के रात वाले वक्तव्य ने जैसे धन्वंतरि की पुड़िया बनकर उसके मन और शरीर को नीरोग कर दिया है।

दूसरे दिन सुनीता ने उसकी चारपाई दूसरे कमरे में डाल दी। चन्दन ने देखा तिपाई पर राइटिंग पैड, कलम-दवात और एक कोरा लिफाफा भी रखा है। 'क्यों रखा है ?' वह सोच ही रहा था कि सुनीता आ पहुंची यह कहते हुए—"घर पर चिट्ठी लिख दीजिए न। बेचारे फिक्र करते होंगे। क्या जाने आपके बारे में उन्हें सूचना मिल चुकी हो कहीं से।"

चन्दन आश्चर्यचकित रह गया सुनकर, मानो सुनीता ने उसके मन की बात पकड़ ली हो। वह तो उसी समय से पत्र लिखने की सोच रहा था जब से उसे होश हुआ।

"और हां," सुनीता ने और कहा—"अपने घायल होने के बारे में उन्हें कुछ मत लिखिएगा नहीं तो वे घबरा जाएंगे। यही लिख दीजिए कि भला-चंगा हूं और जल्दी ही आ रहा हूं।"

चन्दन हैरानी मे डूबा जा रहा था। वह सुनीता का कौन होता है ? सुनीता उसकी कौन होती है जो इस तरह उसे आदेश दे रही है, जैसे उसे चन्दन पर इसका अधिकार हो। इतना तो वह जान चुका था कि गत थोड़े ही दिनो में सुनीता ने जिस हार्दिक लगन से उसकी सेवा की है यह कोई सगा-सम्बन्धी ही कर सकता है—तभी तो उसने बिना आगा-पीछा सोचे, बिना सुनीता के पूछे अपने बारे में सब बातें उसे कह सुनाई थी। पर कोई कुमारी लड़की सेवाभाव मे रत होकर किसी बेगाने व्यक्ति पर इतना अधिकार भी रख सकती है, यह उसकी बुद्धि से परे की बात थी।

"अच्छा, यही लिखे देता हूं।" वह बोला—"आप तो अन्तर्यामी हैं सुनीता जी। मैं ये चीज़ें आपसे मागने ही वाला था।"

सुनकर सुनीता के होंठों पर मंद मुस्कान फैल गई। वह जब लौटने लगी तो चन्दन ने उसे रोका—मानो सुनीता की किसी भूल पर उसका ध्यान जा पड़ा हो, "ज़रा रुकिए।"

"कहिए।" कहते हुए वह कुर्सी पर बैठ गई।

वह बोला—"क्या कहा आपने कि अपने घायल होने के बारे मे उन्हें कुछ न लिखूं ?"

"हां," वह बोली—"बताया तो, कि बेचारे चिन्ता मे डूब जाएंगे।"

"सो तो आपने ठीक कहा, सुनीता जी। आपको अगर उन लोगों के चिन्तित होने की चिन्ता है तो इधर मुझे भी कम नहीं है। पर अगर यह नहीं लिखूंगा तो फिर अपने प्राण-दाताओं के बारे मे उन्हें कैसे लिख पाऊंगा ?"

"छोड़िए भी।" सुनीता उसी अधिकारपूर्ण ढग से बोली—"एक ही बात को बार-बार रटे चले जाते हो। प्राणों को देने की शक्ति उसीके हाथ मे है जिसने हमें ये दिए हैं। मेरे प्राण भी तो किसी ने बचाए थे। पर जब-जब भी मैं इस बात को ज़बान पर लाने का साहस करती, बापू जी मुझे वही कहकर रोक दिया करते, जो मैं आपको सुना चुकी हूं।"

"आपका कहना सच है, सुनीता जी। पर आपकी तो केवल प्राणरक्षा ही हुई थी न। और मेरी न केवल प्राणरक्षा की ही बात है, बल्कि इससे कहीं बढ़कर कुछ और भी।"

"वह क्या ?" सुनीता ने पूछा।

वह बोला—"आप तो यही बता चुकी हैं न कि आज से दस साल पहले एक दिन पिता जी ने मेरी ही तरह आपको भी जीवन-दान दिया था। पर मैं तो धर्म, इखलाक और इन्सानियत के तौर से भी मर चुका था—पैसे के पीछे पड़कर। पैसे की खातिर चोरी, बेईमानी, खून सभी कुछ कर गुज़रने को तैयार था। और इससे भी बड़ा अनर्थ यह कि सभी कुछ धर्म-मजहब के नाम पर करता रहा, मानो 'सिख' होने के नाते ये सब करना मेरा कर्तव्य था। सच कहता हूं, सुनीता जी, आप दोनों की कृपा से न केवल मुझे जीवन मिला, बल्कि जीवन का रहस्य भी। कौन होगा इस दुनिया में, जो अपने कातिल को···?"

सुनीता बीच में ही बोली—"यह जो बातें आप बार-बार दोहराते हैं, चन्दन जी, सच जानिए, इनमें मेरे लिए कुछ भी नया-अनोखा नहीं है। एक समय था जब मैं भी आप ही की तरह बापू जी के सामने ऐसी बातें दोहराया करती थी। कहती थी—बापूजी, मैं तो डायन-चुड़ैल से भी बढ़कर थी। दिन-दिन-भर लोगों को गालियां देती, उनपर कीचड़-मिट्टी फेंकती और न जाने क्या-क्या उपद्रव किया करती थी। और मेरी इन सब बातों के उत्तर में बापू जी एक पंजाबी दोहे की पंक्तियां सुनाकर ही मेरा मुंह बन्द कर देते थे।"

"कौन-सी पंक्तियां?" चन्दन के पूछने पर सुनीता ने उत्तर देने के स्थान पर दीवार की ओर संकेत करते हुए कहा—"वह देखिए।"

चन्दन ने देखा, वहां पर मोटे अक्षरों में लिखा एक माटो लटक रहा था :

"बुरे नाल सब बुरा करेंदे, मुआफ करन कुछ सियाणें।
बुरे नाल पर नेकी करनी, इक कोई विरला जाणें॥"[1]

पढ़ लेने के बाद चन्दन के होंठों पर मौन की छाप लग गई। सुनीता उसी दोहे की व्याख्या में कहे जा रही थी :

"साधारण मनुष्यों में और महापुरुषों में बस इतना ही अन्तर है। सो हमें समझ लेना चाहिए—मैं 'आपको' के स्थान पर 'हमें' शब्द का इसलिए प्रयोग कर रही हूं कि हम दोनों की स्थिति थोड़े-बहुत अन्तर से एक जैसी है—कि जिसने हमें जीवन दिया, और जीवन के साथ हमारी अन्तर की आंखें भी खोलीं उसका अहसान

---

१. बुरे आदमी के साथ सब कोई बुरा वर्ताव करते हैं। कुछ लोग ऐसे भी होंगे जो उसे क्षमा कर दें। पर संसार में कोई विरला ही ऐसा होगा जो न केवल बुरे आदमी को क्षमा कर दे, बल्कि उसके साथ नेकी भी करने लगे।

चुकाने के लिए हमें न तो उसका धन्यवाद करने की जरूरत है, न ही बार-बार इन बातों को दोहराने की। जरूरत है तो इस बात की कि हम वही बनकर दिखाएं जैसा वे चाहते है, जैसी वे हमसे आशा करते है। यह सामने वाला मोटो आपने पढा न ? आपने शायद ध्यान नहीं दिया होगा। इस घर के सभी कमरों मे बापू जी ने इसकी प्रतिलिपियां लगा रखी है। वे कहा करते है कि अगर मुझसे कोई जीवन का रहस्य केवल दो वाक्यो मे पूछे तो उसे यही दोहा सुना दूगा। और वे '''।"

सहसा सुनीता वाक्य को अधूरा छोडकर पुजारी जी की ओर उठ भागी—शायद उनके कण्ठ-स्वर को सुनकर। लकडी की दीवार होने से उधर की आवाज़ इधर सुनाई दे जाती थी।

सुनीता के चले जाने पर चन्दन पत्र लिखने लगा।

५०

चन्दन का शरीर भला-चंगा दिखाई देने लगा। उसके घाव द्रुतगति से भरते जा रहे थे। पर पुजारी जी की हालत मे परिवर्तन नही हुआ—न ही उनका बुखार टूटा। निर्बलता उत्तरोत्तर बढे जा रही थी। फिर भी चन्दन के साथ बातें करने का क्रम उन्होने नही रोका—सुनीता के बार-बार बरजने पर भी नही। इसीके अन्तर्गत उन्होने सुनीता की प्राप्ति से लेकर अब तक की सब घटनाए उसे कह सुनाई।

पुजारी जी की देख-भाल करने वालों का आना-जाना कम हो रहा था, पर इसकी ओर न तो पुजारी जी ने, न ही सुनीता ने अधिक ध्यान दिया। जब सुनीता ने उन्हे बताया कि वह चन्दन नामधारी इस व्यक्ति को पहले से ही जानती है तो पुजारी जी को और भी सन्तोष हुआ। उन्होने चुपके से ही सरदार शमशेरसिंह की कोठी पर अपना एक सेवक भेजकर उन लोगों को चन्दन के बारे मे सूचना दे दी।

चन्दन की इच्छा थी कि वह यहा से निकलकर सीधा गांव चला जाए। पर ऐसा करना उसके लिए सहल नहीं था, जबकि उसका प्राण-रक्षक, उसका मुक्ति-दाता इस समय जीवन और मृत्यु के बीच लटक रहा था। फिर भी पुजारी जी ने यदि सन्देश भेजना ही योग्य समझा तो न जाने क्या सोचकर।

पुजारी जी का खयाल था कि सूचना पाते ही शमशेरसिंह के घरवालों में से कोई न कोई अवश्य ही आ पहुंचेगा—चन्दन का हालचाल देखने को। पर कल छोड़ जब आज भी वहां से कोई नहीं आया तो उन्हें चन्दन को यह बात बतानी ही पड़ी। सुनकर वह बोला—"पिता जी, आप अगर मुझसे पूछ लेते तो हर्गिज आपको ऐसा न करने देता। चलो अच्छा ही हुआ जो उधर से कोई नहीं आया, जबकि मुझे वहां जाना ही नहीं है।"

"जाने को मैं तुम्हें नहीं कहता, बेटा !" वे बोले—"मैंने यही सोचकर सन्देश भेजा था कि तुम्हारी चिन्ता में न जाने कितने परेशान होंगे वे लोग।"

"आप भूलते हैं, पिताजी," चन्दन बोला—"उन्हें मेरी नहीं, अपने काम की चिन्ता थी, और वह काम, यानी चुनाव खतम हो गया तो अब उन्हें मेरी क्या जरूरत ? यूं तो पहले भी उन्हें आज़मा चुका हूं, पर अपने ही स्वार्थ या लोभ ने मुझे फिर से उन लोगों के साथ बांध दिया।"

चन्दन ने हिसाब लगाया कि कल से चुनाव-परिणाम निकलने आरम्भ होंगे।

तभी सुनीता बोल उठी—"मेरी इच्छा है, बापू जी, कि क्यों न मैं ही आज उनकी कोठी चली जाऊं। हरजीत को देखे बहुत दिन हो गए हैं, उससे भी मिलती आऊंगी।" फिर चन्दन से बोली—"आपका क्या खयाल है चन्दन जी ?"

उत्तर में पुजारी जी ने तो उसे अनुमति दे दी, पर चन्दन आनाकानी करते हुए बोला—"अगर एक-आध दिन और ठहरकर चली जाओ तो क्या हर्ज है सुनीता जी !" फिर कुछ सोचकर बोला—"अच्छा तो यही है कि आप न जाएं। आपको हरजीत की ट्यूशन क्यों छोड़नी पड़ी या क्यों छुड़ा दी गई, इसके बारे में सब सुन चुका हूं।"

"अरे," सुनीता हड़बड़ाकर उठ खड़ी हुई—"मुझे तो टेम्परेचर लेना था।"

"हरारत बढ़ गई क्या ?" सुनीता के चेहरे पर चिन्ता के चिह्न देखकर चन्दन ने जब पूछा तो वह ढीले-से स्वर में बोली—"नहीं, ऐसा बढ़ा तो नहीं है।"

मुंह में से थर्मामीटर निकलते ही पुजारी जी चन्दन से कहने लगे—"तुम भूलते हो चन्दन, अगर सोचते हो कि उन लोगों ने इसे हिन्दू समझकर ट्यूशन से अलग कर दिया है तो इसे उसकी शक्ल भी नहीं देखनी चाहिए। भोले युवक, यह तो स्वाभाविक ही है कि जब भी कोई धरती की सतह से ऊपर उठने का यत्न करेगा धरती अवश्य ही उसे अपनी ओर खींचेगी और तब तक खींचती ही रहेगी

जब तक कि वह उसकी आकर्षण-सीमा से बाहर नहीं हो जाता। सुनीता या मैं, या तुम किसके पनिहार हैं, जबकि बड़े-बड़े अवतारों, पैगम्बरों को भी इस आकर्षण से जूझना पड़ा। प्रह्लाद को तपे स्तम्भ के आलिंगन, सीता को अग्नि-परीक्षा, ईसा को सूली और गुरु नानक को 'कुराही' (पथ-भ्रष्ट) का पुरस्कार क्यों मिला? यहां तक कि बीसवीं शताब्दी के महापुरुष गांधी जी को भी पिस्तौल की गोलियों का प्रसाद मिला। सो यह सिलसिला तो परम्परागत है और चलता ही रहेगा। फिर सोचो कि बेटी को यदि इसी दोष के बदले वहां से भगा दिया गया कि यह हिन्दू की सन्तान होकर हिन्दू लोगों के लिए स्नेह रखती है, तो यह क्या अनहोनी बात थी?"

थोड़ा रुकने के बाद वे फिर बोले—"इसकी बात तो छोड़ो, उस रात जो कुछ तुमने अपनी आखों देखा—वे लोग भी तो हिन्दू ही थे, और अपने हिन्दुत्व का पालन करने को ही यहां आए थे न। उनके हिन्दुत्व ने क्या कुछ कम करामात दिखाई? जो लोग कल तक मानवता के प्रेमी होने का दावा करते थे, आज इस रास्ते से गुजरने के भी रवादार नहीं हैं। सच बात कहूं चन्दन! मैंने जो तुम्हारे मित्र-परिवार को तुम्हारे यहां होने की सूचना दी तो इसका असल कारण यह था कि मुझे इस बात का हर समय डर लगा रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि वे लोग—जो उस रात विषवमन करते हुए यहां से लौटे थे—यहां पर हल्ला बोलकर तुम्हारा अनिष्ट कर दें।"

चन्दन की आखें झुकी हुई थी। वह बोला—"पिता जी, अगर वे ऐसा करेंगे तो मैं समझता हू कि ऐसा करने का उन्हें अधिकार है, जबकि मेरे जैसे पापी के साथ ऐसा होना ही चाहिए।"

वे बोले—"चन्दन, तुम्हारी तरह यदि हर कोई ऐसा ही सोचने लगे तो फिर झगड़ा ही किस बात का बाकी रह जाए! पर क्या सब कोई ऐसा सोचते हैं? इधर तुम हो कि पाप करके भी धर्मी बन गए। और उधर ये हैं, जो धर्मी कहलाते हुए भी पाप करने मे गौरव समझते हैं। हिन्दू क्या और सिख क्या, इस समय दोनों ओर आग लगी हुई है, और दोनो ओर से उस आग पर तेल का प्रयोग किया जा रहा है। और यदि यही···।"

सुनीता ने टोका—"बापू जी, हरारत बढ़ने लगी है।" फिर चन्दन से बोली—"चन्दन जी, इन्हें रोकिए, नहीं तो तकलीफ बढ़ जाएगी।"

और जब दोनों पुजारी जी के बोलने में बाधा डालने लगे तो उन्हें अपने प्रसंग को अधूरा छोड़कर चुप हो जाना पड़ा।

५१

दिन होते ही अमृतसर के लोगों की बाढ़ ज़िला कचहरी की ओर उमड़ पड़ी। पोलिंग के समाप्त होते ही शहर में चुनावों का हो-हल्ला बन्द हो चुका था। अब जो बाकी था तो चुनावों का परिणाम। कौन जीतेगा, कौन हारेगा—यही प्रसंग सब किसी-की ज़बान पर था।

सरदार शमशेरसिंह की कोठी पर आज विशेष रौनक दिखाई दे रही थी। उन्हें जीत जाने की न केवल आशा थी, अपितु विश्वास भी था, जबकि उनकी जान-पहचान वाले सभी की ज़बान से यही भविष्यवाणी निकल रही थी।

वर्करों की सवेरे से ही लामडोर बंधी थी। जिन लोगों ने गत दो-अढ़ाई महीने से उनकी खातिर अपनी नींद-भूख हराम कर रखी थी, अपने देवता द्वारा वरदान प्राप्त करने का उनके लिए यही तो अवसर था।

कई दिन पहले से ही बैण्ड बाजे की एक छोड़ तीन टोलियों का प्रबन्ध कर लिया गया था। यह इसलिए कि शहर में इनकी बहुत मांग थी। जिन उम्मीद-वारों को अपनी विजय का विश्वास था वे जानते थे कि यदि पहले से ही प्रबन्ध न कर लिया गया तो समय पर इनकी प्राप्ति कठिन हो जाएगी। और शमशेरसिंह इस कठिनाई से अनजान नहीं थे। बैण्ड बाजे के अतिरिक्त आतिशबाजी की भी योजना थी।

आज जिस हलके का नतीजा सुनाया जाने वाला था उसके तीन उम्मीदवार थे—एक कांग्रेसी और दो स्वतन्त्र। और यह नतीजे ज़िला कचहरी के अहाते में सुनाए जाने थे।

दोपहर होते न होते शमशेरसिंह की कोठी खाली होने लगी—सबने ज़िला कचहरी पर मानो धावा बोल दिया। इसी बीच में सरदार जी की कार गैरिज से निकलकर मेनगेट पर आ पहुंची। गाड़ी के कैरियर में पंसेरियों फूल-मालाएं भर दी गई थीं।

सरदार जी अपने कमरे से निकलकर गाड़ी की ओर बढ़े, जिन्हें देखते ही

भीड़ ने रास्ता छोड़ दिया और उन्हें बहुत-से निकटवर्तियों ने घेर लिया। वे सब किसीके प्रश्नों का यथायोग्य उत्तर देते हुए गाड़ी के समीप आ पहुंचे—व्रिजेन्द्र भी उनके साथ था।

जैसे ही दोनों बाप-बेटे गाड़ी में सवार हुए कि बाहर खड़े एक वर्कर ने आगे बढ़कर कहा—"मैंने कहा जी, सरदार चन्दनसिंह के बारे में क्या हुक्म है? वह बेचारा बहुत बुरी हालत में सुना जाता है। उसकी ओर से सन्देश आया था।"

सीट पर जमकर और दवाई की दो गोलियां मुह में डालकर लीलते हुए वे किसी और सज्जन से कुछ कहने अथवा सुनने में लगे थे, जिससे वर्कर की बात वे नही सुन सके।

प्रश्नकर्ता ने उत्तर न पाकर जब दूसरी बार वही बात दोहराई तो कदाचित् व्रिजेन्द्र से यह ढिठाई सहन नही हो सकी। उसने खीझकर उससे पूछा—"किसकी बात कह रहे हो?"

"जी, सरदार चन्दनसिंह के बारे में अर्ज कर रहा हू।"

"कौन चन्दनसिंह?"

"वही तो, अपना हेड वर्कर, जिसके बारे में सन्देश आया था कि'''।"

इधर बातचीत करने वाले निकटवर्तियों ने गाड़ी को घेर रखा था, उधर कचहरी जाने में देर हो रही थी। सरदार जी एक को खुसर-फुसर से अवकाश पाते कि कोई दूसरा आगे बढ़ आता, फिर तीसरा, फिर चौथा। इसपर कठिनाई यह कि आज उनकी तबियत कुछ अधिक ही बिगड़ी-सी जान पड़ रही थी, जिससे पास बैठे व्रिजेन्द्र की झुंझलाहट बढ़ी जा रही थी। वह नही चाहता था कि उसके पापा जी को इस हालत में परेशान किया जाए। इसी बीच जब उसने वर्कर को बार-बार एक ही बात की रट लगाते सुना, तो उसकी झुंझलाहट और बढ़ी। वह उसे रोककर बोला—"समझ लिया। अच्छा, देखा जाएगा।"

और गाड़ी स्टार्ट हुई—भीड़ छंट गई।

कचहरी के अहाते में मानो दीवाली-वैशाखी का मेला लगा था। तीनों उम्मीदवारों की बड़ी-बड़ी टोलियां इधर से उधर घूम रही थीं। कुछ दूरी पर लाल-पीली वर्दियों में सुसज्जित बैण्ड वाले जहां-तहां बैठे गपशप कर रहे थे अथवा बीड़ी-सिगरेट के कश लगा रहे थे।

पोलिंग आफीसर का कमरा खचाखच भरा था—बैलेट बक्सों से, काउंटिंग क्लर्कों से और चेकरों से। इसके अतिरिक्त तीनों उम्मीदवारों के प्रतिनिधि मानो उन लोगों के सिरों पर नंगी तलवारें लटकाए खड़े थे, जो कहीं गोल-माल न हो जाए। कमरे के दरवाज़े बन्द होने पर, दर्शक लोग उनके शीशों से आंखें गड़ाए भीतर की कार्रवाई देखने का असफल-सा यत्न कर रहे थे। पुलिस वाले चाहे कड़ाई से उन्हें पीछे हटाने का यत्न कर रहे थे, पर व्यर्थ। सब कोई परिणाम की घोषणा सुनने को आकुल थे।

अन्ततः निश्चित समय से एक-डेढ़ घण्टा देर में, परिणामों की सूची हाथ में लिए पोलिंग आफीसर कमरे से बाहर निकलता दिखाई दिया, जिसे देखते ही आन की आन में बहुत बड़ी भीड़ ने उसे घेर लिया पर पुलिस की सहायता से भीड़ को खदेड़कर, केवल उम्मीदवारों और उनके सहायकों को ही वहां पर खड़े रहने दिया गया। शमशेरसिंह की तबियत खराब होने के कारण उन्हें गाड़ी में ही रहने दिया गया था। उनके स्थान पर ब्रिजेन्द्र और कुछ दूसरे उनके साथी यहां पर उपस्थित थे।

नतीजा सुना दिया गया—"कांग्रेसी उम्मीदवार सफल और शेष दोनों—सरदार शमशेरसिंह और···असफल।"

गाड़ी में बैठे-बैठे, जैसे ही शमशेरसिंह के कान में यह अपशकुन-भरी आवाज़ पड़ी कि उनकी तबियत और भी बिगड़ने लगी—हार्ट-ट्रबल के रूप में। सहायकों ने उन्हें संभालकर सीट पर लिटा दिया।

ब्रिजेन्द्र अभी नतीजे के प्रहार से संभल भी नहीं पाया था कि पापा जी की खबर ने उसपर वज्रपात कर दिया। भागते हुए वह गाड़ी में आ घुसा। उसके पापा जी बेहोश थे।

दोनों परिणामों के बारे में खासा हाहाकार-सा मच रहा था। जितनी ज़बानें उतने ही अनुमान···।

"···यह सब चार सौ बीस है जी···।"···"वोट गिनते समय हेरा-फेरी हुई···" "नहीं तो भला कहीं ऐसा संभव था?···" "उजरदारी करेंगे···"··· ···"हाईकोर्ट तक लड़ेंगे···।"

शमशेरसिंह की कार घिरी थी। हज़ार यत्न करने पर भी जब उसे भीड़ से बाहर निकालने का रास्ता नहीं मिल पाया तो ब्रिजेन्द्र को पुलिस की सहायता लेनी पड़ी। मानो गाड़ी में कोई तमाशा चल रहा हो, जिसे देखने को लोग मंडराए चले

आ रहे थे।

इसी समय भीड़ को ठेलते हुए सुनीता वहां आ पहुंची, जो शायद रिक्शे में सीधे घर से चली आ रही थी, और जिसे अभी तक नतीजे के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ था।

सुनीता खिड़की में से भीतर झांकते हुए त्रिजेन्द्र को एक ही सांस में कह गई—"भैया! भैया! आपके दोस्त ने मुझे भेजा है। वे अब काफी ठीक हैं—जान बच गई। वे आपसे मिलना चाहते हैं। आज आप किसी वक्त...।"

और जब त्रिजेन्द्र की ओर से उसे कुछ भी उत्तर नहीं मिला—न ही त्रिजेन्द्र ने उसकी ओर ताका, तो सुनीता ने पहले से भी अधिक ऊंचे स्वर में चिल्लाना आरम्भ किया—"भैया! क्या आप सुन नहीं रहे हैं? मैं आपके दोस्त चन्दनसिंह के बारे में...।" तब भीतर से आई एक कर्ण-कटु आवाज़ ने सुनीता की ज़बान बन्द कर दी—"जहन्नुम में जाए...मरने दो साले को...।"

गाड़ी ने जब गति पकड़ी तो भीड़ ने पुलिस के डंडों से डरकर रास्ता छोड़ दिया। गाड़ी 'भौं-भौं' करती हुई कचहरी के अहाते से बाहर हो गई। बैण्ड बाजे वाले ग्रुप—जो जलूस में सम्मिलित होने के लिए पांच-छः घण्टे से प्रतीक्षा कर रहे थे—दूर बैठे, आंखें फैलाए ताकते रह गए।

खड़े-खड़े सुनीता के कानों में वही दो वाक्य प्रतिध्वनित होकर गूंज रहे थे—"जहन्नुम में जाए...मरने दो साले को..."

५२

बुखार उतरने पर जैसे रोगी के शरीर में शिथिलता आ जाती है—उसका छटपटाना और 'हाय-हाय' करना बन्द हो जाता है, अमृतसर शहर की वैसी ही स्थिति थी, जब चुनावों का क्रम समाप्त हुआ। गत दो-अढ़ाई महीने से जो हड़बोंग मच रहा था, देखते ही देखते शान्त हो गया। प्रोपेगण्डा के जिन दफ्तरों में दिन-रात चहल-पहल रहती थी वहां उल्लू बोलने लगे। मानो यहां पर कभी कुछ हुआ ही नहीं था। वातावरण में से कटुता स्वतः ही कम होती जा रही थी, पर इसका यह अर्थ नहीं कि हिन्दुओं और सिखों के दिलों में अब पहले वाली कुढ़न रही; [illegible] कुछ न कुछ अन्तर तो पड़ा ही, चाहे ऊपरी तौर से। दोनों [illegible]

मर मिटने वालों के लच्छेदार लैक्चरों में आकर जिन लोगों ने 'बाईकाट' की प्रतिज्ञाएं ले रखी थीं, अपने-अपने काम-काजी मामलों में रुकावटें पड़ते देखकर शनैः-शनैः उन प्रतिज्ञाओं के बन्धन से मुक्त होने लगे। फलतः घरों, दुकानों और कारखानों से निकाले हुए नौकर-कर्मचारियों को फिर से बुलाया जाने लगा।

चन्दन को पुजारी जी के घर में आए एक सप्ताह से ऊपर समय हो चुका था, और इतने थोड़े समय में ही वह घर में इस तरह से हिल-मिल गया, मानो इसी घर का सदस्य हो। सुनीता के साथ अब वह पूर्णतया निस्संकोच बातें करने लगा। कभी-कभी, जब वह उसे अपने गांव की बातें सुनाता तो सुनीता गहरी रुचि से सुनती। वह प्रायः उसे कहा करती—"ग्रामीण जीवन मुझे बहुत ही भला लगता है। बचपन में जब कभी भी मैं अपने ननिहाल में जाती तो कितनी प्रसन्नता होती थी। यों तो हमारे यहां भी बाग-बगीचे थे, पर गांवों की बात कुछ दूसरी ही होती है।"

घाव भर जाने पर अब चन्दन थोड़ा-बहुत चलने-फिरने लगा था, पर पुजारी जी की स्थिति पहले से कहीं अधिक चिन्ताजनक थी। बुखार ऐसा लगा कि छूटने का नाम ही नहीं ले रहा था। पर इतना होने पर भी उनकी बातचीत का ढंग बीमारों जैसा नहीं जान पड़ता था। उनके मकान पर रौनक चाहे नहीं दिखाई देती, फिर भी एकदम बन्द नहीं हो गई। उनके श्रद्धालुओं में कुछ ऐसे भी थे जिनके सिर पर साम्प्रदायिकता का भूत सवार होने नहीं पाया, और वे हर प्रकार से अपने गुरुदेव का ध्यान रख रहे थे। जैसे-जैसे चुनावों की बातें लोगों को भूलती जा रही थीं उसी क्रम से पुजारी जी की ओर लोगों का ध्यान भी खिचने लगा।

उस दिन जब चन्दन को सुनीता द्वारा अपने मित्र ब्रिजेन्द्र के बारे में सूचना मिली तो उसे बहुत दुःख हुआ। चाहे ब्रिजेन्द्र के बारे में उसे कोई अधिक आशा नहीं थी, फिर भी वह यह नहीं जानता था कि वह इतना निष्ठुर सिद्ध होगा। अधिक नहीं तो इतनी आशा तो उसे थी ही कि वह दिखावे के तौर पर ही सुनीता के जाने पर या तो उसे मिलने आएगा या अपना कोई आदमी ही भेजेगा। पर सुनीता की बात ने उसे विश्वास करा दिया कि उसकी यह आशा निराधार थी। उसे बार-बार यह सोचकर दुःख होता कि यदि ब्रिजेन्द्र का बाप चुनाव हार गया है तो इसमें उसका क्या दोष? उसने तो जान लड़ाने में कुछ भी उठा नहीं रखा था। क्या इस सबके बदले में उसे यही पाना था कि—'जहन्नुम में जाए'''मरने

दो साले को' ?

बहुत दिनों के आंधी-पानी के बाद मौसम निखर आया था। चन्दन अब रेल-मोटर का सफर करने योग्य था। घरवालों को उसने पत्र द्वारा अपनी कुशल-क्षेम लिख भेजी थी और साथ ही यह भी कि जल्दी ही वह गांव लौट आएगा। पर यह 'जल्दी' वाली बात कृतकार्य कैसे हो, इसीकी समझ उसे नहीं आई। क्या वह पुजारी जी को इस हालत में छोड़कर चला जाए? इतनी कृतघ्नता? यों पुजारी जी ने अलग और सुनीता ने अलग उसे बार-बार कहा कि उसे गांव हो आना चाहिए। पर उसका मन नहीं माना।

आज भी रात सोने से पहले जब सुनीता पूर्ववत् उसके पास आकर बैठी तो बातों ही बातों में उसने उसी बात को दोहराया। और उत्तर में चन्दन ने एक ऐसी बात मुंह से निकाल दी जिसे सुनकर सुनीता न केवल चुप हो गई बल्कि रुष्ट होकर उठ गई। चन्दन ने कहा—"सुनीता जी, कहीं आप लोगों को मेरा यहां पड़े रहना अखरने तो नहीं लगा है?"

सुनीता के उठ जाने पर उसे कितना पश्चात्ताप हुआ। इसीसे बहुत रात बीत जाने पर भी उसे नींद नहीं आ रही थी। वह करवट पर करवट ले रहा था। दो-एक बार जब वह दूसरे कमरे में पुजारी जी को देखने के लिए गया तो उसकी बराबर इच्छा बनी रही सुनीता से क्षमा-याचना करे, पर ऐसा अवसर उसे नहीं मिल पाया।

बिस्तर में लेटे-लेटे उसका मन न जाने कहां-कहां के चक्कर काटे चला आ रहा था—कभी गांव में, कभी ब्रिजेन्द्र की कोठी में और कभी बदरा नेमसिंह वाले अपने निवास-स्थान पर। सब ओर से घूम-फिरकर अन्ततः उड़कर मन उसी सुनीता की नाराजी के शीर्षक पर आ टिकता।

इसी मनोस्थिति में सहसा उसके कानों के पर्दे से 'टुन' का स्वर टकराया, जैसे तानपूरे की तार को किसीने छेड़ा हो।

'क्या इतने दिनों बाद आज पुजारी जी को अपने प्रिय वाद्य की याद हो आई?' सोचते हुए उसका ध्यान उसी ओर खिंच गया।

तानपूरे पर उत्तरोत्तर टुनकारें पड़ने लगीं, और इन टुनकारों के रस में चन्दन कुछ ऐसा खो गया कि उसपर उन्माद का-सा रंग छाने लगा। उसे अपने अन्तर में एक प्रकार के माधुर्य का-सा संचार होता जान पड़ा

मर मिटने वालों के लच्छेदार लैक्चरों में आकर जिन लोगों ने 'बाईकाट' की प्रतिज्ञाएं ले रखी थीं, अपने-अपने काम-काजी मामलों में रुकावटें पड़ते देखकर शनैः-शनैः उन प्रतिज्ञाओं के बन्धन से मुक्त होने लगे। फलतः घरों, दुकानों और कारखानों से निकाले हुए नौकर-कर्मचारियों को फिर से बुलाया जाने लगा।

चन्दन को पुजारी जी के घर में आए एक सप्ताह से ऊपर समय हो चुका था, और इतने थोड़े समय में ही वह घर में इस तरह से हिल-मिल गया, मानो इसी घर का सदस्य हो। सुनीता के साथ अब वह पूर्णतया निस्संकोच बातें करने लगा। कभी-कभी, जब वह उसे अपने गांव की बातें सुनाता तो सुनीता गहरी रुचि से सुनती। वह प्रायः उसे कहा करती—"ग्रामीण जीवन मुझे बहुत ही भला लगता है। बचपन में जब कभी भी मैं अपने ननिहाल में जाती तो कितनी प्रसन्नता होती थी। यों तो हमारे यहां भी बाग-बगीचे थे, पर गांवों की बात कुछ दूसरी ही होती है।"

घाव भर जाने पर अब चन्दन थोड़ा-बहुत चलने-फिरने लगा था, पर पुजारी जी की स्थिति पहले से कहीं अधिक चिन्ताजनक थी। बुखार ऐसा लगा कि छूटने का नाम ही नहीं ले रहा था। पर इतना होने पर भी उनकी बातचीत का ढंग बीमारों जैसा नहीं जान पड़ता था। उनके मकान पर रौनक चाहे नहीं दिखाई देती, फिर भी एकदम बन्द नहीं हो गई। उनके श्रद्धालुओं में कुछ ऐसे भी थे जिनके सिर पर साम्प्रदायिकता का भूत सवार होने नहीं पाया, और वे हर प्रकार से अपने गुरुदेव का ध्यान रख रहे थे। जैसे-जैसे चुनावों की बातें लोगों को भूलती जा रही थीं उसी क्रम से पुजारी जी की ओर लोगों का ध्यान भी खिचने लगा।

उस दिन जब चन्दन को सुनीता द्वारा अपने मित्र ब्रिजेन्द्र के बारे में सूचना मिली तो उसे बहुत दुःख हुआ। चाहे ब्रिजेन्द्र के बारे में उसे कोई अधिक आशा नहीं थी, फिर भी वह यह नहीं जानता था कि वह इतना निष्ठुर सिद्ध होगा। अधिक नहीं तो इतनी आशा तो उसे थी ही कि वह दिखावे के तौर पर ही सुनीता के जाने पर या तो उसे मिलने आएगा या अपना कोई आदमी ही भेजेगा। पर सुनीता की बात ने उसे विश्वास करा दिया कि उसकी यह आशा निराधार थी। उसे बार-बार यह सोचकर दुःख होता कि यदि ब्रिजेन्द्र का बाप चुनाव हार गया है तो इसमें उसका क्या दोष? उसने तो जान लड़ाने में कुछ भी उठा नहीं रखा था। क्या इस सबके बदले में उसे यही पाना था कि—'जहन्नुम में जाए' 'मरने

दो साले को' ?

बहुत दिनों के आंधी-पानी के बाद मौसम निथर आया था। चन्दन अब रेल-मोटर का सफर करने योग्य था। घरवालों को उसने पत्र द्वारा अपनी कुशल-क्षेम लिख भेजी थी और साथ ही यह भी कि जल्दी ही वह गांव लौट आएगा। पर यह 'जल्दी' वाली बात कृतकार्य कैसे हो, इसीको समझ उसे नहीं आई। क्या वह पुजारी जी को इस हालत में छोड़कर चला जाए? इतनी कृतघ्नता? यों पुजारी जी ने अलग और सुनीता ने अलग उसे बार-बार कहा कि उसे गांव हो आना चाहिए। पर उसका मन नहीं माना।

आज भी रात सोने से पहले जब सुनीता पूर्ववत् उसके पास आकर बैठी तो बातों ही बातों में उसने उसी बात को दोहराया। और उत्तर में चन्दन ने एक ऐसी बात मुंह से निकाल दी जिसे सुनकर सुनीता न केवल चुप हो गई बल्कि रुष्ट होकर उठ गई। चन्दन ने कहा—"सुनीता जी, कहीं आप लोगों को मेरा यहां पड़े रहना अखरने तो नहीं लगा है?"

सुनीता के उठ जाने पर उसे कितना पश्चात्ताप हुआ। इसीसे बहुत रात बीत जाने पर भी उसे नींद नहीं आ रही थी। वह करवट पर करवट ले रहा था। दो-एक बार जब वह दूसरे कमरे में पुजारी जी को देखने के लिए गया तो उसकी बराबर इच्छा बनी रही सुनीता से क्षमा-याचना करे, पर ऐसा अवसर उसे नहीं मिल पाया।

बिस्तर में लेटे-लेटे उसका मन न जाने कहां-कहां के चक्कर काटे चला जा रहा था—कभी गांव में, कभी बिजेन्द्र की कोठी में और कभी कटरा जैमलसिंह यानी अपने निवास-स्थान पर। सब ओर से घूम-फिरकर अन्ततः उठकर मन उसी सुनीता की नाराजी के शीर्षक पर आ टिकता।

इसी मनोस्थिति में सहसा उसके कानों के पर्दे से 'टुन' का स्वर टकराया, जैसे तानपूरे की तार को किसीने छेड़ा हो।

'क्या इतने दिनों बाद आज पुजारी जी को अपने प्रिय वाद्य की याद हो आई?' सोचते हुए उसका ध्यान उसी ओर खिंच गया।

तानपूरे पर उत्तरोत्तर टुनकारें पड़ने लगीं, और इन टुनकारों के रस में चन्दन कुछ ऐसा खो गया कि उसपर उन्माद का-सा रंग छाने लगा। उसे अपने अन्तर में एक प्रकार के माधुर्य का-सा संचार होता जान पड़ने लगा—एक प्रकार

ी झुनझुनी-सी, स्पंदन-सा।

तानपूरे की तारें जैसे-जैसे गुंजरित होती गई उसी क्रम से चन्दन का हृदय रस-
भोर होता गया, और इसी रसानुभूति की लहरों में वहते हुए वह अपने में वहुत
हरा खो गया। फिर इसी खोई अवस्था में वरवस उसका गला कुछ उचारने लगा।
ह गहरे प्रेम और अनन्य श्रद्धा में रत होकर ये पंक्तियां गुनगुनाने लगा, जो किसी
मय वह अपने स्कूल में होते हुए कभी-कभी प्रार्थना के पीरियड में गाया करता
ा:

"तुम चन्दन, हम अरिण्ड वाप रे, संग तुम्हारे वासा।
नीच विरछ के ऊच भए हैं, गंध सुगन्ध निवासा॥"

पहले होंठों में, फिर तनिक ऊंचे स्वर में, और तत्पश्चात् पूर्णरूपेण लय में
ह गाए चला जा रहा था। इसीके अन्तर्गत उसे जान पड़ा जैसे दूसरे कमरे में वज
हा वाद्य भी उसके उच्चारण में साथ दे रहा है।

कव तक वह गाता रहा? इसका उसे कुछ भी भान नहीं हुआ—उसकी
चेतना अपने गाने में कुछ इस प्रकार से खो गई।

जैसे ही उसने अन्तिम पंक्ति को समाप्त किया कि किसीकी पदचाप ने उसका
स्वर भंग कर दिया। उसने सुना—"रुक क्यों गए—गाए जाइए ना।" सुनीता
कह रही थी।

उसने ध्यान से सुनीता की ओर ताका। सुनीता के चेहरे पर आज उसे ऐसा
कुछ दिखाई दिया जो इससे पहले कभी उसे दिखाई नहीं दिया था।

"आप इतना अच्छा गा सकते हैं?" सुनीता अचम्भित-सी होकर कह रही
थी—"वापू जी ने जव तानपूरा मांगा तो मैं उनके सामने उसे रखकर वहीं वैठ
गई। वहुत दिनों के वाद आज उनकी इच्छा हुई उसे वजाने की, पहले भी जव
वजाते तो मुझे गाने की फरमाइश किया करते थे। आज भी कहेंगे, यही सोचकर
मैं उनके पास वैठ गई। पर आपने तो मुझे मौका ही नहीं दिया। वे आपके इसी
गीत के साथ तानपूरा छेड़े चले गए। यह कला आपने इतने दिनों तक छुपाए क्यों
रखी भला?"

चन्दन उन्माद की सी अवस्था में वोला—"और आखिर आपने मेरी चोरी
पकड़ ही ली। यह भी कह दीजिए।"

सुनीता हंस दी—"कहावत नहीं सुनी है कि सौ दिन चोर का, एक दिन

आयु का ? अच्छा चलिए, पिताजी बुला रहे हैं।"

क्यों बुला रहे हैं ? क्या काम है उन्हें ?—चन्दन ने ऐसा कोई प्रश्न नहीं किया, और उठकर यंत्रचालित-सा सुनीता के साथ हो लिया।

५३

कमरे में जाकर चन्दन ने देखा, पुजारी जी तकिये के सहारे अधलेटी हालत में पड़े हैं। तानपूरा उनके सामने फैला पड़ा था।

"आज्ञा कीजिए, पिता जी।" उसने चरण छूते हुए कहा। तब पुजारी जी का संकेत पाकर वे दोनों दूसरी चारपाई पर बैठ गए।

"तुम इतने अच्छे गायक भी हो, चन्दन ?" पुजारी जी ने मंद मुसकान में कहा—"कितनी लोच है तुम्हारे गले में !"

"पिता जी," चन्दन थोड़ा सकुचाकर बोला—"आपकी कृपा है जो मुझे इतनी बड़ाई दे रहे हैं।" फिर उसने बात बदली—"तबियत कैसी है ?"

"अच्छी ही है।

"कहिए, क्या आज्ञा है ?"

"तुम्हारा गीत सुनकर उस दिन की बात याद हो आई, इसीलिए बुलाया है।"

"कौन-सी बात, पिता जी ?"

"उस दिन तुमने प्रायश्चित्त करने की बात कही थी न ? वही।"

"वह इच्छा तो मेरे रग-रेशे में बसी हुई है, पिता जी। कई बार उसके बारे में पूछना भी चाहा, पर आपकी तबियत ठीक न रहने से न पूछ सका।"

"और मेरी भी कई बार इच्छा हुई। ठीक ही कहा है कि मन का मन साक्षी होता है। पर आज तुम्हारे इस नये रूप को देखकर तो मेरी वह इच्छा एकदम बेकाबू हो उठी।"

"मेरे नये रूप को देखकर ?"

"हां। वही भजन सुनकर, जो तुमने अभी-अभी गाया है। इतना ही नहीं कि इसे सुनकर मुझे तुममें एक अच्छे संगीतज्ञ के गुण दिखाई दिए, बल्कि इन पंक्तियों द्वारा तुमने अपना अन्तःकरण भी मुझे दिखला दिया।"

उत्तर में चन्दन कुछ नहीं बोला—आंखें झुकाए बैठा रहा। पास बैठी सुनीता कभी उसकी ओर, कभी पुजारी जी की ओर ताके जा रही थी। मानो किसी रहस्य के प्रकट होने की प्रतीक्षा कर रही हो।

"प्रायश्चित्त करोगे, चन्दन ?" उसे मौन पाकर पुजारी जी ने पूछा।

"अगर इसके लिए आप मुझे शक्ति प्रदान करेंगे, पिता जी।"

"वह सब प्रभु के हाथ में है, पर इतना कह देना चाहता हूं कि इस मार्ग पर अग्रसर होने से पहले हममें असीम दृढ़ता होनी चाहिए। इस मार्ग पर चलना इतना कठिन नहीं है, जितना अपने लक्ष्य की ओर निन्तर बढ़े चले जाना।"

वे थोड़ा रुके, और फिर बोले—"सुनीता ने मुझे बताया कि तुम्हें यहां से चले जाने को भी न कहा जाए। मेरे अन्तर में भी न जाने क्यों, यही आकांक्षा पैदा हो आई कि यदि तुम स्थायी तौर से यहां रह सकते तो कितना अच्छा होता ! पर साथ ही······।" सहसा उनका ध्यान सुनीता पर पड़ा जो उनके अधिक बोलने पर चिन्तित दिखाई दे रही थी। वे अपने वाक्य को बीच में ही छोड़कर उससे बोले—"घबराओ मत बेटा। मैं ठीक हूं।"

बात उन्होंने कहां पर छोड़ी है, सम्भवतः वे इसे भूल गए थे। पर बातें जिस विषय पर चल रही थीं उसीके अन्तर्गत चन्दन से कहने लगे—"मेरा भाव यह है कि तुम्हारी भी तो अपनी समस्याएं हैं—अपनी ज़िम्मेदारियां हैं। और ये सब जानते हुए भी यदि मेरे मन में ऐसी इच्छा पैदा हो रही है तो इस आधार पर कि मनुष्य का मन पढ़ने की कला है मेरे पास, जिससे तुम्हारे मनोभावों को वांचने में मुझे देर नहीं लगी। और यदि उसमें कुछ कमी थी तो वह तुम लोगों के इस झगड़े ने पूरी कर दी।"

सुनीता को सिर और आंखें झुकाए बैठी देखकर पुजारी जी ने उसे सम्बोधित किया—"तुम किस फेर में पड़ गईं, बेटा ?"

"कुछ नहीं, बापू जी," सुनीता ने यह वाक्य कुछ इस ढंग से कहा जैसे किसी-ने उसकी कोई चोरी पकड़ ली हो।

"झूठ मत बोल, पुत्री।" पुजारी जी ने घुड़की और विनोद के मिले-जुले स्वर कहा—"यदि मैं एक के मन की बात समझ सकता हूं, तो क्या दूसरे की नहीं समझ पाया होऊंगा ? ठीक-ठीक बता दे, नहीं तो मुझे ही बताना पड़ेगा।"

सुनीता का सिर थोड़ा और झुक गया। उसके चेहरे पर कौमार्य-सुलभ लज्जा

की लालिमा फैल गई। उसे अधिक परेशान न करने के विचार से पुजारी जी फिर चन्दन की ओर मुड़े—"अच्छा, चन्दन, एक बात पूछता हूं। उस दिन तुमने बताया था कि पहले तुम्हारा नाम 'चन्दनराम' था, और बाद में 'चन्दनसिंह' पड़ गया। तो क्या मैं पूछ सकता हूं नाम की यह अदला-बदली का कारण ?"

चल रहे प्रसंग में चन्दन बहुत गहरी रुचि ले रहा था, पर जैसे ही पुजारी जी ने उसे छोड़ अथवा स्थगित करके उससे यह दूसरे प्रकार का प्रश्न कर डाला तो उसे यह अरुचिकर-सा लगा। वह सोचने लगा—क्या वे होश में बोल रहे हैं ? उत्तर में उसने कुछ सच और कुछ झूठ मिलाकर बता दिया जिस कारण उसका नाम परिवर्तित हुआ।

सुनकर पुजारी जी थोड़ी देर तक चुप साधे रहे। फिर सहसा बोल उठे—"नाराज मत होना चन्दन। तुम कहते हो कि तुम्हें सिखधर्म से प्रेम हो गया था। पर मुझे इसपर इसलिए विश्वास नही हो रहा है कि मैंने गुरु नानक मत का काफी अध्ययन किया है, जिसके आधार पर कह सकता हू कि गुरु नानक का शिष्य और चाहे कुछ भी हो जाए, वह फिरकापरस्त कभी नहीं हो सकता। और अगर है तो फिर उसे गुरु नानक का शिष्य कहलाने का कोई अधिकार नही होना चाहिए। क्या मैं कुछ गलत कह रहा हूं ?"

चन्दन लज्जित होकर बोला—"आपका कहना यथार्थ है, पिता जी। असल में तो मुझे गुरु नानक के मत के बारे मे न कोई ठोस जानकारी थी और न ही मेरी रुचि थी। सिख लोग मुझे यदि अच्छे लगते थे तो इसलिए कि एक सिख-परिवार ने सगे पुत्रों से भी बढ़कर मेरा लालन-पालन किया। क्षमा चाहता हूं, पिता जी, मैं आपके सामने झूठ बोला कि सिखधर्म से प्रेम होने के कारण मैं सिख बना। हकीकत यह है कि एक अखाड़ा जीतने अथवा अपने प्रतिद्वन्द्वियों को हराने के लिए मैंने ऐसा किया। आज सोचता हू कि मैं सिख नही बना, बल्कि अपना हुलिया ही बदला है। और इसी कारण मैं पथ-भ्रष्ट हुआ। अगर मैंने गुरु नानक का पथ अपनाया होता तो मुझसे वे सब पाप कभी न होते, जिनका प्रायश्चित्त करने को मैं इतना बेकरार हू।"

"खैर !" वे बोले—"सवेरे का भटका यदि रात को घर पहुच जाए तो उसे भूला नही कहना चाहिए। सो अब तुम्हे इन बातों को लेकर घुलते नही रहना'''।"

"बापू जी।" सुनीता ने उनकी बात काट दी—"आप बहुत बोल गए। अब

। आराम कर लीजिए। बाकी बातें फिर किसी वक्त सही।"

"बस बेटा।" वे बोले—"अब मुझे अधिक नहीं बोलना है—दो ही तीन बातें करनी हैं।"

और जब वे फिर से चन्दन की ओर मुड़े तो चल रही बात का क्रम उन्हें फिर गया। अतः केवल प्रसंग को ही लक्ष्य में रखते हुए बोले—"तो···तो चन्दन मैं कह रहा था···मेरा मतलब है कि······कि। अच्छा, मैं तुमसे पूछना चाहता कि भविष्य के बारे में तुम्हारा क्या विचार है?"

चन्दन श्रद्धा से ओत-प्रोत होकर बोला—"पिता जी, आपके अन्तरज्ञान पर झे विश्वास हो चुका है। मेरा निवेदन है कि जैसे आपने मेरे मन की दूसरी बातें मझ ली हैं। इसे भी जान ही गए होंगे।"

"अरे वह तो मैंने हंसी में कह दिया था।" वे हंसते हुए बोले—"अन्तर-न्तर का ज्ञान मुझे नहीं है। तुम्हें खुद ही सब बताना होगा।"

"तो पिता जी, मैं इससे अधिक कुछ नहीं बता सकता कि भविष्य में मुझे गुरु गानक का वैसा ही सिख बनना है जिसके बारे में आपने बताया है। और वह आप द्वारा ही हो पाएगा।"

वे बोले—"पर इसके सिवा यदि और कोई लालसा तुम्हारे मन में है तो उसे भी कह डालो।"

"और? और भी एक लालसा है, पिता जी, संगीत सीखने की।"

"सच?"

"हां पिता जी।"

थोड़ी देर तक वे चुपचाप, न जाने क्या-क्या सोचने में व्यस्त रहे। फिर सहसा बोल उठे—"चन्दन, इस तानपूरे को देख रहे हो?"

"देख रहा हूं, पिता जी।"

"यह मेरे गुरुदेव की देन है। इसे मैं अपने गुरुदेव जितना ही पूज्य समझता हूं। इसपर हाथ रखो।"

चन्दन ने तानपूरे को छुआ।

"जानना चाहते हो चन्दन, कि मैंने क्यों इसपर तुम्हारा हाथ रखवाया है?'

"बताइए, पिता जी।"

"मुझे तुमसे एक बात पूछनी है। और मुझे आशंका है कि कहीं तुम झूठ न

कह दो, इसीसे।"

"आप अगर यह न कहते तो भी मैं आपके सामने झूठ न बोलता।"

"पर मुझे इसका विश्वास इसीसे नही हुआ कि अभी-अभी तुमने झूठ बोला —अपने सिख बनने के बारे मे।"

"उसपर बहुत लज्जित हू, पिता जी। अब ऐसा कभी नही होगा।"

"तो मुझे अपनी उस कामना के बारे मे भी सच-सच बता दो, जो अभी तक तुमने मुझसे छुपा रखी है।"

"कामना?"

"हां, कामना! कामना करना कोई बुरी बात नहीं है, चन्दन। मनुष्य कामनाओं का ही पुलिन्दा है। पर समझने की बात यही है कि शुभ कामनाए हमें सन्मार्ग की ओर ले जाती हैं, और अशुभ कामनाए पतन की ओर।"

चन्दन पहले तो असमजस मे पड़ा, फिर बोला—"जब आपने जान ही लिया कि मेरे अन्तर में ऐसी कोई कामना छिपी हुई है तो फिर यह कैसे नहीं जान पाए होंगे कि वह कामना शुभ है या अशुभ है?"

"अगर तुम सभी बातों का भार मुझीपर डाले जा रहे हो तो सुनो। इतना तो मैं विश्वास से कह सकता हू कि तुम्हारी कामना शुभ से भी बढ़कर पवित्र है। पर बेटा, तुम्हें भूलना नही चाहिए कि इस ससार मे मुफ्त मे कभी कुछ नही मिलता है—जितनी बढ़िया चीज़ कोई लेना चाहेगा, उतना ही उसे अधिक दाम चुकाना होगा। और जिस चीज़ की तुम कामना किए बैठे हो, तुम्हें जानना चाहिए कि उसका मूल्य बहुत अधिक है सो मेरा यही कहना है कि यदि उतना मूल्य देने की सामर्थ्य है तो तुम उसे पा सकोगे, अन्यथा नही।"

बात समाप्त करने के बाद पुजारी ने उत्तर की प्रतीक्षा मे चन्दन की ओर ताका, जिसकी आंखें तानपूरे की तारो पर कुछ इस प्रकार से जमी थी मानो उन्ही से पूछ रहा हो कि बताओ, क्या उत्तर दू।

सुनीता मौन मुद्रा में बैठी इस वार्तालाप को गहरी रुचि से सुन रही थी। लम्बी पलकें उसकी आखो पर छाया-सी कर रही थीं।

"चन्दन।" पुजारी जी के स्वर मे तनिक कड़ाई थी।

"अहम्," सभारते हुए चन्दन बोला—"पिता जी।" उसका हाथ अभी तक तानपूरे पर टिका था।

"मेरी बातें सुन लीं ?"

"सुन लीं, पिता जी।"

"मन को जंचीं ?"

"देववाणी जैसी, पिता जी।"

"कीमत है ?"

"कीमत ?" चन्दन की आंखें डबडबा आईं—"मेरा दामन तो एकदम खाली है, पिता जी, 'कीमत' के नाम पर कुछ भी नहीं पा रहा हूं अपने पास। पर एक बात इस पूज्य तानपूरे को छूकर कहता हूं कि अगर विधाता मेरे साथ उधार करना मान लेंगे तो मैं कीमत चुकाने के लिए सौ जन्म लेने से भी नहीं चूकूंगा।"

उन्होंने सुनीता की ओर ताका, जो तानपूरे की पंचम की तार पर तर्जनी के पोर को शनैः-शनैः फेर रही थी। वे बोले—"नीती, सुना सब ?" उत्तर में सुनीता की ज़बान का काम उसी पंचम तार ने किया। कदाचित् घबराहट में अथवा उसी कौमार्य-सुलभ लज्जावश उसका पोर कुछ इस प्रकार से कंपकंपाया जिसके फल-स्वरूप तानपूरा 'टन' से बज उठा, मानो यही था सुनीता का वास्तविक उत्तर।

पर इतने-भर से शायद पुजारी जी सन्तुष्ट नहीं हो पाए। एक बार फिर विनोद के से रंग में आ गए—"क्या तेरे मन की बात भी बता दूं ? आज मैं अन्तर्यामी बन गया हूं नीती, चाहूं तो तेरी कामना का भेद भी खोल सकता हूं—क्या कहती हो ?"

"जाइए—मैं नहीं बोलूंगी।" सुनीता ने कृत्रिम रोष प्रकट किया और उठ खड़ी हुई।

"अरे पगली।" हाथ पकड़कर उसे बैठालने का यत्न करते हुए वे बोले—"हंसी की बात पर भी रूठा करते हैं ? याद है, तुमने एक दिन मुझे क्या कहा था ?"

सुनीता की प्रश्नसूचक आंखें पुजारी जी के चेहरे पर जा टिकीं।

"भूल गई," वे उसी रंग में बोले—"जब मैंने तुझसे तेरे भविष्य के बारे में कुछ पूछा था, और उत्तर में तूने कहा था कि पिता जी, जब भी मेरी कसौटी पर पूरा उतरने वाला कोई साथी मिल जाएगा, मैं उसे ग्रहण करने में ना नहीं करूंगी।"

सुनीता नाराज़ नहीं हुई। कदाचित् इसलिए कि वह पुजारी जी को विनोद-

मिश्रित इन वार्तों के संदर्भ में किसी गहरी आकांक्षा की छाया देख रही थी।

अनायास ही वे सुनीता की ओर से हटकर फिर चन्दन से कहने लगे—"हां, कीमत की बात कह रहा था न? तो बेटे, इस लड़की की कीमत को इस संसार में केवल मैं ही समझ पाया [redacted]। यह एक बहुमूल्य रत्न है। पर जैसा तुमने कहा है, इसका मूल्य चुकाने के लिए तुम्हें सौ जन्म लेने की आवश्यकता नहीं होगी। दूसरी बात जो मैंने प्रायश्चित्त के बारे में कही है, सो यही समझ लो कि यदि तुम वास्तविक रूप में गुरु नानक के सिख बन पाए—जैसा कि तुमने बनने की इच्छा प्रकट की है—तो फिर किसी प्रायश्चित्त का प्रश्न ही पैदा नहीं होगा।"

थोड़ा रुककर—सम्भवतः थकावट दूर करने के बाद—वे फिर बोले—"मेरे गुरुदेव ने जो महान कार्य मुझे सौंपा था, यत्न करने पर भी मैं उसे पूरा न कर पाया। और जितना कुछ किया, वह भी साम्प्रदायिकता के दैत्य ने भक्षण कर लिया। इसीसे कभी-कभी मेरी निराशा चरम सीमा तक जा पहुंचती है जब सोचता हूं कि काश, मेरा कोई उत्तराधिकारी होता, जो मेरे इस काम को फिर से आरम्भ करता! जब से इस लड़की की प्राप्ति हुई, मुझे विश्वास होने लगा कि शायद यही है मेरी उत्तराधिकारिणी, जिसे मैं खोजता था। फिर भी पूरे तौर से संतुष्ट नहीं हो पाया, और इसलिए कि सुनीता लड़का न होकर लड़की है। हर पक्ष से मेरी भावनाओं के अनुकूल होने पर भी है तो आखिर लड़की ही चाहे लाखों लड़कियों में एक। यही सोचकर कभी-कभी दिल डूबने लग जाता है कि मेरे पीछे इसका क्या होगा। इसी बीच में जब इस घर में तुम्हारा आगमन हुआ तो मैंने महसूस किया जैसे भगवान ने तुम्हें किसी विशेष प्रयोजन से यहां भेज दिया है। विशेष तौर से जब मैंने पाया कि तुम दोनों एक-दूसरे की नजरों में दिनोंदिन ऊंचे उठे जा रहे हो, तो मेरी खुशी का कोई पारावार न रहा। मुझे अपनी आशा-पूर्ति की मंजिल निकट दिखाई देने लगी।"

चन्दन को लग रहा था जैसे किसीने उसे उठाकर फूलों के ढेर पर रख दिया हो।

पुजारी जी कहे जा रहे थे—"हां, तो अब 'कीमत' के बारे में भी सुन लो। तुम्हें न केवल जीवनपर्यंत इस बच्ची का साथ निभाना होगा, बल्कि इसके साथ कदम मिलाकर अपने पंजाब का कायाकल्प करने का प्रयास भी करना होगा। इस संग्राम में कूदने में यही दो अस्त्र—संगीत और कविता—तुम लोगों की सहा-

ता करेंगे, इसका मुझे विश्वास है। यही है तुम्हारे लिए कीमत।"

सुनीता ने जब देखा कि पुजारी जी की वाणी में उत्तरोत्तर शिथिलता आ रही है तो उसने उन्हें इससे आगे नहीं बोलने दिया। उसने तकिया उनके पीछे से हटाकर उन्हें लिटा दिया। लेट जाने पर पुजारी जी ने इतना और कहकर आंखें मूंद लीं।

"चन्दन, अपनी बातों के उत्तर में अब मुझे तुमसे कुछ नहीं सुनना है। जो कुछ तुम कहना चाहते हो वह बिना तुम्हारे कहने के ही मैंने सुन लिया। जाओ, अब आराम करो।"

उत्तर में चन्दन से कुछ भी बोलते नहीं बना। वह पुजारी जी के चरणों पर माथा झुकाकर उठ खड़ा हुआ।

५४

शाम के झुटपुटे में चन्दन और सुनीता साथ-साथ प्रांगण की रविशों पर टहल रहे थे। पुजारी जी इस समय सो रहे थे, जिससे उन्हें एकांत में बातें करने का अवसर मिल गया।

चल रहे किसी प्रसंग के अन्तर्गत सुनीता मदमाती नज़रों से उसकी ओर ताकते हुए कह रही थी—"मैंने क्या झूठ कहा था कि आप चोर बनकर इस घर में घुसे हैं? बताइए तो।"

जितना रसमय प्रश्न था, उत्तर भी उसके अनुरूप ही होना चाहिए था, पर सुनीता को कुछ और ही सुनने को मिला—मानो कि उत्तरदाता ने प्रश्नकर्ता की बात सुनी ही न हो। वह बोला—"मेरी इच्छा है कि एक बार हो ही आऊं ब्रिजेन्द्र के यहां।"

"क्या कहा?" जैसे चन्दन ने उसके सम्मुख कोई अश्लील बात कह दी हो—"ब्रिजेन्द्र का मोह नहीं छूटा है इतना अपमान सहकर भी?"

"ऐसा निर्लज्ज नहीं हूं, सुनीता जी।" वह बोला—"कुछ दूसरे ही काम से जाना चाहता हूं।"

"सो क्या?"

"मेरा ख्याल है कि घर से कोई पत्र या संदेश वहां ज़रूर आया होगा। रोज़

ही तो गांव से लोग आते-जाते हैं। पहले भी कई बार ऐसा होता रहा है।"

"तब जाइए। कब तक लौटेंगे ?"

"शायद लग जाएंगे दो-एक घण्टे।"

"पर ज़रा ध्यान से। घावों के टांके अभी कच्चे हैं। रिक्शा वाले को समझा देना कि बहुत आहिस्ता से चलाए।"

"अच्छी बात है।" कहकर चन्दन चला गया।

सबसे पहले कटरा जैमलसिंह वाले मकान पर पहुंचने पर उसका सेवक अथवा मित्र महंगासिंह उसे इस प्रकार मिला जैसे सौ वर्ष के बाद मिला हो। चन्दन को सिर पर उठा लिया उसने। एक तो वर्करों के चले जाने के बाद महंगासिंह उदास था, दूसरे, उसे चन्दन के घायल होने की सूचना भी मिल चुकी थी। कितनी ही देर तक वह कुशल-क्षेम पूछता रहा।

चन्दन अपने कमरे में प्रविष्ट हुआ। सभी कुछ ज्यों का त्यों रखा था। महंगासिंह के रहते हुए किसीकी मजाल न थी जो वहां का एक तिनका भी उठा पाता।

अपना सूटकेस खोलकर चन्दन ने संभाला। फिर महंगासिंह से "अभी लौटकर आ रहा हूं," कहकर वह रेसकोर्स रोड की ओर चल दिया।

उसके कोठी पहुंचते न पहुंचते अंधेरा हो चुका था। रिक्शे से उतरकर वह गेट के भीतर प्रविष्ट हुआ। पहले जैसी रौनक वहां पर नहीं थी। सब ओर सन्नाटा दिखाई दे रहा था।

ब्रिजेन्द्र को उसने कमरे में उपस्थित पाया—मेज़ के सामने बैठा किसी चिन्ता में डूबा हुआ। जैसे ही चन्दन ने 'सत श्री अकाल' कहकर देहरी से आगे पांव बढ़ाया कि नींद से जग जाने जैसी मुद्रा में वह उसकी ओर ताका, एक विलक्षण-से अन्दाज़ से, मानो उससे पूछ रहा हो, 'अरे चन्दन! तू अभी तक जीता है?' चन्दन के माथे पर बंधी हुई पट्टी पर नज़र टिकाये उसने पूछा—' अरे, चन्दन!"

चन्दन ने जो कुछ देखा वह आश्चर्यजनक होते हुए भी उसे साधारण से अधिक नहीं लगा—सम्भवतः उसे ऐसी ही आशा थी। उसने ध्यान से ताका ब्रिजेन्द्र के चेहरे पर जिसकी आंखों में रोष ही रोष, घृणा ही घृणा दिखाई दी उसे। यहां तक कि उसे बैठने को भी नहीं कहा गया। और इतना सब देखकर भी चन्दन निर्विकार बना रहा, जो उसके स्वभाव के नितांत प्रतिकूल था।

इसे चन्दन की ढिठाई समझा जाए या मनोविकारों पर नियंत्रण, कि स्वाभाविक रूप में वह आगे बढ़ा और कुर्सी पर बैठ गया। ब्रिजेन्द्र को यदि बुरा लगता है तो लगा करे—चन्दन की बला से। उसका ध्यान ब्रिजेन्द्र के सम्बोधन की ओर भी नहीं गया, जो 'सरदार चन्दनसिंह' के बजाय 'अरे चन्दन !' के रूप में उसने सुना।

पांच एक मिनट तक कोई कुछ नहीं बोला—केवल इधर-उधर से आंखों की पुतलियां ही गतिमान होकर न जाने क्या कुछ कहती-सुनती रहीं।

अन्त में चन्दन ने ही इस मौन को तोड़ा—"मेरा सन्देश तो मिल ही गया होगा ?"

इस प्रश्न ने बिजेन्द्र की भावभंगी अथवा उपरामता अथवा क्रोध को थोड़ा और बढ़ावा दिया। कदाचित् यह सोचकर कि चन्दन उसके पास जो आ धमका है तो अवश्य ही अपने परिश्रम का पारिश्रमिक पाने के लिए।

उत्तर न पाकर चन्दन ने जब फिर वही प्रश्न दोहराया तो अब के उसे उत्तर मिला ही,

"सन्देश ? हां, उस हिन्दू छोकरी ने शायद कुछ कहा था तुम्हारे बारे में।" और इतना ही कहकर ब्रिजेन्द्र ने मुंह दूसरी ओर मोड़ लिया।

'हिन्दू लड़की' का उच्चारण ब्रिजेन्द्र ने अंशतः व्यंग्य-मिश्रित लहजे में किया, मानो चन्दन को धिक्कार रहा हो कि 'क्या सन्देश भेजने के लिए उसे कोई सिख नहीं मिल पाया था ?'

"मेरा ख्याल था।" चन्दन ने मानो उसे छेड़ने की ठान ली हो—"कि तुम ज़रूर आओगे मुझे देखने को। सच कहता हूं, ब्रिजेन्द्र, तुम्हें देखने के लिए दिल बहुत ही बेकरार हो उठा था। खैर, कोई बात नहीं। काम-काजी लोगों को फ़ुरसत भी कहां मिल पाती है ! पापा जी के बारे में जानकर मुझे कितना दुःख हुआ ? जीतना-हारना किस्मत की बात है, पर अपनी ओर से हम सबों ने कुछ भी उठा नहीं रखा था। और हां, सुना है कि पापा जी को फिर हार्ट-ट्रबल हो गई। अब कैसे हैं ?"

अब के जो चन्दन की नज़र ब्रिजेन्द्र के चेहरे पर पड़ी तो उसे डर-सा आने लगा। जैसे ब्रिजेन्द्र उसे गर्दनियां देने पर उतारू हो, जो उसके इन वाक्यों से प्रकट हो रहा था—"तुम्हारी बला से, कोई मरे चाहे जिए। लगातार अट्ठाईस घण्टे तक बेहोश रहे। एक तरह से नया ही जन्म हुआ। मुझे तुमसे ऐसी बे-मुरव्वती की

उम्मीद नहीं थी चन्दन।"

मन ही मन चन्दन सोच रहा था—'यह खूब रही कि ऊंट न लेटे, घोरे लेटे।' धीमे स्वर में वह बोला—"पर इधर मैं भी तो मौत के ही मुंह से लौटा हूं, भाई।"

"ठीक फर्माया जनाब ने।" व्रिजेन्द्र ने मुंह चिढ़ाने जैसी मुद्रा बनाकर कहा—"तुम्हारी बीमारी वाकई खतरनाक रही होगी। चलो इतना ही क्या कम है कि बच गए, वरना इश्क के बीमार कम ही जिया करते हैं। यों इश्क करना कुछ बुरी बात नहीं है, पर इश्क के बदले में अपने धर्म-ईमान को, अपनी इन्सानियत को भी तिलांजलि दे देना, यह एक नई मिसाल कायम की हमारे सरदार बहादुर ने।"

"व्रिजेन्द्र!" चन्दन ने इतने पर भी धीरज नहीं छोड़ा—"क्या बात है भाई? बड़े नाराज हो रहे हो, खैर तो है?"

अपने पर कसे गए इस व्यंग्य से व्रिजेन्द्र लाल-भभूका होकर बोला—"भाई कहते हुए शर्म आनी चाहिए तुम्हें। देख ली तुम्हारी भाईगीरी। किसी शायर ने तुम्हारे जैसे सूर-वीरों के लिए ही शायद यह शेर कहा होगा,

"बहुत शोर सुनते थे पहलू में दिल का।
जो चीरा तो इक कतरा-ए खूं न निकला।"

चलो, इतना ही अच्छा हुआ कि दोस्त को आजमाने का मौका तो मिल गया। लकड़ी की हांडी एक ही बार तो चढ़ा करती है।"

"मतलब कौन-सी आजमायश में तुमने मुझे फेल पाया, व्रिजेन्द्र, सुनूं तो।"

"अजी क्या कहने आपके, कितने भोले हैं जनाब। अरे मैं पूछता हूं कम्बख्त, क्या यही वक्त था तुम्हारे लिए अपने दोस्त से और अपने मजहब से गद्दारी करने का? पर तुम्हारा भी इसमें क्या दोष! जिस आदमी की नीयत ही भूखी हो उसका पेट कुबेर भी नहीं भर सकता। फिर भी इतनी बात पूछना चाहता हूं कि बता तो, उस हिन्दू उम्मीदवार ने तुम्हें कितनी सोने की गठरियां बांधकर दे दीं, जिनके बदले में तुम्हें झक मारनी पड़ी। क्या बताने की कृपा करेंगे।"

"बहुत ज्यादा नहीं मिला है व्रिजेन्द्र।" चन्दन के होठों पर फीकी-सी हंसी आ गई—"यही लाठियों के पांच-सात प्रहार। जिनकी गवाही अभी तक मेरा हुलिया दे रहा है।"

"और ऊपर से एक चुलबुली छोकरी भी।" व्रिजेन्द्र और भी धधककर बोला—"सो सौदा कुछ महंगा नहीं रहा। खैर जाने दो इन फिजूल की बातों को।

भला यह तो बताइए सरदार साहिब, नहीं-नहीं, महाशय जी, कि जब से हिन्दुस्त के एजेंट बने हो तब से तो खूब गाढ़ी घुटती होगी—छत्तीस प्रकार के भोज प्राप्त होते होंगे !"

"जी हां", चन्दन उसी धीरज व व्यंग्य से बोला—"खूब मिलते हैं। केवल गर्म मसाले की कमी रह गई थी, जो आज यहां आने पर पा गया।"

थोड़ी देर तक फिर स्तब्धता छाई रही, और इसके अन्तर्गत चन्दन की मुद्रा पर हास्य के स्थान पर गाम्भीर्य छा गया। वह बोला—"माफ करना ब्रिजेन्द्र मैंने तुम्हें बहुत सयाना समझा था। तुम खुद ही तो कहा करते थे कि लिफाफा देखकर मज़मून पढ़ लेता हूं। तो क्या मैं पूछ सकता हूं कि मेरे खिलाफ ऐसी बातें किसने तुम्हारे दिमाग में ठोंस दी हैं ?"

ब्रिजेन्द्र के तेवर और अधिक चढ़ गए—"अरे बाबा, छोड़ इन हुज्जतबाज़ियों को। पूत-कपूत पलने में ही दिख जाया करते हैं। लगा घोंट-घोंटकर बातें बनाने जैसे सुनने वाला दुधमुंहा बच्चा है। आखिर पुराने चण्ट हो, कुछ नये थोड़े ही हो। गांव में भी जो-जो कारनामे करता रहा है मुझसे छुपे नहीं हैं। एक सेर दूध में तीन सेर पानी डालने के जुर्म में कितनी बार हवालात की हवा खाई ! क्या यह सब किसीसे छुपा है ?"

अब की बार चन्दन अपने को नियंत्रित रखने में सफल नहीं हो पाया—"मेरे दोस्त, कारनामे कौन नहीं करता है इस ज़माने में। छोटे लोग अगर छोटे कारनामे करते हैं तो बड़े लोग बड़े। जितनी मजबूत पीठ, उतना ही ज्यादा बोझा। छोटे लोग अगर दूध में पानी मिलाने के दोष में पकड़े जाते हैं तो बड़े लोग सोना स्मगल करने पर !"

नहले पर दहला पड़ते देखकर ब्रिजेन्द्र का क्रोध चरम सीमा पर जा पहुंचा और उसी तपे स्वर में वह बोला :

"चन्दन, अब सच्ची बातें मुंह से मत निकलवाओ। कहा है कि 'सच मिरचां कूड़ गुड़, पैसा पीर ते रन गुर। जिधर आखी उधर तुर।'"[1]

अपने साथ ब्रिजेन्द्र द्वारा इस लोकोक्ति को संयुक्त सुनकर चन्दन ने उससे

---

१. जिसे सच मिर्चों जैसा कड़वा लगता है, और झूठ गुड़ जैसा मीठा। पैसा जिसका पीर है और औरत जिसका गुरु है अतः जिस ओर को उसके यह गुरु-पीर संकेत करेंगे उसी ओर वह चलेगा।

पूछा—"इसका क्या मतलब ?"

"मतलब पूछना क्या अभी बाकी है ?" व्रिजेन्द्र नये जोश में भरकर बोला—"क्या मुझसे कुछ छुपा रह गया है ? क्या मैं इसी शहर में नहीं बसता हूं ? अरे भले मानस, तुमने तो वही बात कर दिखाई कि मां की सौत और बेटी की सहेली ! कम्बख्त ! तुम्हें इतना तो सोचना चाहिए था कि डायन भी पड़ौस को छोड़ देती है। जिस हिन्दू छोकरी को हम लोगों ने मुखबरी करने के जुर्म में ट्यूशन से हटाया, उसीके घर में तुम मेहमान बनकर जा जमे। और अगर हमारे घावों पर नमक डालने में कुछ कसर बाकी थी तो तुमने पूरी कर दी उसी छोकरी के हाथ मुझे सन्देश भेजकर। बताओ, इतना ही बताना काफी है या और भी बखिए उधेड़ूं ?"

चन्दन ने जब देखा कि व्रिजेन्द्र की जबान के साथ अब उसके हाथों में भी गति आने को है, तो उसने इतना ही कहकर इस क्रम को समाप्त कर दिया—"व्रिजेन्द्र ! इस वक्त तुम गुस्से की हालत में हो। जब कभी शान्ति के साथ'''।"

व्रिजेन्द्र ने उसे आगे नहीं बोलने दिया—"गुस्से न होऊं तो क्या तेरी बलाएं लूं, जब कि इधर हम लोगों के लिए जिन्दगी-मौत का सवाल पैदा हो चुका था, और उधर तुम हमारे दुश्मनों से जा मिले ?"

"मैं कभी भी किसी दुश्मन से नहीं मिला हूं, व्रिजेन्द्र। तुम्हें मेरी बात का यकीन करना चाहिए—तुम बहकाए गए हो। और अगर फिर भी तुम्हारे ख्याल में मैंने ऐसा कोई पाप किया है तो उसका फल मुझे वाहि गुरु देंगे।"

"अरे तुम्हें अपने पाप का फल कभी का मिल गया होता श्रीमान, अगर मैंने इस मुंह से कभी तुम्हें 'दोस्त' न कहा होता। मेरे शहर में रहते हुए मेरे ही मुह आए, किसी मां ने ऐसा पूत नहीं जना है। खैर जाने दो। हां, मैं पूछना चाहता हूं कि आज यहां तशरीफ लाने का कारण ? पर एक बात सुन लो। अगर मुझसे कुछ पाने के ख्याल से आए हो तो मेरा यही कहना है कि जनाब पहला खाया ही हजम करें।"

"माफ करना", चन्दन अपने को धीरज में लाने का यत्न करते हुए बोला—"न तो मैं तुमसे कुछ पाने के ख्याल से आया हूं और न ही पहला खाया कर सकता हूं बल्कि उसी खाए का वमन करने के लिए चला आया।"

इससे पहले कि उत्तर में व्रिजेन्द्र इस पहेली का समाधान कर चन्दन ने जेब में से फूला हुआ वह बटुआ निकाला और उसे मेज पर प

कमरे से बाहर हो गया। घर से कोई पत्र आया है या नहीं, इसके बारे में पूछना वह भूल चुका था।

वहां से सीधा कटरा जैमलसिंह पहुंचा, और अपना सामान समेटकर महंगासिंह द्वारा रिक्शा में रखवाकर चल दिया। मंहगासिंह इसके बारे में कई प्रकार के प्रश्न पूछता रहा, पर उसने संक्षेप में इतना ही कह दिया कि वह गांव जाने वाला है।

५५

चन्दन के चले जाने के बाद सुनीता वैसे ही रविशों पर टहलती रही, और कल्पना के अनदेखे-अनजाने संसार में खोई रही: कैसे इतनी जल्दी यह महान घटना घट गई—कैसे अनायास ही उसके जीवन-मण्डल के किसी कोण में से ऊषा की स्वर्णमयी किरणें उदय होकर उसके अन्तर के कण-कण को जगमगाने लगीं—किस शुभ मुहूर्त में उसने एक चित्र कल्पा था, जो आज साकार-सजीव बनकर उसके हृदय के सिंहासन पर आ विराजा है। क्या यह उसके बापू जी के उस वरदान का ही फल है जो वे यदा-कदा उसे प्रदान किया करते थे—'नीती, भगवान करे तुझे वही प्राप्त हो जिसकी तुझे प्रतीक्षा है—जो तेरे योग्य है।'

इसी प्रकार के उद्‌गारों में खोई हुई वह कभी सुस्त और कभी तेज़ कदमों से रविशों पर घूमे जा रही थी। पुजारी जी की ओर से इस समय वह तनिक निश्चिन्त थी—वे सो रहे थे। फूलों, पत्तियों, डालियों सबको वह कुछ इस ढंग से—मादक-सी नज़रों से ताके जा रही थी, जैसे इनमें कहीं से कोई नया-अनूठा रंग आ बसा हो।

सहसा वह चौंक-सी उठी, जैसे उसने कोई भारी भूल कर डाली हो, जैसे सोते हुए, मीठे स्वप्न लेते हुए उसने किसी भयप्रद दृश्य को देखा हो—'अरे! इतनी देर कर दी मैंने घूमते-घूमते, और उधर बापू जी···।' और वह हरिणी की तरह भागती हुई भीतर जा पहुंची।

जाकर उसने देखा, पुजारी जी मुंह बाए पड़े हैं, दोनों हाथ छाती पर और आंखें बन्द। इस रंग-ढंग को देखकर, उसे समझने में देर नहीं लगी कि नींद की बजाय बुखार की उष्णता ने इन आंखों को बन्द कर रखा है। न जाने क्या सोचकर आज सवेरे से पुजारी जी ने दवा पीने से इन्कार कर दिया था—सुनीता के बार-

बार कहने पर भी नहीं माने।

बड़ी कोमलता से वह पाटी पर बैठी। फिर भी पुजारी जी की आंखें खुल ही गईं। वस्तुतः वह बुखार ही की खुमारी थी—नींद नहीं।

"बापू जी," सुनीता क्षमा-याचना जैसे ढंग से बोली—"मुझे देर लग गई।"

"नीती!" उसकी बात को अनसुनी करके वे क्षीण स्वर में बोले—"पानी पिला मुझे।"

सुनीता को समझने में देर नहीं लगी कि बुखार बढ़ने लगा है। उन्हें प्यास लगना इसीका सूचक था। उसने पानी पिलाया, टॅम्परेचर लिया। उसकी आशंका निर्मूल नहीं थी—बुखार बढ़ चला था। उसे घबराहट होने लगी। घर में इस समय दूसरा कोई नहीं था।

"नीती···!"

"बापू जी।"

"चन्दन कहां है?"

"वे रेसकोर्स रोड गए हैं, बापू जी।"

"नीती!"

"कहिए बापू जी।"

और उत्तर देने की बजाय उन्होंने सुनीता के चेहरे पर आंखें टिका दीं।

"थोड़ा दूध लेंगे?"

"ऊंहूं!"

इसी समय किसीकी पुकार सुनकर सुनीता बाहर की ओर सरकी। और दो ही तीन मिनट के बाद जब लौटी तो उसके साथ दो [illegible] थे। पुजारी जी ने उन दोनों की ओर ध्यान किया, उनके बारे में पूछताछ करते, सुनीता बोल उठी—"पिता जी, ये चन्दन जी के माता-पिता हैं।"

दोनों आगन्तुक आगे बढ़ आए, और बारी-बारी से दोनों [illegible] और नाहरसिंह—ने पुजारी जी की वन्दना की।

"हे प्रभो!" पुजारी जी प्रार्थना की मुद्रा में बोल रहे थे—"[illegible] तुमने मेरी अन्तिम अभिलाषा पूरी कर दी।"

बारी-बारी से आगन्तुकों की कुशल-क्षेम पूछी गई, और फिर पुजारी सुनीता से बोले—"बेटा, इनके आराम का अच्छी तरह से [illegible]।"

सुनीता चन्दन के कमरे में जा पहुंची। वहीं पर उसने दो और खाटें डालकर बिस्तर बिछा दिए। इधर पुजारी जी और आगन्तुकों में प्रश्नोत्तर का आदान-प्रदान चलने लगा।

थोड़ी ही देर में चाय बनकर आ गई। सुनीता की इस फुर्ती को देखकर गुरो और नाहरसिंह चकित-से हो उठे, मानो बिजली की मशीन द्वारा यह काम हुआ हो।

चाय के साथ-साथ बातों का क्रम भी चलने लगा। नाहरसिंह ने बताया कि जैसे ही आज दोपहर को उन्हें सूचना मिली कि चन्दन को किसीने घायल कर दिया है कि वे उन्हीं पांवों पर भागते हुए मोटर स्टैण्ड की ओर चल दिए। पुजारी जी के घर का पता चाहे उन्हें मालूम था, पर पत्रोत्तर उन्होंने रेसकोर्स रोड के पते पर दिया था। इत्यादि।

बातें यहीं तक हो पाई थीं कि बाहर से चन्दन भी आ पहुंचा, जिसे देखते ही गुरो मानो उसके ऊपर जा गिरी, और उसे बार-बार चूमते हुए न जाने क्या क्या प्रलाप करती चली गई। इसके बाद नाहरसिंह की बारी थी।

सुनीता किंकर्तव्यविमूढ़-सी, खड़ी-खड़ी यह सब देख रही थी, और साथ-साथ सोच रही थी—'क्या चन्दन ने यह बात सच कही थी कि ये उसके पालनेवाले माता-पिता हैं? क्या बेगाने मां-बाप, किसी बेगानी सन्तान से इतना प्रगाढ़ स्नेह कर सकते हैं?'

फिर चन्दन ने अपनी आपबीती सच-सच कह सुनाई, जिसे अभी तक उसने उन दोनों से छिपा रखा था। वार्ता का पूर्वार्ध इस दम्पति के लिए जितना कष्टकारी सिद्ध हुआ, उत्तरार्ध उतना ही उत्साहवर्धक और उल्लासजनक।

फिर जब सोने का समय हुआ तो हलका-सा विवाद चलने लगा। चन्दन का बार-बार कहना था, वह आज पुजारी जी के कमरे में रात व्यतीत करेगा। उनकी हालत आज उसे अच्छी नहीं दिख रही थी। पर सुनीता और पुजारी जी ने उसकी एक नहीं सुनी। दोनों का कहना था कि वे बेचारे जिस पुत्र की प्रतीक्षा में मरणासन्न-से हो उठे हैं, उनके साथ ही उसे रहना होगा। अन्त में चन्दन को हार माननी पड़ी।

५६

बहुत दिनों से मानो युगों से बिछुड़े हुए जो तीनों व्यक्ति आज मिले तो क्या उनकी यह रात सोने के लिए थी? फिर जब चन्दन द्वारा दम्पति ने एक नई सूचना सुनी—सुनीता और चन्दन के भावी संयोग की—तो वे खुशी के मारे मानो एक से चार हो गए। पुजारी जी और उनकी उस मुहबोली बेटी ने किस प्रकार चन्दन की प्राण-रक्षा की, और यह जानते हुए भी कि चन्दन उनके साथ प्राणलेवा शत्रु जैसा वर्ताव कर चुका है, इस करुण कथा को सुनकर तो वे अपने उद्गारों पर काबू ही नहीं रख पाए, और तत्क्षण वे जाकर पुजारी के चरणों पर लोट गए। बड़ी कठिनाई से पुजारी जी ने फिर से उन्हे सोने को भेजा।

जैसे ही गुरो ने सुनीता जैसी सुन्दरी सलोनी को अपनी बहू के रूप में पाया तो सौ जान से सदके हो उठी उसपर। जितनी बार भी सुनीता पर उसकी नजर पड़ती, उसे हृदय मे भर लेने को उसका मन हो आता। पर समय ही कुछ ऐसा था कि सुनीता अपनी सास द्वारा अपने पर की जा रही इस स्नेह-बौछार का पूरा आनन्द नही ले पा रही थी। अपने पिता की हालत आज उसे चिन्ताजनक दिखाई दे रही थी, इसीसे।

और अंत मे चन्दन ने अपने मित्र-परिवार त्रिजेन्द्र इत्यादि की 'दास्तान' का वर्णन भी किया, जिसे सुनकर इन दोनों को अवश्य ही दुःख हुआ, पर प्राप्त हुए सुख की तुलना में इसकी मात्रा उन्हें तुच्छ-सी जान पड़ी।

चन्दन चाहे अब पूर्णतया स्वस्थ था, फिर भी गुरो को जैसे इसका विश्वास नही हुआ। वह बार-बार उसके शरीर पर बने हुए घावों के चिह्न देखती और देख-देखकर न जाने उसके मन की क्या हालत हुए जाती। विशेषतया पाँव का घाव—जिसकी पट्टी अभी तक नहीं खुल पाई थी—उसके हृदय में जैसे काँटे गड़ाए जा रहा था।

चाहे पुजारी जी और साथ ही सुनीता भी इन लोगों को बार-बार सो जाने को कहते रहे पर कौन सो पाता उस स्थिति में, जब कि पुजारी जी की हालत किसीको भी सन्तोषजनक नहीं दिख रही थी। बार-बार वे दोनों उठकर उनके कमरे में जा पहुचते और वहां चारपाई के दाईं ओर चन्दन को और बाईं ओर सुनीता को बैठा पाते।

दीवार पर लगे क्लाक ने दो बजने का घंटा बजाया। सुनीता और चन्दन पूर्ववत् ही पुजारी जी को घेरे बैठे थे। उनके चेहरे पर चिन्ता प्रत्यक्ष थी। पुजारी जी की आंखें इस समय बन्द थीं, पर पपोटों के नीचे छिपी हुई उनकी पुतलियां थोड़ी-थोड़ी देर में गति-सी करती दिखाई दे रही थीं, जिससे स्पष्ट था कि वे सो नहीं रहे हैं।

"नीती ! चन्दन !" सहसा उन्होंने एकसाथ दोनों को पुकारा।

"बापू जी ! पिता जी !" उत्तर में दोनों इकट्ठे पुकार उठे।

फिर उनकी नज़र चन्दन की ओर घूम गई—"चन्दन !"

"जी, पिता जी !"

"तुमने सब बता दिया न उन्हें ?"

"बता दिया, पिता जी।"

"तो···उन्हें···उन्हें पसन्द है ?"

उत्तर में चन्दन को कुछ कहने की जरूरत नहीं पड़ी जबकि स्वयं उत्तर देने वाले ही वहां आ पहुंचे। सम्भवतः गुरो और नाहरसिंह यह सब सुनकर अथवा सुनने से पहले ही वहां उपस्थित थे।

जैसे ही पुजारी जी ने उन दोनों को सामने खड़े पाया कि उन्हें सामने वाली सुनीता की खाट पर बैठने का संकेत किया। और उनके बैठ जाने पर उन्होंने गुरो को सम्बोधित किया—"अच्छा हुआ जो आ गए। तो बहन, तुम्हें ही मेरे सवाल का जवाब देना होगा।"

गुरो आगे बढ़ी और उनके पैरों में झुककर गद्गद कंठ से बोली—"साडे करम जागे भाईया जी, जो इक तां तुसां सानूं साडा पुत्तर मुड़के दित्ता, दूजा इक करमां वाली नूंह वी। असीं सत्तां जन्मां विच वी तुहाडियां देणीयां नहीं दे सकदे।"[1] और गुरो का गला रुंध गया। फिर नाहरसिंह ने जितना कुछ कहा वह गुरो से भी कहीं बढ़-चढ़कर, जिसे सुनकर पुजारी जी ने पूर्ण सन्तोष की एक लम्बी सांस लेते हुए उचारा—"हे प्रभो ! तुझे धन्यवाद है।" और फिर गुरो से कहने लगे—"यह सब भगवान की इच्छा से हुआ बहन, जिसने मेरी पुकार सुनी। यदि

१. हमारे भाग्य जाग उठे, जो एक तो आपने हमें हमारे पुत्र को नया जीवन दिया, तिस पर एक गृहलक्ष्मी बहू भी प्रदान की। हम आपके इस अनुग्रह का बदला सात जन्म पाकर भी नहीं चुका सकेंगे।

में बेटी को निराश्रित छोड़कर चला जाता तो मेरी आत्मा कहां चैन पाती! अब मैं शान्ति से अपनी जीवन-यात्रा समाप्त कर सकूंगा।"

सुनीता आखें फैलाए—डबडबाई आखों से यह सब देख-सुन रही थी। जैसे ही पुजारी जी ने अन्तिम वाक्य 'जीवन-यात्रा समाप्त···' कहा, उसकी आंखों से आंसू हठात् वह निकले। आज उसके इन आंसुओं में जहां पितृ-स्नेह का गहरा रंग था वहां कुछ और भी था। ऐसा ही कुछ, जो पक्षियों को उड़ान भरने की, बादलों को बरसने की और खेतों को पनपने की शक्ति प्रदान करता है।

"नीती!" उसके हाथ पर अपना हाथ रखते हुए वे बोले—"पगली बेटी, क्या यह आंसू बहाने का समय है? छोड़ इस मूर्खता को, और सुन मेरी बातें—मेरे पास समय कम है।"

सुनीता ने आंखें पोंछ डालीं—चैतन्य होकर बैठ गई—पुजारी जी के हाथ को अपने दोनों हाथों में छिपाए।

"और बहन!" एक बार फिर उन्होंने गुरो को सम्बोधित किया—"मेरी रानी बेटी को हृदय से लगाकर रखना—बड़ी मूल्यवान चीज़ है यह।"

"सब सुन चुकी बापू जी!" गुरो बोली—"वाहिगुरु आपकी उम्र लम्बी करें। आपकी छत्रछाया हम लोगों के सिर पर बनी रहे। हम किसके पनिहार हैं, जो इतनी बड़ी आपकी देन को पाने लायक होते! यह तो आपकी किरपा न जाने पूर्व जन्म के कर्मों के बल से हम पर बरस पड़ी।"

"नीती!" उन्होंने फिर उसे टोका—"मैं कहता हूं, छोड़ इस पागलपन को। मेरे पास ज्यादा वक्त नहीं है।"

सुनीता ने फिर आंखें पोंछ लीं।

"बेटा, चन्दन!" उन्होंने पुकारा—"सुन रहे हो न? अपने कर्तव्य का पालन करना—भूलना मत।"

"बापू जी···ई···ई।" सुनीता फफक उठी—"मत ऐसी बातें कहो।"

बुझने से पहले जैसे दीये की ज्योति अंशतः प्रकाशमान हो उठती है, उसी तरह की मुद्रा में उन्होंने सुनीता से कहा—"उठ बेटा, वह निकाल ला आलमारी में से डिब्बा।"

सुनीता उठी और कदमों को मानो घिसटते हुए उसने आज्ञा का पालन किया।

डिब्बा उन्होंने खोला। इसमें एक तो रजिस्टरी थी, जो इस ज़मीन के बारे में

कभी लाला गुरुसहाय ने इनके नाम कारवाई थी, इसके अतिरिक्त एक वसीयत-नामा, जो न जाने कब पुजारी जी ने सुनीता के नाम पर लिख छोड़ा था—अपनी उत्तराधिकारिणी के रूप में। ये दोनों कागज उन्होंने नाहरसिंह को थमाते हुए कहा—"बेटी के दहेज में मैं कुछ भी देने योग्य नहीं हूं, भाई।"

नाहरसिंह कागजों को सुनीता के आगे रखते हुए न जाने कितना ही कुछ कहते चला गया, जिसे बीच में ही रोककर पुजारी जी चन्दन से कहने लगे :

"बेटा, मेरे गुरुदेव की बड़ी इच्छा थी कि गन्धर्व विद्या के बारे में रचे हुए अपने कुछ ग्रन्थ वे छापकर जनता तक पहुंचाएं, पर इसे वे पूरा नहीं कर पाए, जिससे यह काम उन्होंने मुझे संभाला। पर मैं भी इसके करने में असमर्थ रहा। सो अब इस काम को तुम्हें और नीती को मिलकर ही सम्पन्न करना होगा। सब ग्रन्थों की पाण्डुलिपियां बेटी ने संभाल रखी हैं। जिन्हें···।" और बोलते-बोलते उनका स्वर एकदम रुक-सा गया—सांस तेज चलने लगी, आंखें मुंदने लगीं।

सुनीता सिसक रही थी।

चन्दन सकते में आ रहा था।

गुरो और नाहरसिंह फटी-फटी आंखों से पुजारी जी की गति-विधि को निहार रहे थे।

क्या पुजारी जी को नींद आ रही है? ऐसा ही भान हो रहा था सभी को। और वास्तव में उन्हें नींद ही आ रही थी। पर ऐसी नींद, जो एक बार आने पर फिर कभी नहीं छूटती।

वैसे ही आंखें बन्द किए पुजारी जी के होंठों में फुसफुसाहट-सी पैदा हुई। फिर फुसफुसाहट ने शब्दों का रूप धारण किया—कुछ साबुत और कुछ टूटे-फूटे शब्दों में—

"ओम्···तत्सत्···

ओम्···त···त्सत्

ओम्···त ··स···"

अंधेरी रात की कोख से प्रभात का उजाला जन्म ले रहा था। बाहर किसी वृक्ष पर से किसी पक्षी की 'चुह···चुह' सुनाई दे रही थी। शायद पक्षी अपने नीड़ को छोड़ रहा था।

○ ○ ○